स्वामी विवेकानंद एवं डा० एनीबेसेन्ट के शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद में शिक्षा-शास्त्र के अन्तर्गत
डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

निर्देशक
प्रो० राम शकल पाण्डेय
भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, शिक्षाशास्त्र
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्त्री
प्रभा कक्कड़

इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
१९९७

पुरोवाक

वर्तमान युग सस्थाओ और साघिक प्रयास का युग है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी जानता है कि जीवन मे कुछ हासिल करना है तो सगठन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए आज हर क्षेत्र व व्यवसाय मे कर्मचारियों व अधिकारियों के अनेक सगठन बने हुए है। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन जैसे संगठन आज के युग का यथार्थ है। प्राचीन ऋषि मुनियो को इस सत्य का साक्षात्कार बहुत पहले ही हुआ था। इसीलिए उन्होने सूत्र रूप मे कहा था- 'संघे शक्ति कलौ युगे' अर्थात् कलयुग मे साघिक प्रयत्न मे ही शक्ति है। इसी तथ्य को आधार मानकर युग निर्माणकारी कार्य करने के लिए स्वामी विवेकानन्द ने 'राम कृष्ण मठ व मिशन' नामक संघ की स्थापना की एवं डा0 एनी बेसेण्ट ने 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' से सबध जोड़ा।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध मे जब भारत धर्मान्धता के कुचक्र एवं अग्रेज वणिको के मायाजाल मे फसता जा रहा था तब दासता और निर्धनता की दोहरी मार से प्रताडित जनता को दिशा निर्देश देने के लिए अनेक धार्मिक, आध्यात्मिक व सामाजिक सगठनों का उदय हुआ। इनमे ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज थियोसॉफिकल सोसाइटी , राम कृष्ण सघ आदि ने अपने अपने ढग से देशवासियो की सांस्कृतिक चेतना जागृत करने का प्रयास किया। इन सभी के समेकित प्रयासो के फलस्वरूप हमने राजनैतिक स्वातंत्र्य तो प्राप्त कर लिया पर हम अभी भी भौतिकता के सम्मोहन से ग्रस्त है। अभी भी हम मूल्य बोध साम्प्रदायिकता, आतकवाद, क्षेत्रीयता, जातिवाद, सत्रासवाद आदि सकटो से घिरे हुए है। उदारीकृत औद्योगिक व वित्तीय नीति के परिणाम स्वरूप आसन्न सास्कृतिक प्रदूषण से बचने का एक ही मार्ग है- शिक्षा द्वारा सांस्कृतिक जागरण व पुनरुत्थान। शताब्दी पूर्व इसी प्रकार के संकट को दूर करने मे जिन शिक्षा विदो ने अपूर्व योगदान दिया उनमें स्वामी विवेकानन्द और डा0 एनी बेसेण्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने शैक्षिक प्रयासो द्वारा असख्य भारतीयो को अपनी संस्कृति को जानने, उसके प्रति अनुराग व श्रद्धा रखने हेतु प्रोत्साहित किया। अत: भारत को जानने के लिए स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनी बेसेण्ट को जानना नितांत आवश्यक एवं प्रासंगिक है। गुरुदेव

रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने विवेकानन्द को भारत का मूर्तिरूप बताते हुए कहा था-

'यदि आप भारत को समझना चाहते हे तो विवेकानन्द का अध्ययन कीजिए। उनमे सब कुछ सकारात्मक या भावात्मक है, नकारात्मक या अभावात्मक कुछ भी नहीं।'

डा0 एनी बेसेण्ट के भारत-प्रेम, त्याग, सेवा एवं समर्पण को देखकर अनेक नेता प्रभावित हुए थे और उनके प्रति अपना एव भारत का आभार प्रगट किया था। पडित जवाहर लाल नेहरू के शब्दो मे-

'डा0 बेसेण्ट अपने युग की प्रभावशाली महिला थी। जिन्होने हमे गर्व करना सिखाया और जिन्होने भारत को अपनी आत्मा को पाने मे मदद की, उनके प्रति भारत आभारी है।

आधुनिक युग अन्तर्राष्ट्रीय सह सम्बध का युग है। प्राचीन काल मे विश्वबंधुत्व की भावना की हम सिर्फ कल्पना या कामना करते थे आज वैज्ञानिक खोजों के कारण विश्व के राष्ट्र परस्पर आश्रित होकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा मे कार्यरत है। विश्व-बधुत्व व विश्वशांति आज हमारी अनिवार्यता है। 'रामकृष्ण मिशन' और 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' दोनो अन्तर्राष्ट्रीय आध्यात्मिक सस्थाये हैं जिनका ध्येय व्यक्तिगत बंधन मुक्ति तथा लोक कल्याण है। ये मानव मात्र के विश्व बधुत्व का बिना जाति, धर्म, लिंग, वर्ण, तथा रग के भदभाव के सजीव केन्द्र स्थापित करने में सलग्न हैं। इसलिए भी इन दोनों संस्थाओ से सलग्न मनीषी स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनी बेसेण्ट के शिक्षा-दर्शन का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में प्रस्तावना के अन्तर्गत अध्ययन का महत्व, सीमा व शोध प्रविधि वर्णित की गयी है। द्वितीय अध्याय में सम्बंधित साहित्य का सर्वेक्षण व समीक्षा की गयी है। व्यक्ति के जीवन दर्शन पर पारिवारिक व सामाजिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है इस दृष्टिकोण से तृतीय

अध्याय में द्वय मनीषियों के जीवनवृत्त एव कार्यो का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है। शिक्षा-दर्शन का अध्ययन करने से पूर्व दार्शनिक मत का सागोपाग अध्ययन आवश्यक होने के कारण चतुर्थ अध्याय में दोनों विचारकों के दार्शनिक विचारों का अध्ययन किया गया है। पंचम अध्याय में द्वय शिक्षाविदों के धर्म सम्बंधी मत का विवेचन किया गया है क्योंकि शिक्षा और धर्म का परस्पर प्रगाढ़ सम्बध है। षष्ठ अध्याय में दोनों शिक्षा मनीषियों के शिक्षा आदर्शो जिसमें शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, गुरू-शिष्य सम्बंध, विद्यालय तथा अनुशासन की विस्तृत रूपरेखा एवं विवेचना की गयी है। सप्तम अध्याय में निष्कर्ष एवं सुझाव दिए गये है।

संस्कृति एवं ज्ञानदीप के सवाहक गुरूजनों के प्रति मैं हृदय से आभार प्रगट करती हूँ जिनके कुशल मार्ग दर्शन, प्रेरणा एव सहयोग के बिना शोध कार्य सम्भव नहीं था। शोध अध्ययन के प्रेरणा स्रोत इलाहाबाद विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष प्रो० राम शकल पाण्डेय के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ जिन्होंने शोध कार्य में निर्देशन के अतिरिक्त व्यक्तित्व विकास हेतु व्यक्तिगत सानिध्य तथा अपने पुस्तकालय का उपयोग करने की अनुमति प्रदान कर कृतार्थ किया। डा० के०एस० मिश्र भूतपूर्व विभागाध्यक्ष शिक्षाशास्त्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के बहुआयामी सहयोग एवं सुझाव से मुझे विशेष सम्बल मिला है इसके लिए मैं सादर आभार प्रगट करती हूँ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की निवर्तमान विभागाध्यक्षा- शिक्षाशास्त्र, डा० विद्या अग्रवाल के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने अकथनीय सहयोग एव मार्गदर्शन प्रदान कर शोर्ध कार्य को अंतिम सोपान पर पहुँचाया।

शोध कार्य के लिए पुस्तकालयों की उपादेयता अकथनीय है। इस श्रृंखला में मुझे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के शिक्षाशास्त्र विभाग के पुस्तकालय, थियोसॉफिकल सोसाइटी के पुस्तकालय, रामकृष्ण मिशन के पुस्तकालय तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के पुस्तकालय से समय-समय पर विशेष सहयोग मिला है इसके लिए इनके अधिकारियों के प्रति आभार ज्ञापन मेरा परम कर्तव्य है।

रामकृष्ण - मिशन, प्रयाग के अध्यक्ष स्वामी निखिलानन्द के प्रति विशेष कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने पुस्तकालय से विशेष सन्दर्भ पुस्तके तथा मिशन

की वार्षिक पत्रिकाए प्रदान कर शोध कार्य को पुष्ट आधार देने मे सहयोग दिया तथा साथ ही व्यक्तिगत सानिध्य द्वारा शंका समाधान भी किया।

सुहृदजनो एव आत्मीयजनो के प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष सहयोग ने मेरे कार्य को गति प्रदान की उसके लिए मै उन्हे हृदय से धन्यवाद देती हूँ। सन्दर्भ ग्रथ सूची मे लिखित उन सभी - लेखको एव प्रकाशको की मै आभारी हूँ जिनके प्रयासो के फलस्वरूप शोध कार्य की सामग्री उपलब्ध हो सकी।

शोधकर्ती

दिनॉक: 30-4-97

(प्रभा कक्कड़)

अनुक्रमणिका

****

अध्याय - 1

प्रस्तावना

****

प्रस्तावना

'यह बड़ी प्राचीन भूमि है, जिसे ब्रह्मविद्या ने दूसरे देशों मे जाने के पहले ही अपना प्रिय वास स्थान बनाया था, यह वही भारतवर्ष है, जहाँ के आध्यात्मिक प्रवाह का स्थूल प्रतिरूप सागरसदृश गहन तथा विशाल, सतत बहने वाली नद है, जहाँ स्तर-स्तर मैं उठा हुआ चिरन्तन हिमालय अपने हिमशिखरों द्वारा मानों स्वर्गराज्य के रहस्यों की ओर निहार रहा है। यही वह भारत है, जिसकी भूमि बड़े-बडे ऋषि-मुनियों की चरणरज से पवित्र हुई है। सबसे पहले यही पर अन्तर्जगत् के रहस्योद्घाटन के प्रयत्न हुए थे। आत्मा का अमरत्व, अन्तर्यामी ईश्वर तथा जगत प्रपच एव मनुष्य मे ओतप्रोत रूप से विराजमान परमात्मा विषयक मतवादों का उद्भव पहले पहल यहीं हुआ था। यहीं धर्म और दर्शन के उच्चतम आदर्शो ने अपनी चरम परिणति प्राप्त की थी। यह वही भूमि है, जहाँ से धर्म और दार्शनिक तत्वों ने बाढ़ की तरह उमडकर समग्र ससार को सरावोर किया है, और अब यहीं से पुन ऐसी तरगें उठकर निस्तेज जातियों मे जीवन और शक्ति का सचार करेगी।'

शिकागो धर्म महासभा मे उद्घटित स्वामी विवेकानन्द के ये उद्गार संसार मे भारत के वैशिष्ट्य को प्रगट करते है। भारत का यह समुन्नत सांस्कृतिक जीवन एक दिन मे नहीं गढ़ा गया। जिस प्रकार निशीथ मे अदृश्य और मौन रूप से पड़ने वाली ओस बिन्दुओं के स्पर्श से लक्ष-लक्ष गुलाब की कलियाँ चुपचाप प्रस्फुटित हो जाती है, उसी प्रकार युग-युग में महापुरुषों की अथक और नीरव साधना के फल से भारत का यह आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन विकसित और श्रीमण्डित हुआ है। वैदिक और औपनिषदिक युग के आर्य ऋषि के कण्ठ से बहुत्व के बीच जो एकत्व की वाणी मुखरित हुई थी, जैन और बौद्ध संन्यासीगण जिस नैतिक धर्म को जीवन का मुक्तिमत्र घोषित कर गये हैं, रामायण और महाभारत कालीन शूरतावीरता की गाथाओं तथा गीता के समन्वयवाद ने जिस सनातन धर्म को भारत का मर्मस्थल कहकर प्रचारित किया है, पौराणिक और तांत्रिक युग की हृदयस्पर्शी कथाओं के माध्यम से वेदान्त के जिस जटिल तत्व ने सहज एवं सरस रूप से लोगो के समक्ष भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट होकर उन्हें अनुप्राणित किया था, उसी ने भारत के सांस्कृतिक जीवन को अतुल संपत्ति से विभूषित

करके, आज भी सैकडों विप्लवों और विपर्ययो के बीच उसे ससार के आश्चर्य और श्रद्धा की वस्तु बनाये रखा है। भारतीय संस्कृति के एक मात्र संरक्षण मे युग-युगान्तर से संचित ये अमूल्य आध्यात्मिक भाव ही उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे 'रामकृष्ण मठ व मिशन', 'आर्य समाज' व 'थियोसोफिकल सोसायटी' के रूप मे मूर्त हो उठे थे।

सतत् परिवर्तनशील भाग्यचक्र के फेर से अठारहवीं शताब्दी के अतिम भाग मे भारत के राष्ट्रगगन मे कहीं से एक विपत्तिमेघ सहसा आकर छा गया। पाश्चात्य सभ्यता के अग्रदूत अग्रेज वणिक, वाणिज्य के बहाने भारत में प्रविष्ट हुए और अन्तर्द्वन्द्व से जर्जरित हिन्दू व मुसलमान राजाओं को छल-बल कौशल से पराजित कर अपना एक छत्र आधिपत्य फैलाने लगे। बुद्धिमान अग्रेजों ने यह समझ लिया था कि भारत के समान एक अति प्राचीन और विराट् जाति को केवल बाहुबल से सदा के लिए वश मे बनाये रखना सम्भव नहीं है, उस पर स्थायी प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उसके अंतजर्गत में आमूल सांस्कृतिक परिवर्तन करना होगा। इसीलिए पाश्चात्य का यथार्थ विजय अभियान एक नए मार्ग से शुरू हुआ। एक ओर अग्रेजी भाषा के माध्यम से पाश्चात्य शिक्षा प्रवर्तित हुई, और दूसरी ओर ईसाई पादरियों ने समाजसेवक के वेश मे ईसाई धर्म का अबाध रूप से प्रचार करना आरम्भ किया। वैज्ञानिक सभ्यता और शिक्षा से मोहित होकर बहुत से भारतीय आचार ,व्यवहार, खानपान, वेषभूषा, रीतिनीति और चालचलन में पश्चिमी भावों में रंग गये। साथ ही उन्होंने यह भी सोचना सीखा कि जिस भारतीय धर्म व शास्त्र को वे अमूल्य रत्नपिटारी की तरह चिपकाकर रक्खे थे वह परस्पर विरोधी मतवादों और अंधविश्वासों से भरा हुआ है। यदि ऐसा न होता, तो इतना बड़ा यह देश एक क्षुद्र विदेशी शक्ति के हाथों इतने सहज रूप से पराजय क्यों स्वीकार कर लेता ? इस भ्रांतिकारक प्रबल विचारधारा ने भारत के समाजमहल की नींव डॉवाडोल कर दी और उसके धर्म एवं संस्कृति के अस्तित्व को भी संकटग्रस्त कर डाला। पर पाश्चात्य जड़ सभ्यता कितनी भी प्रभावशाली क्यों न हो, भारतवासी के भीतरी जगत् पर विजय प्राप्त करना उसके लिए सहज न था। जिस प्रकार प्रबल शत्रु के पंजे मे फँसकर मरता हुआ दुर्बल व्यक्ति भी अपनी रक्षा के लिए गरज उठता है, उसी प्रकार जब भारत प्रतिभा

के मर्म स्थान पर चोट लगी, तब यह सोचकर कि इस शक्तिशाली विदेशी सभ्यता को अपनाने का परिणाम भविष्य मे कैसा विषाक्त होगा, उसने जीवन और मरण की इस मौन संधिबेला मे उसके विरुद्ध प्रबल विद्रोह का स्वर मुखरित कर दिया। विदेशी राजसत्ता के निपीड़न और निर्दलन ने, उसकी शोषण और तोषण नीति ने मोहग्रस्त मृतप्राय जाति की आत्मरक्षण शक्ति को सहसा जगा दिया और भारत के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक एक तीव्र प्रतिक्रिया की लहर तरंगित हो उठी। फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के आदि से अंत तक भारत के विभिन्न प्रदेशों में तीन प्रबल धार्मिक आंदोलनों का सूत्रपात हुआ। 1828 ई0 मे तत्कालीन प्रसिद्ध भारतीय नेता व समाज सुधारक राजा राम मोहन राय ने कलकत्ता महानगरी में 'आत्मीय समाज' की स्थापना की तथा 1875 ई0 में स्वामी दयानद सरस्वती ने बम्बई शहर में 'आर्य समाज' की और उसी वर्ष मैडम एच0पी0 ब्लैव्हाट्स्की एव कर्नल ओलकाट के प्रयत्न से पहले अमरीका के न्यूयार्क शहर में और तदनन्तर भारतवर्ष की मद्रास नगरी में 'थियोसॉफिकल सोसायटी' की प्रतिष्ठा हुई। इन तीनों आदोलनों में से प्रत्येक ने हिन्दू धर्म की मौलिक भावधारा का विशेष विशेष अश ग्रहण किया और उसे अपनी अपनी पद्धति के अनुसार मूर्तरूप देकर भारतवासियों को विदेशीय प्रभाव से मुक्त करने की चेष्टा की। इन तीनों धर्मान्दोलनों ने मुख्य रूप से समाज और धर्म के सस्कार को अपने साम्प्रदायिक प्रयासो के अन्यतम मूल उद्देश्य के रूप में ग्रहण किया तथा भगवद् प्रेरणा की जगह विचारयुक्त और बुद्धि से उत्पन्न साधनाओं को प्रधानता दी।

धर्म के सम्बंध में ब्रह्मसमाजी एकेश्वरवादी, मूर्तिपूजा विरोधी, गुरुवाद में अविश्वास करने वाले तथा अवतारवाद के वैरी थे। समाज में नारी शिक्षा के प्रसार, नारियों की स्वतंत्रता तथा जातिभेद प्रथा को समाप्त करने की ओर उनका विशेष झुकाव था। वे बाल-विवाह प्रथा को समाप्त करना चाहते थे। सतीदाह प्रथा को समाप्त करने और समुद्र यात्रा को आरम्भ करने में निश्चय ही उनका अधिक योगदान था। ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्म परिवर्तन कराने के प्रयास में ब्राह्मों के प्रभाव से थोड़ी बाधा अवश्य आई परन्तु ब्रह्म समाज का उद्देश्य आशानुरूप सफल न हो सका। ब्राह्मों का प्रभाव बंगाल

के मर्म स्थान पर चोट लगी, तब यह सोचकर कि इस शक्तिशाली विदेशी सभ्यता को अपनाने का परिणाम भविष्य मे कैसा विषाक्त होगा, उसने जीवन और मरण की इस मौन संधिबेला मे उसके विरूद्ध प्रबल विद्रोह का स्वर मुखरित कर दिया। विदेशी राजसत्ता के निपीड़न और निर्दलन ने, उसकी शोषण और तोषण नीति ने मोहग्रस्त मृतप्राय जाति की आत्मरक्षण शक्ति को सहसा जगा दिया और भारत के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक एक तीव्र प्रतिक्रिया की लहर तरंगित हो उठी। फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के आदि से अंत तक भारत के विभिन्न प्रदेशों मे तीन प्रबल धार्मिक आंदोलनों का सूत्रपात हुआ। 1828 ई0 में तत्कालीन प्रसिद्ध भारतीय नेता व समाज सुधारक राजा राम मोहन राय ने कलकत्ता महानगरी मे 'आत्मीय समाज' की स्थापना की तथा 1875 ई0 में स्वामी दयानंद सरस्वती ने बम्बई शहर में 'आर्य समाज' की और उसी वर्ष मैडम एच0पी0 ब्लैव्हाट्स्की एवं कर्नल ओलकाट के प्रयत्न से पहले अमरीका के न्यूयार्क शहर में और तदनन्तर भारतवर्ष की मद्रास नगरी मे 'थियोसोफिकल सोसायटी' की प्रतिष्ठा हुई। इन तीनों आदोलनों में से प्रत्येक ने हिन्दू धर्म की मौलिक भावधारा का विशेष विशेष अश ग्रहण किया और उसे अपनी अपनी पद्धति के अनुसार मूर्तरूप देकर भारतवासियों को विदेशीय प्रभाव से मुक्त करने की चेष्टा की। इन तीनों धर्मान्दोलनों ने मुख्य रूप से समाज और धर्म के सस्कार को अपने साम्प्रदायिक प्रयासों के अन्यतम मूल उद्देश्य के रूप में ग्रहण किया तथा भगवद् प्रेरणा की जगह विचारयुक्त और बुद्धि से उत्पन्न साधनाओं को प्रधानता दी।

धर्म के सम्बंध में ब्रह्मसमाजी एकेश्वरवादी, मूर्तिपूजा विरोधी, गुरुवाद में अविश्वास करने वाले तथा अवतारवाद के वैरी थे। समाज में नारी शिक्षा के प्रसार, नारियों की स्वतंत्रता तथा जातिभेद प्रथा को समाप्त करने की ओर उनका विशेष झुकाव था। वे बाल-विवाह प्रथा को समाप्त करना चाहते थे। सतीदाह प्रथा को समाप्त करने और समुद्र यात्रा को आरम्भ करने में निश्चय ही उनका अधिक योगदान था। ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्म परिवर्तन कराने के प्रयास में ब्राह्मों के प्रभाव से थोड़ी बाधा अवश्य आई परन्तु ब्रह्म समाज का उद्देश्य आशानुरूप सफल न हो सका। ब्राह्मों का प्रभाव बंगाल

के उच्च शिक्षा प्राप्त लोगो तक ही सीमित रह गया। तथा इसने पूर्णरूप से भारतीय सस्कृति का अनुशीलन नहीं किया।

इसी समय स्थापित 'आर्य समाज' मे किसी किसी विषय में ब्रह्मसमाज से समानता दिखाई पड़ी। जैसे आर्य समाज और ब्रह्मसमाज दोनों ही रूढ़िवादिता और कुसंस्कार के विरोधी, मूर्तिपूजा के विरोधी , एकेश्वरवादी, जाति-भेद प्रथा को समाप्त करने के समर्थक थे। ब्रह्मसमाज ने उपनिषद् के ब्रह्मतत्व का अवलम्बन किया था। जबकि दयानन्द ने उपनिषद की प्रमाणिकता को अस्वीकार कर वेद की संहिता का अवलम्बन कर प्राचीन यज्ञ आदि गौण विधियों के विन्यास में अपने को अर्पित कर दिया। ब्रह्म समाज की भाँति आर्य समाज भी बहुतांश मे सनातन धर्म विरोधी था। आर्य समाज का प्रभाव भारत के उत्तर पश्चिम के कुछ हिस्सों मे ही तेजी से फैल गया जिससे उस भाग में ईसाई मिशनरियों के. कार्य कलाप विशेष रूप से बाधित हुए। किन्तु विराट हिन्दू समाज इस विचारधारा से भी पूरी तरह जागरित नहीं हो सका। ब्राह्मों ' द्वारा असवर्ण विवाह तथा सिविल मैरेज स्वीकार कर लेने एव आर्य समाजियों द्वारा जाति भेद को समाप्त करने के कारण समाज के सदस्यों के मन में सन्देह होने लगा कि ये दोनों नवनिर्मित समाज हिन्दू हैं या नहीं। अतएव ये दोनों समाज तत्कालीन हिन्दुओं के पुनरुत्थान की समस्या सुलझाने में आशा के अनुरूप सफल न हो सके।

ऐसे संकटक्षण में भारत के रंगमंच पर एक ऐसे आन्दोलन की आवश्यकता थी जो सनातनपंथी की रक्षणशीलता और सुधारवादी की प्रगतिशीलता के बीच समन्वय और सामंजस्य स्थापित कर सके और इस प्रकार भारतीय धर्म एवं संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने में समर्थ हो। इस संधि बेला में युग प्रयोजन की पूर्ति के लिए स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनी बेसेण्ट का आविर्भाव भारत एवं मानवेतिहास में एक अविस्मरणीय घटना है। इन दोनों मनीषियों ने अपनी गहरी आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा आत्मविस्मृत भारतवासियों को यह दिखा दिया कि भारत का धर्म और संस्कृति कोई मनगढंत अथवा परस्पर विरोधी,

अन्धविश्वास से भरी कल्पना नहीं है, वरन् उसमे अनन्त शक्ति और सम्भावना निहित है जो कि भारत के पुनरुत्थान एव मुक्ति का कारण होंगी तथा विश्ववासियों को यथार्थ शांति का मार्ग प्रदर्शित करेगी।

दोनों मनीषियों का भारत की सस्कृति व धर्म के पुनरुत्थान का कार्य एक ही मच शिकागो धर्म महासभा से प्रारम्भ हुआ। लेकिन दोनों का कार्यक्षेत्र विपरीत दिशा से था। स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय धर्म व सस्कृति के वैशिष्ट्य का डका पाश्चात्य देशों मे जाकर बजाया जबकि श्रीमती एनी बेनेण्ट ने भारत मे आकर इसे अपनी मातृभूमि मानकर इसके पुनरुद्धार व पुनर्जागरण का कार्य किया। अंग्रेजों द्वारा भारतीय शास्त्रों, पुराणों व धर्म का जो उपहास किया जा रहा था उसका निराकरण स्वामी विवेकानन्द ने उनके ही देश में जाकर अपनी कुशल वक्तृता द्वारा किया। इग्लैंड के ही कितने लोग उनके अनन्य भक्त बन गए । जिनमें से भगिनी निवेदिना, कुमारी मूलर, सेवियर सम्पत्ति, श्री जे0जे0 गुडविन, श्री ई0टी0 स्टर्डी, श्रीमती एवं श्री लेगेट प्रमुख थे। भगिनी निवेदिता तो जीवन पर्यन्त स्वामी जी की शिष्या रहीं। उन्होंने भारत मे आकर स्वामी जी के विचारानुसार यहाँ की शैक्षिक व सामाजिक स्थिति को उन्नत बनाने में अपूर्व सहयोग दिया। भगिनी निवेदिता ने कलकत्ते में कन्याओं की शिक्षा के लिए स्कूल खोला जिसमें भारतीय आदर्श व परम्परानुसार शिक्षा प्रदान की जाती थी। स्वामी जी ने अपने शिष्यों से कहा कि वे अपनी दु.ख-सुख की चिन्ता न करके जन साधारण तथा दलितों के कल्याण व उत्थान मे जुट जायें तभी भारत की उन्नति सम्भव है।

भारत के पूर्वी भाग पर ब्रह्म समाज के एवं पश्चिमी भाग पर आर्य समाज के प्रभाव के कारण भारतीय अपनी संस्कृति के प्रति आकृष्ट हुए जिससे कुछ जागरूकता अवश्य आई। अत: डा0 बेसेण्ट ने अपना आन्दोलन भारत के दक्षिणी भाग मद्रास में थियोसोफिकल सोसायटी का अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र स्थापित कर उत्तर प्रदेश के बनारस नगर से प्रारम्भ किया। अब भारत का उत्तरी व पूर्वी भाग इस धर्मान्दोलन से वंचित था । जिसकी पूर्ति स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरू श्री रामकृष्ण परमहंस के नाम पर उनके तप साधित

स्थान दक्षिणेश्वर मे 'रामकृष्ण मठ व रामकृष्ण मिशन' नामक सस्था स्थापित करके की। कलकत्ता को इस सघ का प्रमुख केन्द्र बनाया । इसके अतिरिक्त भारत के अन्य प्रदेशों मे भी इसके केन्द्र खोले और विस्मृत भारतीयों को उनके तेजोमय व गौरवमय अतीत की याद दिलाते हुए उन्हे तदनुरूप बनने के लिए प्रोत्साहित किया।

भारतीय धर्म व सस्कृति का विस्मरण जितना एक शताब्दी पूर्व था आज उससे भी ज्यादा दृष्टिगत है। शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षा का माध्यम, प्रशासन, गुरू-शिष्य संबंध व अनुशासन मे हम अब भी विदेशी संस्कृति के पोषक बने हुए है। अत आज भी शिक्षा जगत मे भारतीय सस्कृति के संवाहक स्वामी विवेकानन्द एवं श्रीमती एनी बेसेण्ट के शैक्षिक योगदान को स्मरण कर व्यवहृत करना समीचीन होगा। स्व संस्कृति का पोषण व संवहन तो सभी करते है परन्तु किसी विदेशी द्वारा अन्य देश की संस्कृति का संरक्षण व अनुकरण करना निश्चय ही उस संस्कृति की श्रेष्ठता का प्रतीक है।

भारतीय संस्कृति की इस उत्कृष्टता एवं वैशिष्टयता को अक्षुण बनाये रखना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। चूँकि शिक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्य संस्कृति का हस्तान्तरण, संवर्धन एवं सरक्षण है अत शिक्षा दर्शन मे संस्कृति प्रतिबिम्बित होनी चाहिए। स्वामी विवेकानन्द एवं डा० एनी बेसेण्ट का शिक्षा दर्शन इसी उद्देश्य का परिचायक है। इसीलिए शोध कर्त्री ने इन दोनों शिक्षा मनीषियों के शैक्षिक दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया है। जिससे वर्तमान शिक्षा प्रणाली में उन विशेषताओं का समावेश किया जा सके जो वर्तमान सन्दर्भ में उपयुक्त है।

विश्व की घटनाओं और परिस्थितियों ने आधुनिक युवकों को धर्मद्रोही बना दिया है। आज के युवक शकालु और अविश्वासी है। वे उद्धत और उग्र हैं, साहसी और रोमांचप्रिय हैं, जिज्ञासु और तार्किक हैं, संदेहशील और विद्रोही हैं। वे ढकोसलों

और आडम्बर से घृणा करते है और पुरानी पीढी का जबरदस्त विरोध करते है। ऐसे युवकों को आवश्यकता है गतिशील, तेजोमय, पवित्र, साहसी, सत्यनिष्ठ और निर्भीक व्यक्तित्व वाले स्वामी विवेकानन्द एव डा0 एनीबेसेण्ट के आह्वान एव संदेश की। जिसमें उन्होंने राष्ट्र के उत्थान एव विकास के लिए सद्चरित्र वाले प्रेम, निष्ठा और धैर्ययुक्त व्यक्ति बनने का आह्वान किया था। उन्होंने जीवन का अर्थ विकास अर्थात् विस्तार अर्थात् प्रेम बताया। दूसरो की भलाई करना जीवन है और परोपकार न करना मृत्यु। जीवित मनुष्य तो केवल वे है जो दूसरों से प्रेम करना जानते हैं। प्रेम ही वह शक्ति है जो तृप्ति देती है तथा सच्चरित्र ही कठिनाइयों की दुर्धर्ष दीवारों के बीच से अपना मार्ग बनाता है।

आज भाई-भाई के बीच घृणा के भाव अंकुरित हो गए हैं। देश में अलगाववादी एव आतंकवादी प्रवृत्तियॉ पनप रही है, भौतिकवादी सभ्यता अपना नग्न रूप प्रदर्शित कर रही है। ऐसे समय मे आवश्यकता है इन सब प्रवृत्तियों को स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनीबेसेन्ट के अमृतरस से समाप्त करने की।

शोध अध्ययन का शीर्षक

शोध अध्ययन का शीर्षक है-

'स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनीबेसेण्ट के शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन'

शोध अध्ययन का विषय शिक्षाशास्त्र के उप विभाग 'शिक्षा-दर्शन' का अग है। शिक्षा-दर्शन मे शिक्षा के कार्यो का सैद्धान्तिक विवेचन, शैक्षिक उद्देश्यों का निर्धारण, पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधि आदि पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार - विमर्श किया जाता है। किसी देश का दार्शनिक दृष्टिकोण शिक्षा के विभिन्न अंगों को प्रभावित करता रहता है। जैसे- प्राचीन भारत मे जीवन का उद्देश्य मोक्ष माना गया था अत. तब शिक्षा का उद्देश्य था - 'सा विद्या या विमुक्तये' । आधुनिक भारत मे लोग लोकतत्रीय दर्शन में आस्था रखते है। अत आज शिक्षा का उद्देश्य - 'लोकतत्रीय नागरिकता का विकास' निर्धारित किया गया है। स्पार्टा निवासियो के जीवन के जीवन का आदर्श जीवन को सघर्ष मानना था अत इस आदर्श के अनुसार वहॉ की शिक्षा का उद्देश्य देश की रक्षा के लिए वीर योद्धाओं का निर्माण करना था। इसी प्रकार एथेन्स के लोगों का लक्ष्य जीवन को आनन्दपूर्वक व्यतीत करना था। अत वहॉ की शिक्षा का उद्देश्य बालकों को इस योग्य बनाना था ताकि वे शारीरिक. चारित्रिक एवं कलात्मक सौन्दर्य को प्राप्त करके जीवन को आनन्द पूर्वक व्यतीत कर सके।

दार्शनिक दृष्टिकोण से तात्पर्य व्यक्ति या समाज का जीवन की घटना के प्रति दृष्टिकोण माना जाता है । उदाहरणार्थ- जब गौतम बुद्ध ने मार्ग में जाते हुए एक मृत, रोगी, वृद्ध व सन्यासी को देखा, तो उनका हृदय बेचैन हो गया और उन्होंने अनुभव किया कि संसार में दु:ख ही दु ख है। अत: उन्होंने ससार को दु:खमय मानते हुए उसके निवारण के उपायों की जिस ढग से खोज की उस ढंग में उनका दार्शनिक दृष्टिकोण निहित था।

विभिन्न दर्शनों में दार्शनिक दृष्टिकोण के विवेचन से विद्वानों ने दार्शनिक दृष्टिकोण की निम्नलिखित विशेषतायें बताई हैं -

दार्शनिक व्यक्ति होता है जो अपने चारो ओर की प्राकृतिक एव सासारिक व्यवस्था एव घटनाओ को देखकर आश्चर्य प्रकट करता है, उसके मूल कारणों की खोज मे रत रहता है।

दार्शनिक प्रत्येक बात के मूल मे ठोस प्रमाणों की खोज के लिए प्रत्येक बात को संदेहात्मक दृष्टि से देखना है।

दार्शनिक किसी भी बात को ज्यो का त्यों नहीं स्वीकारता, वरन् उसकी मीमासा करके ही उसको मान्यता प्रदान करता है।

किसी घटना या वस्तु की मीमासा के लिए चिन्तन की आवश्यकता होती है। अत दार्शनिक दृष्टिकोण चिन्तनशील होता है।

दार्शनिक चिन्तन के उपरात तटस्थ भाव से किसी प्रश्न के कारणों का पता लगाता है, उसमे विचारतन्त्र्य होता है। वह जनमत आदि से अलग रहता है। वह स्वयं अपने मत का निर्धारण करता है।

अत शिक्षा की प्रत्येक समस्या के 'क्यों' का उत्तर दार्शनिक दृष्टिकोण के आधार पर दिया जाता है। चूंकि दर्शन का सम्बंध जीवन से होता है अत दर्शन जीवन को उपयोगी बनाने का मार्ग प्रस्तुत करता है। और शिक्षा तो स्वयं जीवन ही है। अत शिक्षा और दर्शन परस्पर सम्बंधित और एक ही लक्ष्य की ओर जाने वाले पथिक है। दर्शन जीवन के लक्ष्य का निर्धारण तथा सिद्धान्त प्रस्तुत करता है तथा शिक्षा उन सिद्धान्तों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करती है। जैसा कि एडम्स महोदय ने भी लिखा है- 'शिक्षा, दर्शन का गतिशील पहलू है । यह दार्शनिक विश्वास का सक्रिय पक्ष, और जीवन के आदर्शो को प्राप्त करने का व्यावहारिक साधन है।'

प्रत्येक जीवन-दर्शन एक निश्चित विश्वास पर आधारित होता है। यदि विश्वास जीवन के लिए उपयोगी है तो उसका शैक्षिक महत्व अवश्य होना चाहिए। अत दर्शन को शिक्षा से पृथक नहीं किया जा सकता। वस्तुत दोनों मे घनिष्ठ संबन्ध है। इतिहास भी इस बात की पुष्टि करता है कि विश्व के महान दार्शनिक प्लेटो, लॉक, कॉण्ट, स्पेसर आदि महान शिक्षा शास्त्री भी थे क्योंकि उनके शिक्षा सिद्धान्त उनके दार्शनिक विचारों के व्यावहारिक प्रयोग थे।

शिक्षा और दर्शन की इस पारस्परिक प्रगाढ़ता व निर्भरता ने शोधकर्त्री को इस ओर प्रेरित किया कि वह उन शिक्षाशास्त्रियों के शैक्षिक दर्शनों का अध्ययन व तुलना करे जिन्होंने भारतीय दर्शन के सर्वोच्च मत 'एक सद्‌विप्रा बहुधा वदन्ति' की वकालत की और उस मत का प्रतिपादन अपने शैक्षिक प्रयोग में व्यवहृत किया।

शोध अध्ययन की आवश्यकता

इतिहास इस बात का साक्षी है कि युग-युग मे जहाँ कहीं किसी सन्यासी सघ की प्रतिष्ठा हुई है, वहीं ज्ञान का दीप जला है। बौद्धो के प्राचीन बिहार किसी समय ज्ञान चर्चा की अद्वितीय आवास भूमि थे। योरुप के अन्धकारयुग मे कैथोलिक सन्यासियों ने ही यूनानी साहित्य और प्राचीन पाश्चात्य सभ्यता की रक्षा करते हुए ज्ञान की बाती को जलाये रखा था। वर्तमान समय मे भी 'रामकृष्ण सघ' एव 'थियोसॉफिकल सोसायटी' के सन्यासीगण एव सदस्य भारत के सास्कृतिक इतिहास के भित्तिस्वरूप वेदवेदान्त आदि सस्कृत शास्त्रो का अवलम्बन करते हुए भारत की मर्मवाणी को समयोपयोगी बनाकर देश देशान्तर मे ले जा रहे है। स्वाधीन भारत के इस नवजागरण काल मे यदि भारतवासियों का अपनी सस्कृति के मूल स्रोत के साथ घनिष्ठ परिचय हो जाये, तो साम'गान से मुखरित प्राचीन भारत का सार्वजनीन आध्यात्मिक आदर्श प्रत्येक कुटीर में पुन नई स्वरलहरियाँ उठायेगा, वह नूतन को पुरातन के पवित्र स्पर्श से सार्थक बनाकर भारत को उच्चतर गौरव मे पुन प्रतिष्ठित करेगा।

निद्रामग्न भारतवासियों की नस नस मे नई आशा आकाक्षा व प्रेरणा प्रदान करने वाले स्वामी विवेकानन्द और श्रीमती एनी बेसेण्ट ने किसी नए धर्म का सूत्रपात नहीं किया अपितु भारत के प्राचीन सनातक धर्म को पुन गौरवान्वित करते हुए भारत के अभ्युदय के लिए धर्म को शिक्षा का आधार बनाया।

दोनों ही जानते थे कि कोई भी बड़ा कार्य बिना संगठन के सम्भव नहीं है। जैसा कि कहा भी गया है कि 'संघे शक्ति कलौ' इसीलिए अपने निर्दिष्ट कार्यो की पूर्ति स्वामी विवेकानन्द ने 'राम कृष्ण मिशन' की स्थापना द्वारा की एवं डा0 बेसेण्ट ने 'थियोसॉफिकल सोसायटी' के माध्यम से। इस संगठन के माध्यम से स्वामी जी ने अपने गुरू का संदेश 'आत्मनो-मोक्षार्थं जगद्धिताय च' समूची मानव जाति में प्रसारित किया। इस छोटे से संदेश में व्यक्तिगत कल्याण के साथ साथ सामाजिक कल्याण भी सम्मिलित है। वर्तमान काल में प्रजातंत्र के बढ़ते हुए प्रभाव में व्यष्टि एव समष्टि को बराबर

महत्व दिया जा रहा है। आज वही सगठन उपयोगी है जो व्यक्ति और समाज के बीच परस्पर सामंजस्य स्थापित करते है जो धनी-निर्धन के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं खींचते , जो सभी धर्मो के प्रति सहिष्णुता व सौहार्द्र का भाव रखते हैं, जो विश्व के सभी लोगों के प्रति बंधुत्व भाव रखते है। इन्हीं उद्देश्यों को लेकर आज विश्व मे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन बने है जो विश्व बंधुत्व व, विश्वशांति का प्रयास कर रहे हैं। जैसे- सयुक्त राष्ट्र संघ, दक्षेस आदि।

स्वामी विवेकानन्द एव श्रीमती एनी बेसेण्ट ने जिस संगठन का सूत्रपात किया वे आज से एक सदी पूर्व जितने प्रेरणादायी थे उससे भी ज्यादा आज प्रेरणास्पद है और भविष्य में भी रहेगे। डा0 एनी बेसेण्ट थियोसॉफिस्ट बनने के पहले से ही भारत के प्रति श्रद्धावान थीं। भारत के प्रति उनका पहला वक्तव्य 1875 ई0 मे दिया गया, जिसमे उन्होंने भारतीय आत्मा की आवाज बनकर ब्रिटिश शासकों के भारत आक्रमण का विरोध किया था। 1878 ई0 में तो भारत के साथ उनका पूर्ण तादात्म्य हो चुका था। इसी वर्ष उन्होंने 'इग्लैण्ड इण्डिया तथा अफगानिस्तान' नामक पुस्तक मे अत्यत कठोर शब्दों में भारत मे ब्रिटिश शासन की निन्दा की है। यह पुस्तक ही वास्तव में भारतीय सांस्कृतिक जागरण एवं स्वतंत्रता संग्राम का प्रारम्भिक रूप है। उन्होंने कहा जो लोग अंग्रेजों द्वारा भारतीयों को सभ्य करने के सिद्धान्त के समर्थक हैं, वे अज्ञानी हैं, क्योंकि भारत उस समय विश्व सभ्यता का केन्द्र था जब पाश्चात्य देशों के लोग 'नग्न जंगली के समान आपस में लड़ते थे'।

प्रस्तुत अध्ययन का महत्व इसलिए भी है कि इन दोनों शिक्षामर्मज्ञों ने शिक्षा-सिद्धान्तों और शिक्षा-प्रयोग के बीच उचित तालमेल स्थापित किया है। इनके द्वारा स्थापित संगठन उत्तरोत्तर सम्पूर्ण विश्व में मानव कल्याण में सलग्न हैं। 1993 ई0 मे 'राम कृष्ण मठ व मिशन' के सम्पूर्ण विश्व में कुल 132 केन्द्र थे। जो कार्य वर्तमान समय मे भारत में मानव संसाधन विकास मत्रालय' कर रहा है उससे भी अधिक कार्य 'रामकृष्ण मठ व मिशन' व 'थियोसॉफिकल सोसायटी' संपादित कर रही है। ये न केवल औपचारिक

शिक्षा के केन्द्र स्थापित करती है अपितु अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों, स्वास्थ्य केन्द्रों, युवा कार्य केन्द्रों तथा महिलाओं के कल्याण केन्द्रों द्वारा मानव सेवा व मानव निर्माण मे सलग्न है। अत शिक्षा जगत् मे स्वामी विवेकानन्द एव डा0 एनीबेसेण्ट के योगदान का अध्ययन व अवलोकन नितान्त उपयोगी है।

शोध अध्ययन के उद्देश्य

किसी भी शोध अध्ययन मे उद्देश्यों का निर्धारण उस अध्ययन को निश्चित दिशा प्रदान करता है जिससे अध्ययन सरल, सुव्यवस्थित एवं सुगम हो जाता है। अत अनुसंधानकर्त्री ने शोध अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्यों का निर्धारण किया है- -

(1) स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनी बेसेण्ट के दार्शनिक मत का अध्ययन उनके मूल ग्रन्थों के आधार पर करना।

(2) स्वामी विवेकानन्द एवं श्रीमती एनीबेसेण्ट के दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि मे उनकी शिक्षा दर्शन की रूप रेखा प्रस्तुत करना।

(3) स्वामी विवेकानन्द एव श्रीमती एनीबेसेण्ट के शैक्षिक विचारों का विश्लेषण एवं विवेचन करके शिक्षा के स्वरूप का प्रस्तुतीकरण ।

(4) स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनीबेसेण्ट के विचारानुसार शिक्षा के उद्देश्यों, शिक्षण पद्धतियों एवं पाठ्यक्रम की वर्तमान शिक्षा के सन्दर्भ में मीमांसा करना।

(5) स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनीबेसेण्ट के धार्मिक विचारों के आधार पर विकसित धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा की प्रासंगिकता का अध्ययन करना।

(6) स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनीबेसेण्ट के शिक्षा दर्शन में सादृश्यताओं व विषमताओ का अध्ययन करना।

(7) स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनीबेसेण्ट के शैक्षिक विचारों का विश्लेषण एवं विवेचन करके भारत में एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की पुर्नस्थापना हेतु व्यावहारिक सुझाव देना।

प्राक्कल्पना

प्राक्कल्पना वे पूर्व कथन है जो सत्य सिद्ध किए जा सकते हैं। वे सत्याभासी तो होते ही हैं, साथ ही प्राक्कल्पना वह भी है जिसकी सच्चाई के विषय में शक भी होता है, यह असत्य भी सिद्ध किया जा सकता है। शैक्षिक अनुसंधान में प्राक्कल्पना निर्माण एक संकल्पनात्मक और तर्कपूर्ण कार्य है जिसमे सिद्धान्त एवं परिणाम दोनों सम्मिलित होते हैं। यदि प्राक्कल्पना सिद्धान्तों पर आधारित नहीं होती और वाद, सिद्धान्त, शास्त्र का निर्माण नहीं करती तो अनुसंधान का मूल्य कम होता है।

प्राक्कल्पना का महत्व

प्राक्कल्पना के बिना शोध कार्य को सही दिशा नहीं मिलती है । प्राक्कल्पना से शोध प्रक्रिया को निर्देशन प्राप्त होता है। यह शोधकर्ता को उस समय की स्थिति के ज्ञान को सकलित करने, वास्तविकता का पर्यवेक्षक व अध्ययन करने और विचार करने पर विवश करती है । जिससे शोध कर्ता अपनी प्रत्येक क्रिया को उसके अनुसार ढालता है । प्राक्कल्पना उपयुक्त अभिकरण चुनने, परीक्षण पत्र आदि तैयार करने, दत्त सामग्री सग्रह करने, उनके विश्लेषण करने मे सहायक होती है। प्राक्कल्पना शोध से सम्बद्ध विभिन्न चरों के बीच के सम्बध का अनुमान करती है। इन सम्बंधों का अस्तित्व ही शोध का विषय बन जाता है। सम्बध होते है या नहीं होते यह सिद्ध करने का अवसर प्राप्त हो यह प्राक्कल्पना का मुख्य लक्षण है।

प्राक्कल्पना दो प्रकार की होती है-

[अ] शैक्षिक प्राक्कल्पना :

यह प्राक्कल्पना ऐसे किसी सम्बंध अथवा अतर से सम्बंधित होती है जो शोधकर्ता वास्तविक संसार में पाने की सम्भावना रख सकता है । इसमें शिक्षण विधि, छात्र निष्पत्ति, शिक्षक व्यवहार लक्षण आदि अन्तर्ग्रस्त हो सकते हैं।

[ब] साँख्यिकीय प्राक्कल्पना

साँख्यिकीय प्राक्कल्पना एक साँख्यिकी विधि ही होती है। प्राय शैक्षिक विधि का परीक्षण करने के लिए पहले उसे साँख्यिकीय प्राक्कल्पना के रूप मे अभिव्यक्त करते है। यह जनसख्या के विषय मे एक महत्वपूर्ण धारणा है। इस प्रकार की प्राक्कल्पना परीक्षण 'सार्थकता के साँख्यिकीय परीक्षण' द्वारा होता है। सभाविता तथ्यों पर आधारित परीक्षण द्वारा प्राक्कल्पना को स्वीकार अथवा अस्वीकार किया जाता है।

उपरोक्त वर्णित प्राक्कल्पना के प्रकारों में से शैक्षिक प्राक्कल्पना को प्रस्तुत अध्ययन हेतु आधार बनाया है। शोध का विषय दार्शनिक होने के कारण साँख्यिकीय प्राक्कल्पना करना सम्भव नहीं है। अत प्रस्तुत अध्ययन मे शैक्षिक प्राक्कल्पना बनाई गयी है। जो अग्राकित है -

(1) स्वामी विवेकानन्द एव डा0 एनी बेसेण्ट का शैक्षिक दर्शन प्रमुखतया अद्वैतवेदान्त पर आधारित है जिसमे दार्शनिक समन्वयवाद की प्रवाहक शक्ति है।

(2) स्वामी विवेकानन्द एव डा0 एनी बेसेण्ट के शैक्षिक दर्शन में आत्मानुभूति,' पर विशेष महत्व दिया गया है।

(3) स्वामी विवेकानन्द एव डा0 एनी बेसेण्ट के शैक्षिक दर्शन पर भारतीय शिक्षा प्रणाली के गुरुकुल व मठ प्रणाली के आदर्शो व विशेषताओं का प्रभाव दृष्टिगत है।

(4) स्वामी विवेकानन्द सुधारक की अपेक्षा हिन्दू पुनरुद्धारक हैं। जबकि डा0 एनी बेसेण्ट सुधारक एवं हिन्दू पुनरुद्धारक दोनों थी।

(5) विवेकानन्द के शैक्षिक विचार पर तत्कालीन राजनैतिक सामाजिक एवं आर्थिक दशाओं का बहुत कम प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है।

लेकिन डा0 एनीबेसेण्ट की राष्ट्रीय शैक्षिक योजना प्रत्यक्षतः तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक दशाओं से प्रभावित है।

(6) शिक्षा मे धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता पर स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनी बेसेण्ट दोनों ने विशेष बल दिया है।

(7) दोनों मनीषियो ने देशप्रेम एव विश्वबन्धुत्व की भावना विकसित करने वाली शिक्षा को समर्थन किया है।

(8) शिक्षा मे विज्ञान और धर्म के समन्वय की अनिवार्यता स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनी बेसेण्ट के शिक्षा-दर्शन के समन्वयात्मक स्वरूप को प्रदर्शित करती है।

(9) स्वामी विवेकानन्द ने अनौपचारिक शिक्षा पर अधिक बल दिया है और डा0 एनी बेसेण्ट ने औपचारिक शिक्षा पर।

परिसीमन

प्रस्तुत अध्ययन 'स्वामी विवेकानन्द एव डा0 एनी बेसेण्ट के शिक्षा दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन' में शोधकर्त्री ने अध्ययन को सुनिश्चित एवं सुविचारित बनाने के उद्देश्य से सीमाबद्ध करना आवश्यक समझा है जिससे वह अपने शोध अध्ययन के निर्दिष्ट उद्देश्यों को प्राप्त कर सके। चूंकि शिक्षा-दर्शन और जीवन-दर्शन मे अटूट सम्बंध होता है। जीवन-दर्शन व्यक्ति की अपनी योग्यता, क्षमता, पारिवारिक स्थिति एवं सामाजिक स्थिति से प्रभावित होता है। अत किसी व्यक्ति के जीवन दर्शन को जानने से पूर्व उसकी व्यक्तिगत क्षमता, योग्यता, पारिवारिक दशा व तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से इस अध्ययन में स्वामी विवेकानन्द एव डा0 एनी बेसेण्ट के व्यक्तित्व एव कृतित्व का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इन द्वय शिक्षा शास्त्रियों के जीवन दर्शन व शिक्षा-दर्शन को प्रमुख आधार मानते हुए उनके धार्मिक , आध्यात्मिक व शैक्षिक पहलुओं का सविस्तार अध्ययन किया गया है। इनके सामाजिक व राजनीतिक पक्षों को अध्ययन से मुक्त रक्खा गया है। स्वामी विवेकानन्द एव डा0 एनी बेसेण्ट के शिक्षा दर्शनों का विश्लेषण, विवेचन एव तुलना को इस अध्ययन के क्षेत्र मे सम्मिलित किया है। सम सामयिक अन्य शिक्षा विदों के कार्यो व शिक्षा-दर्शन से इसे मुक्त रक्खा गया है।

शोध प्रक्रिया एवं प्रविधि

अनुसधान का विषय ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है अतः शोधकर्त्री ने अपने अध्ययन मे ऐतिहासिक अथवा लेख्य दस्तावेजी प्रमाण विधि, वर्णनात्मक विधि एव तुलनात्मक विधि का प्रयोग किया गया है। जहाँ तक स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनी बेसेण्ट के जीवन परिचय, कृतित्व एव शैक्षिक दर्शन को जानने का प्रयत्न है वहाँ पर ऐतिहासिक विधि का आश्रय लिया गया है। स्वामी विवेकानन्द एवं श्रीमती एनी बेसेण्ट के शैक्षिक प्रयोग का वर्तमान सन्दर्भ में व्याख्या करते समय वर्णनात्मक विधि का प्रयोग किया गया है। द्वय शिक्षाविदों के शैक्षिक दर्शनों मे समानता व असमानता का विश्लेषण करते समय तुलनात्मक विधि अपनाई गयी है।

शोध प्रविधि के अन्तर्गत तथ्यों को संकलित करते समय नोट बनाए गये है तथा विषय वस्तु को विश्लेषित करके प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध अध्ययन मे किसी एक विधि का पूर्णरूपेण पालन न करते हुए आवश्यकतानुसार ऐतिहासिक वर्णनात्मक, विश्लेष्ण एव तुलनात्मक विधियो का आश्रय लिया गया है।

शोध अध्ययन मे प्रमुख व गौण स्रोत को आधार स्वरूप स्वीकारा गया है।

(1) प्रमुख स्रोत

इसके अन्तर्गत 'विवेकानन्द साहित्य' के दस खण्डों , जो अद्वैत आश्रम, एण्टाली रोड, कलकत्ता से प्रकाशित है, को विवेकानन्द के जीवन दर्शन एवं शैक्षिक दर्शन हेतु प्रयुक्त किया गया है।

श्रीमती एनी बेसेण्ट के जीवन-चरित्र हेतु 'आत्म-कथा' तथा शैक्षिक - दर्शन हेतु 'बेसेण्ट स्पिरिट' के आठ खण्डों और जीवन दर्शन को जानने के लिए उनके द्वारा लिखित पुस्तकों को आधार माना गया है।

(2) गौण स्रोत

चूंकि स्वामी विवेकानन्द ने 'आत्म कथा' नहीं लिखी है। अत, उनके जीवन चरित्र का अवलोकन करने के लिए अन्य लेखकों द्वारा लिखी गयी पुस्तकों को गौण साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। इसमे स्वामी गम्भीरानद द्वारा लिखित एव डा0 केदार नाथ लाम द्वारा अनुवादित 'युगनायक विवेकानन्द' तीन खण्डों मे प्रमुख प्रमाणित ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त अनेक व्यक्तियों द्वारा उनके व्यक्तित्व पर लिखी पुस्तकों समाचार पत्रों एव पत्रिकाओं को भी अध्ययन हेतु स्वीकृत किया गया है। समय समय पर 'रामकृष्ण मठ' में होने वाले व्याख्यानों का श्रवण व विद्वत् जनों से वार्तालाप भी की है।

श्रीमती एनी बेसेण्ट के शैक्षिक विचारों के अध्ययन हेतु थियोसॉफिकल सोसायटी, कमच्छा , वाराणसी तथा अडयार, मद्रास द्वारा प्रकाशित अनेक पुस्तकों व लेखों को गौण साधन के रूप मे अपनाया गया है। इन प्रकाशनों के अतिरिक्त अन्य लेखकों द्वारा लिखित पुस्तकों, समाचार पत्रों व पत्रिकाओं को भी अध्ययन हेतु प्रयुक्त किया गया है। विद्वतजनों एव शिक्षा शास्त्रियों से वार्तालाप को भी शोध अध्ययन के उपागम में सम्मिलित किया गया है।

*****

****

अध्याय - 2

सम्बंधित साहित्य का सर्वेक्षण

****

सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण

किसी शोध अध्ययन मे उससे सम्बंधित शोध साहित्य का सर्वेक्षण नितांत आवश्यक है। पूर्व अध्ययनों के निरीक्षण व मूल्यांकन करने से शोध कर्ता को उस विषय के विभिन्न पहलुओं पर किए गये कार्यो एवं परिणामों का पता लगता है। इससे शोध कर्ता अपने विषय का क्षेत्र निर्धारित कर सकता है। समस्या के जिस पक्ष या अग पर शोध नहीं किया गया है उस पक्ष को अपने शोध अध्ययन में सम्मिलित किया जा सकता है। इस प्रकार शोध कर्ता अपने से पहले के अनुसंधानकर्ताओं से सीखकर अपने बाद आने वालों के लिए बीच की कड़ी बनता है। सम्बंधित साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन पर अनेक अध्ययन किए जा चुके हैं। किसी अध्ययन में उन सामयिक शिक्षा शास्त्रियों के साथ तो अन्य में पृथक रूप से । लेकिन डा0 एनी बेसेण्ट के शिक्षा दर्शन पर बहुत कम शोध अध्ययन किए गये हैं। अत: शोधकर्ता ने अपने विषय के पूर्व अध्ययनों को दो भागों में विभक्त किया है -

(क) स्वामी विवेकानन्द तथा समकालीन शिक्षा शास्त्रियों के शिक्षा दर्शन सम्बंधी अध्ययन।

(ख) डा0 एनी बेसेण्ट के शिक्षा दर्शन सम्बंधी अध्ययन

(क) स्वामी विवेकानन्द एवं समकालीन शिक्षा शास्त्रियों के शिक्षा दर्शन सम्बंधी अध्ययन:

चौबे द्वारा **'भारत में आधुनिक शिक्षा दर्शन'** शोध प्रबंध प्रस्तुत किया गया। अध्ययन का उद्देश्य आधुनिक भारत की उन प्रमुख विशेषताओं का पता लगाना था जो उन शैक्षिक विचारकों के प्रयासो का परिणाम थी जो भौतिकवादी व लौकिक मूल्यों के बढ़ते हुए प्रभाव के विरोध स्वरूप उत्पन्न हुई थीं और जिन्होंने उच्च आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति धीरे धीरे लगाव प्रदर्शित किया।

भारतीय संस्कृति और सभ्यता एक लम्बे अरसे का परिणाम है और इसका सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व दयानन्द, विवेकानन्द , एनीबेसेण्ट , अरविन्द, टैगोर और गांधी जैसे प्रसिद्ध

विचारकों के जीवन व कार्य मे दिखाई देता है। हमारे देश मे शिक्षा को साम्प्रदायिक संकीर्णता दूर करने मे सहायता करनी चाहिए। यह तभी सम्भव है जब शिक्षा मे भारतीय दर्शन व संस्कृति के आवश्यक तत्व शामिल किए जायें। आधुनिक भारत के शैक्षिक दार्शनिकों, टैगोर, विवेकानन्द , गांधी आदि के कुछ प्रमुख योगदान, जो अनुसंधान कर्ता द्वारा निष्कर्षतः निकाले गये हैं, इस प्रकार हैं-

(1) शिक्षा का दायित्व है कि वह छात्र का नैतिक व धार्मिक विकास करे।

(2) शिक्षा का एक उद्देश्य भौतिकतावादी होना चाहिए जिससे व्यक्ति जीवन निर्वाह योग्य व आर्थिक रूप से उत्पादक बन सके।

(3) शिक्षा व्यक्ति को इस योग्य बनाये कि वह विश्व से एक रूप हो सके।

(4) शिक्षा का पाठ्यक्रम मानव जीवन के दोनों पक्षों का ध्यान रक्खे- पहला आध्यात्मिक पक्ष- अर्थात् मनुष्य का आभ्यन्तरिक पक्ष, और दूसरा व्यक्ति का बाह्य पक्ष यानी समाज की एक इकाई के रूप मे नैतिक व सामाजिक उत्तरदायित्वों के रूप में।

(5) स्त्री शिक्षा को प्राथमिकता दी जाये जिससे कि भारत की स्त्रियॉं पुनः समाज में अपना उचित स्थान ग्रहण कर सकें।

(6) राज्य शिक्षा प्रदान करे लेकिन शिक्षा पर अधिकार नहीं।

(7) भारतीयों की शिक्षा के विकास एवं पल्लवित होने के लिए शिक्षा की जड़ अपनी ही प्राचीन सांस्कृतिक भूमि में ही पनपें। इसलिए यह अनुभव किया गया कि नया शैक्षिक दर्शन, जो विज्ञान व आध्यात्मिकता का समन्वय है, देश में निवर्तमान अपर्याप्त शैक्षिक प्रणालियों को सही दिशा में ले जाने में सक्षम होगा।

(8) उपरोक्त शैक्षिक विचारकों का प्रमुख योगदान यह था कि भारतीय युवकों के मस्तिष्क में पूर्व की आध्यात्मिक संस्कृति और पाश्चात्य के भौतिकवाद के बीच समन्वयात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता पर विशेष महत्व देना।

वर्मा[2] ने **'राजाराम मोहनराय से महात्मा गांधी तक के आधुनिक भारत में शैक्षिक दर्शन का विकास'** विषय पर शोध अध्ययन किया। इस अध्ययन में यह अन्वेषण करने का प्रयास किया

गया कि आधुनिक भारत का शैक्षिक दर्शन, जो आदर्शवादी प्रवृत्ति का पोषक है, वह महान सांस्कृतिक निरन्तरता का प्रगटन है।

इस अध्ययन मे 'लेख्य प्रमाण सर्वेक्षण - विधि' 'विश्लेषण विविध' को प्रमुख आधार बनाया गया है। भारत मे शैक्षिक पुनर्जागरण राजाराम मोहन राय के समय से महात्मागांधी के समय तक अनेक चरणों यथा- उत्तेजना, समाधान व कट्टर धर्मावलम्बन से गुजरा। फिर भी भारतीय शिक्षा का स्वरूप प्राचीन विरासत के तारतम्य में मानववादी ही रहा है। तत्कालीन सामाजिक अनिवार्यता के फलस्वरूप सामाजिक संरचना व पुरानपंथी धार्मिक विश्वास में सुधार करना आवश्यक हो गया था। राष्ट्रीय जागरण के लिए शिक्षा को स्त्रियों, ग्रामीणों, दलितों व जनसाधारण के उत्थान के लिए क्रियाशील बनाया गया। ब्रह्म समाज से सर्वोदय समाज की स्थापना तक का भारतीय शैक्षिक दर्शन प्राचीन व उदारवादी होते हुए अत्यत विस्तृत था जिसमें सामाजिक आर्थिक, मनोराजनीतिक और नैतिकता का समावेश था।

आधुनिक भारत में शैक्षिक दर्शन ने आदर्शवादी प्रवृत्तियों के सहित सांस्कृतिक निरन्तरता को बनाए रक्खा। यह निरन्तरता स्थिर नहीं अपितु नवीन सामाजिक व्यवस्था बनाने में पर्याप्त गतिशील थी। इसने मानववाद, धर्मनिरपेक्षावाद, ब्रह्मचर्य, स्वातंत्र्य, सच्चाई, अहिंसा, वैयक्तिक सम्मान, सेवा और कर्तव्य जैसे मूल्यों को स्वीकार किया।

राजाराम मोहनराय से गांधी तक का शैक्षिक दर्शन शिक्षा की एक विस्तृत प्रणाली बनाने की समन्वयवादी भावना का प्रतिनिधित्व करता है। जिसमें पूर्व एवं पश्चिम का सम्मिलन एक दृढ सामाजिक आधार स्वरूप है जो तंत्वज्ञान से भरपूर तथा सार्वभौमिक महत्व का है। इस काल में कोई भी विचारक ऐसा नहीं था जिसने दूसरों को प्रभावित न किया हो और स्वयं प्रभावित न हुआ हो। ऐतिहासिक तथ्य इस सत्यता की पुष्टि करता है कि भारत विभिन्नता में एकता की भूमि है जिसका आधार आध्यात्मिक प्रचुरता

है जिसमे विभिन्न विचारकों ने स्वतत्र रूप से कार्य किया और भारतीय समाज के पुनरुत्थान के लिए विभिन्न मार्गो व आदर्शो का चयन किया। प्रारम्भिक आन्दोलन ईश्वर ज्ञान सम्बंधी आदर्शवाद महर्षि अरविन्द के तत्व ज्ञान रूपी आदर्शवाद का अनुयायी था। टैगोर का सौदर्यात्मक आदर्शवाद और गांधी का आर्थिक आदर्शवाद क्रमशः सस्कृति के मस्तिष्क, हृदय व हाथ पक्ष का द्योतक है। शैक्षिक दर्शन ने राजाराम मोहन राय के सामाजिक यथार्थवाद से गाँधी के आदर्शवादी समाजवाद तक की लम्बी यात्रा तय की। जिसमें समन्वय, समाधान और विरोध का सम्मिश्रण है। आधुनिक शैक्षिक दर्शन में बुद्धिजीवियों द्वारा अनेक विरोधी प्रवृत्तियों को शिक्षा के उपागम स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। यथा- धर्मज्ञान और धर्मनिरपेक्ष, उपयोगितावाद और सौन्दर्यवाद, सांसारिक और आध्यात्मिक, सन्यासी और मानववादी, तत्वज्ञान एवं प्रकृतिवाद, समाजवाद एवं व्यक्तिवाद, आर्थिक एवं राजनीतिक , राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आदि।

इस प्रकार आधुनिक भारतीय शैक्षिक दर्शन का विकास सभी अवस्थाओं में वृद्धि की अपेक्षा पुनरुद्धारक एवं विभिन्नता में एकत्व प्रदर्शित करने वाला समन्वयात्मक रहा है। इसने किसी भी समय विद्रोहकारी मार्ग न अपना कर सामंजस्यकारी मार्ग अपनाया है। ब्राह्मों वेदान्तियों, थियोसाफिस्टों, संन्यासियों, पूर्ण मानवों तथा सत्याग्रहियों ने भारतीय जीवन के विभिन्न पक्षों का परिचय दिया है। इन तत्वों पर आधारित शैक्षिक दर्शन की पाश्चात्य देश के दर्शन से कोई साम्यता व निरन्तरता नही है। भारतीय शैक्षिक दर्शन का विकास अचानक या नाटकीय नहीं था अपितु शनैः शनैः मन्थरगति से बढ़ता हुआ तथा भूत से निरन्तर प्रेरणा लेने वाला था। जो आधुनिक पाश्चात्य सामाजिक 'दर्शन की गुत्थियों से दूर था।

आधुनिक भारतीय दर्शन उपयोगितावादी होते हुए भारतीय प्रकृति एवं सांस्कृतिक परम्परा के दायरे में आबद्ध है। यथा राजाराम मोहन राय का दर्शन बौद्धिक , दयानन्द का भावुक, विवेकानन्द का मठवादी और गांधी का वैराग्य वादी था लेकिन ये सभी मानववादी थे जिन्होंने व्यक्तिगत एवं सामाजिक कल्याण को समान रूप से महत्व दिया।

दत्ता[3] ने **'अद्वैत वेदान्त और महान सार्वभौमिक हृदय बुद्ध के सन्दर्भ में विवेकानन्द के दर्शन का अध्ययन'** किया जिसके निष्कर्ष इस प्रकार थे -

(1) विवेकानन्द मनुष्य का शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक विकास, वृद्धि, प्रगति व सर्वतोमुखी पूर्णता चाहते थे।

(2) स्वामी जी भावी मनुष्य थे।

(3) स्वामी जी गहन विवेकशील, मननशील और निर्णयशील थे, उनकी आत्मा के अनेक पक्ष थे जैसे हीरे में सुन्दरता व चमक दोनों होती है। एक पक्ष ने बुद्ध के मानवतावाद को प्रतिबिम्बित किया और दूसरे पक्ष, जो शायद अधिक प्रभावशाली था, ने शंकर के अद्वैत वेदान्त को ग्रहण किया।

(4) भारतीय दर्शन का महत्व एक ही स्तम्भ पर नहीं टिका है इसके कम से कम तीन स्तम्भ है- अद्वैत वेदान्त, बुद्धवाद और विवेकानन्द का दर्शन।

(5) भारतीय दर्शन त्रिपक्षीय था जिसका तीसरा पक्ष स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रस्तुत किया गया। लेकिन यह दर्शन रामकृष्ण से उन्हें प्राप्त हुआ जो विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों के जनक थे।

(6) विवेकानन्द ने भारतीय दर्शन का वृत्तखण्ड पूरा किया। जिसका प्रारम्भ वेद, उपनिषद, बुद्ध और शंकर ने किया था।

(7) भारतीय दर्शन की गंगा औ यमुना का संगम विवेकानन्द में दृष्टिगोचर था यद्यपि इस संगम से जो धार निकली वह नई थी।

(8) वह मानव के उत्थान में सार्वभौमिक बंधुत्व में विश्वास करते थे। चूंकि नवीन समाज की स्थापना राष्ट्रीय उद्देश्य और उन्हें विकास के साथ जोड़ने की प्राथमिकता की आवश्यकता थी।

स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक दर्शन पर 'पुथियथ'[4] द्वारा जो अध्ययन किया गया उसके उद्देश्य इस प्रकार थे -

(1) शिक्षा में धर्म का स्थान

(2) शिक्षा की प्राचीन प्रणालियों तथा भारत के वर्तमान दर्शन में धर्म का योगदान

(3) विवेकानन्द के दर्शन के आधार पर भारतीय शिक्षा का पुनर्निमाण।

इस अध्ययन में विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों , दर्शनों, प्रसिद्ध विद्वानों व लेखकों के लेखों को आधार बनाया गया। अध्ययन की उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं -

(1) शिक्षा को युवकों की शारीरिक स्वस्थता, बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रशिक्षण के रूप में पारिभाषित किया तथा धर्म का रुचियों, विज्ञान व नैतिकता से सम्बंध स्थापित किया।

(2) लोकतंत्र को सरकार का सर्वोत्तम रूप माना जिसमें स्वतंत्रता व जिम्मेदारियों से पृथक न हो, जिसके साधन नैतिकता, दर्शन, कानून और इसी प्रकार के अन्य हो। हालांकि धर्म स्वतंत्रता और जिम्मेदारी का अंतिम स्रोत हैं जिस पर लोकतांत्रिक शिक्षा के लिए कार्यक्रम आधारित हैं।

(3) विवेकानन्द के नव्य-वेदान्त का आधार वेद ओर उनकी व्याख्या थी।

(4) उनका विश्वास था कि बालक स्व शिक्षा से सीखता है, वस्तुएं व्यक्ति की अपनी प्रत्यक्षण एवं विचार की शक्ति से स्पष्टतर होती हैं, अध्यापक सिर्फ सहायक और पथ प्रर्दशक होना चाहिए। शिक्षण छात्र की आवश्यकताओं के अनुरूप हो जहाँ अध्यापक बालक के प्रति सहानुभूति रखता हो।

(5) उन्होंने धर्म को अनुभूति के रूप में परिभाषित किया और मत विहीन धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया।

(6) उन्होंने अनुभव किया कि स्त्री शिक्षा धर्म को प्रमुख तथा अन्य प्रशिक्षण को गौण मानकर विकसित की जाये।

(7) प्रगति का एक मात्र उपाय जन शिक्षा है जो गरीबी के रहते प्रभावशाली नहीं हो सकती।

स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों पर 'नैर'[5] ने शोध अध्ययन प्रस्तुत किया जिसके उद्देश्य इस प्रकार हैं.-

(1) उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण का पता लगाना तथा विज्ञान और धर्म के शिक्षण का पुनः अभिविन्यास करना।

(2) शिक्षा के दार्शनिक आधार, शिक्षा-मनोविज्ञान शिक्षा के सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक आयामों का पता लगाना।

(3) आधुनिक समय में विवेकानन्द के विचारों की प्रासंगिकता का पता लगाना।

दत्तों के संग्रह हेतु मुख्य रूप से गहन पुस्तकालय कार्य को आधार बनाते हुए वर्णनात्मक अनुसंधान प्रविधि का प्रयोग किया गया। प्राथमिक स्रोत में स्वामी विवेकानन्द के कार्यो की दस खण्डों में प्रकाशित पुस्तकें थीं। गौण स्रोत में विवेकानन्द पर अन्य विद्वानों द्वारा लिखित , व्याख्यादित व विश्लेषित पुस्तकें थीं।

अध्ययन के प्रमुख निष्कर्ष :-

(1) विवेकानन्द अपने समय के अन्य शिक्षाविदों तिलक व गांधी की तुलना में महान संश्लेषणवादी थे।

(2) उनका वैदिक आदर्शवाद कर्म का दर्शन था जिसमें शंकर का बुद्धित्व और बुद्ध का प्रेम मिला हुआ था।

(3) हिन्दू धर्म की उचित व्याख्या द्वारा विवेकानन्द ने जन समूह को अंध विश्वास से दूर करने का प्रयत्न किया।

(4) उनका शिक्षा-दर्शन नीतिशास्त्र, धर्म व नैतिकता का सम्मिश्रण था। उसमें प्रकृतिवाद, प्रयोजनवाद और, वास्तववाद की झलक दृष्टिगत थी, प्रत्येक विचार धारा ने मानव निर्माण कारी शिक्षा का योगदान दिया। उनके अनुसार शिक्षा का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति था। उनका विश्वास था कि बौद्धिक उपलब्धि की तुलना में चरित्र अधिक महत्वपूर्ण था, और अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों का महत्व अधिक था।

(5) विवेकानन्द के अनुसार कोई भी अध्यापक छात्र को शिक्षित नहीं कर सका क्योंकि वह अपनी प्रकृति के अनुसार बढ़ता है। उनके मानव मस्तिष्क के विश्लेषण (सत्व, राजस, तमस) के व्यावहारिक प्रयोग का आधुनिक शैक्षिक मनोविज्ञान पर महान प्रभाव है।

(6) मार्क्स की तरह विवेकानन्द वर्ग-भेद के विरुद्ध थे परन्तु इतिहास में वर्णित भौतिकवादी स्वरूप के नहीं।

(7) वेदान्त दर्शन से साम्यता रखते हुए विवेकानन्द का मानना था कि लोगों का सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक पुनर्निर्माण उन्हें उनकी चिन्ताओं से मुक्त करेगा और जीवन को सुखमय बनाएगा। उन्होंने मछुआरों और हल जोतने वाले लोगों के प्रकार्यात्मक साक्षरता अभियान हेतु आधुनिक प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम का पूर्वज्ञान प्राप्त कर लिया था।

स्वामी विवेकानन्द और लोक मान्य तिलक के शैक्षिक दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन' भारवा[6] द्वारा किया गया।

लोक मान्य तिलक और स्वामी जी ने राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य मे शिक्षा को विशेष महत्वपूर्ण माना। शिक्षा तिलक के जीवन का आदर्श थी और द्वय मनीषियों के लिए यह मानव की समस्त समस्याओ के निराकरण का एकमात्र साधन थी। दोनों का शिक्षा दर्शन यद्यपि अत्यत व्यवस्थित था हालाकि उन्होंने औपचारिक रूप से इसे नहीं कहा। हम यों भी कह सकते है कि उनके शिक्षा सम्बधी विचार उनके विशेष प्रतिभा एव जीवन के दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करते है। इस अध्ययन का उद्देश्य तिलक व विवेकानन्द के कार्यो और क्रिया कलापो का सावधानी पूर्वक अध्ययन करना एव सम्बंधित सामग्री को सगठित करके उनके शैक्षिक दर्शन को प्रस्तुत करना था। अध्ययन के निष्कर्ष इस प्रकार थे-

तिलक और विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को इस योग्य बनाना था कि वह अपने अंदर स्थित सर्वोत्तम शक्ति का अनुभव कर सके। बालक का अपना अस्तित्व भौतिक शरीर मे अवस्थित है जिसमे मस्तिष्क भी है। मनुष्य के ये सकाय अधिक से अधिक पूर्णता की ओर विकसित किए जाने मे सक्षम थे। तिलक और विवेकानन्द का मानना था कि शिक्षा का कार्य मनुष्य की योग्यताओं व क्षमताओं का पता लगाना और उन्हे उनका उचित प्रयोग कराना तथा जीवन में उनके गहन अर्थ का पता लगाना था। पूर्ण अभिवृद्धि के लिए शिक्षा अवसर थी। मनुष्य के अधिगम मे ज्ञान ही प्रमुख है जो प्रमुखतया पशुओं के अधिगम से भिन्न है। अधिगम ज्ञान की प्राप्ति की एक प्रक्रिया है जो मस्तिष्क से प्रारम्भ होती है, न कि बाहर से। ज्ञान एक आकार है जिसे हम अर्थ देने के लिए निर्मित करते और अपने अनुभवों से संरचित करते। शिक्षक का कार्य है। बालक के मस्तिष्क को उसकी शक्तियों के प्रति जागरूक करना तथा बाह्य संसार को इस जागरूकता के लिए साधन स्वरूप प्रयोग करना। इस प्रकार अध्यापक [illegible] वातावरण प्रदान नहीं करता वरन् बालक की संपदा, जो मनुष्य की स्वयं की शक्ति थी, उसका एहसास कराता। इस प्रकार मनुष्य आन्तरिक रूप से विकसित होता है। अध्यापक का प्रमुख कार्य बालक के अभिप्रेरण को समझना है। अध्यापक सिर्फ व्यक्तियों को अपने विकास में सहायता और स्वतंत्रता के वातावरण से लाभान्वित

करे। इस प्रकार की प्रणाली मे 'सिखाना' का अर्थ बच्चे को किसी समस्या के सभी पहलुओ को प्रस्तुत करने के पूर्व कारण का पता लगाने के लिए चितन की ओर उन्मुख करना था। जिससे वह अपने व्यक्तिगत निष्कर्षो के आधार पर स्वतत्रता पूर्वक मनन कर सके। शिक्षण एक विद्वतापूर्ण व्यवसाय है ऐसा विचार तिलक और स्वामी विवेकानन्द का था। व्यवसाय जितना श्रेष्ठ होता उतनी ही जिम्मेदारी ज्यादा होती। व्यष्टियाँ ही सामाजिक संरचना का वास्तविक अग थे अत पूर्ण वृद्धि प्राप्त हुए व्यक्तियों के बिना सामाजिक एक रूपता व कुशलता की आशा करना व्यर्थ है।

गुप्ता[7] ने स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों का अध्ययन शोध प्रबंध हेतु किया। इस अन्वेषण का उद्देश्य स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों का अध्ययन तथा वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के पुर्नसगठन मे उसकी प्रासंगिकता का परीक्षण करना।

स्वामी विवेकानन्द की मूलकृतियों तथा विभिन्न शिक्षाविदों की समीक्षाओं को अध्ययन का आधार बनाया।

अध्ययन के उपरांत अन्वेषक ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले -

1- विवेकानन्द ने शिष्य के शारीरिक व मानसिक विकास पर अधिक बल दिया।

2- शिक्षा जीवन के लिए तैयार करे।

3- शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास किया जाए।

4- चरित्र का विकास किया जाए।

5- नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा हो।

6- मातृभाषा द्वारा शिक्षा प्रदान की जाए।

7- स्वावलम्बी बनाने वाली शिक्षा दी जाए।

8- शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण न हो।

9- सभी के लिए शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध हों।

10- छात्र की योग्यतानुसार शिक्षा हो।

11- शिक्षा मोक्ष प्राप्ति की ओर प्रेरित करे।

12- पाठ्यक्रम मे धार्मिक शिक्षा, वेदान्तिक-शिक्षा, शारीरिक प्रशिक्षण, दर्शन, भूगोल, इतिहास, विज्ञान, तकनीकी-विषय, व्यवसायिक प्रशिक्षण, कला, सगीत, गृह विज्ञान आदि को स्थान दिया जाए।

सुझाव

1- हमारे स्कूल पाठ्यक्रम मे उपयुक्त परिवर्तन किए जाए।

2- भारतीय सस्कृति और भारतीय मूल्यों को महत्व दिया जाए।

3- शिक्षा वर्तमान भारतीय समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली हो।

4- समाज में शिक्षक को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करने पर बल दिया जाए।

5- सभी के लिए शिक्षा अनिवार्य व नि:शुल्क हो।

6- लड़कों व लड़कियो के अलग-अलग विद्यालय हो।

7- प्रौढ़ शिक्षा के प्रोग्राम पर विशेष ध्यान दिया जाए।

मिश्रा[8] द्वारा **'स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक दर्शन और शिक्षण विधि का आलोचनात्मक अध्ययन'** विषय पर शोध प्रबंध प्रस्तुत किया गया जिसके प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार थे:-

1- वर्तमान भारतीय शैक्षिक प्रणाली को एक सुदृढ़ आधार प्रदान करने में नई शिक्षा नीति (वेदान्त दर्शन) का अध्ययन करना।

2- विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों की बदलते परिवेश में उपयोगिता का मूल्यांकन करना।

अध्ययन ऐतिहासिक पद्धति पर आधारित था। प्राथमिक व गौण स्रोत का प्रयोग सूचना एकत्र करने मे किया गया। स्वामी जी द्वारा सस्थापित कार्यरत संस्थाओं के व्यक्तियों से व्यक्तिगत वार्तालाप भी अतिरिक्त साधन थे।

अध्ययन के निष्कर्ष थे-

(1) स्वामी जी का विश्वास था कि ससार के सभी धर्मो का आधार प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वेदान्त दर्शन पर आधारित था। वेदान्त दर्शन का आधार व्यास सूत्र था। इसके तीन भाष्यों, द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत में से स्वामी जी अद्वैत के समर्थक थे।

(2) स्वामी जी का वेद और उपनिषदों में अतीव विश्वास था। वह भारतीय संस्कृति के समर्थक एव भारत में अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के विरोधी थे। उन्होंने भारत तथा विदेश में आधुनिक संदर्भ में वेदान्त दर्शन के प्रचार में अथक प्रयास किया। इसी सन्दर्भ में उन्होंने 'रामकृष्ण मिशन' व मठ' तथा 'वेदान्त सोसाइटी' की स्थापना की।

(3) स्वामी जी मानवता को दु ख और नैराश्य से मुक्त करना चाहते थे। वह यह भी चाहते थे कि मनुष्य आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो। शिक्षा इन उद्देश्यों को प्राप्त करने का साधन मात्र थी।

(4) उनके अनुसार शिक्षा मात्र विभिन्न सूचनाओं का संग्रह नहीं है वरन् व्यक्ति की आंतरिक शक्तियों का प्रगटन है।

(5) आध्यात्मिक शिक्षा के साथ-साथ स्वामी जी ने व्यावसायिक शिक्षा को भी महत्व दिया। विस्तृत अर्थ में यह उनके पाठ्यक्रम योजना का आधार था।

(6) उनके द्वारा समर्थित शिक्षण विधियों में केन्द्रीकरण, स्व-अनुभव, प्रश्नोत्तर एव सम्बंध विधि प्रमुख थी। ये विधियाँ आधुनिक परिप्रेक्ष्य में आकलन करने पर सामान्य रूप से उपयोगी सिद्ध हुई।

(7) स्वामी जी ने निम्न स्तर पर मातृभाषा द्वारा शिक्षा का समर्थन किया। उच्च स्तर पर अन्य भाषाओं का प्रयोग शिक्षा के माध्यम के रूप मे किया जा सकता है। उन्होने सस्कृत के अध्ययन पर विशेष बल दिया। उन्होने वार्षिक परीक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए विस्तृत मूल्याकन पद्धति की सिफारिश की।

(8) उनके द्वारा स्थापित सस्थाए जनतांत्रिक समाज के लिए अत्यत मूल्यवान है।

(9) शिक्षकों का शिष्यों के प्रति कठोर नैतिक आचरण एव सकारात्मक व्यवहार आवश्यक है। शिष्य का शिक्षण प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान है। अत शिक्षक और शिष्य के बीच मधुर अन्त सम्बंधों का होना नितात आवश्यक है। आत्मानुशासन को महत्व देते हुए उन्होंने भारतीय शिक्षा की विभिन्न समस्याओं के निराकरण का सुझाव दिया।

(10) स्वामी जी के विचार आदर्शवाद एव प्रगतिवाद के बीच संतुलन स्थापित करने वाले हैं तथा वर्तमान भारतीय व्यवस्था में बहुत उपयोगी है।

अभ्यंकर[9] ने **'स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों एवं दार्शनिक आधारों का परमाणु अंतरिक्ष युग' तथा 'विश्वव्यापी मूल्य संकट' के युग में मूल्य-शिक्षा के विशेष सन्दर्भ में तथा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारत में मूल्य - शिक्षा की आवश्यकता का विस्तृत, गहन एवं आलोचनात्मक विश्लेषण '** विषय पर शोध अध्ययन प्रस्तुत किया।

अध्ययन के उद्देश्य निम्न प्रकार थे-

1- विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों का विश्लेषण एवं संगठन

2- प्राचीन भारतीय दार्शनिक विचारों से विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों के उदगम का पता लगाना।

3- वर्तमान भारत में मूल्य शिक्षा की आवश्यकता का आकलन।

4- आधुनिक विश्वव्यापी मूल्य सकट और नैतिकता की चाहत के सन्दर्भ मे विवेकानन्द के 'मूल्य शिक्षा' के विचारों का विश्लेषण।

अध्ययन के निष्कर्ष इस प्रकार थे

(1) विवेकानन्द के शैक्षिक विचारो का मूल आधार अद्वैत वेदान्त था जो दार्शनिक समन्वयवादी विचार की प्रवाहक शक्ति थी।

(2) विवेकानन्द के शैक्षिक दृष्टिकोण के आकस्मिक एवं खडयुक्त प्रकाशन के बावजूद उनके शैक्षिक वक्तव्यों एव लेखों में 'आत्मानुभूति' का विचार विशेष महत्व का है।

(3) सामान्यत भारतीय दर्शन और विशेष रूप से अद्वैत वेदान्त का आधुनिक नाभिकी भौतिकी से मान्य प्रासंगिकता एवं सादृश्य सम्बंध है।

(4) विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों के अनेक पहलू प्राचीन भारतीय शिक्षा के गुरुकुल व मठ प्रणाली के आदर्श विशेषताओं के प्रभाव का उद्घाटन करते है।

(5) विवेकानन्द ने आदिशकराचार्य के बुद्धित्व एवं बुद्ध के हृदय पक्ष के बीच समन्वय स्थापित किया।

(6) विवेकानन्द सुधारक की अपेक्षा हिन्दू पुनरुद्धारक अधिक थे।

(7) सामाजिक धार्मिक समस्याओं के प्रभावशाली हल के लिए उन्होंने सुधार के बाह्य उपायों की अपेक्षा आतरिक विस्तार को विशेष रूप से प्राथमिकता दी।

(8) विवेकानन्द के शैक्षिक विचार तत्कालीन भारत की राजनीतिक और सामाजिक आर्थिक समस्याओं के शीघ्र निदान में प्रत्यक्ष रूप से और प्रमुख रूप से तीव्रगति देने वाले नहीं थे।

(9) उनका सबसे प्रमुख और गहन शैक्षिक चिन्तन अद्वैत वेदान्त की शिक्षाओं का प्रचार-प्रसार करना था जिसमे उनका दृढ विश्वास था जिसके आधार पर उन्होंने न केवल भारत अपितु सम्पूर्ण मानवता के सम्मुख सभी आधारभूत समस्याओं के स्थायी व दूरगामी हल प्रस्तुत किए।

(10) स्वामी विवेकानन्द द्वारा कहे गए कुछ शैक्षिक विचार वर्तमान भारत के शिक्षा जगत के किन्हीं विशेष दिशा एव विकास के साथ समरस होते हुए प्रतीत होते है।

(11) वर्तमान भारत मे स्कूल के प्रत्येक स्तर पर मूल्य शिक्षा की अत्यंत महत्वपूर्ण एव नितांत आवश्यकता है।

(12) शिक्षा सम्बंधी उनके वक्तव्यों व लेखन में विशेष बाह्य मूल्यों प्रेम, आत्मानुभूति, बंधुत्व , सेवा, उत्तरदायित्व, सहानुभूति, अहिंसा, कर्तव्यपरायणता, सहिष्णुता, स्वतत्रता, साहस, आत्मविश्वास, श्रम के प्रति निष्ठा, ईमानदारी, सत्य और निर्भयता को विकसित करने पर विशेष महत्व दिया गया है।

शबनम शर्मा[10] द्वारा **'स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों का आधुनिक भारतीय शिक्षा के सन्दर्भ में एक समीक्षात्मक अध्ययन'**

अध्ययन के उद्देश्य इस प्रकार थे-

1- स्वामी दयानन्द एवं स्वामी विवेकानन्द कृत मूल ग्रंथों के आधार पर उनके दार्शनिक विचारों का अध्ययन।

2- स्वामी दयानन्द एवं स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि में उनके शिक्षा दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत करना।

3- स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों का विश्लेषण एवं विवेचन करके शिक्षा के स्वरूप को प्रस्तुत करना।

4- शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करना।

5- शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु शिक्षा पद्धतियों की मीमासा करना।

6-धार्मिक विचारो के आधार पर विकसित धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा पर विचार करना।

7- दार्शनिक आधार पर एव शैक्षिक विचारो की पृष्ठभूमि मे पाठ्यक्रम पर विचार करना।

8- शैक्षिक विचारो का विश्लेषण एव विवेचन करके भारत मे एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की पुर्नस्थापना के लिए कुछ व्यावहारिक सुझाव देना।

9- स्वामी विवेकानन्द एव स्वामी दयानन्द के शैक्षिक विचारों मे सादृश्य व वैशिष्ट्य ज्ञात करना।

10- दोनों शिक्षा मनीषियो के शैक्षिक विचारों के माध्यम से भावी शिक्षकों में भारतीयता एवं भारतीय सस्कृति के प्रति जागरूकता, अनुराग एवं आकर्षण उत्पन्न करना।

अध्ययन के निष्कर्ष

यद्यपि स्वामी दयानन्द एवं स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचार उस समय प्रस्तुत किए गये थे जब देश परतंत्र था परन्तु शिक्षा सम्बंधी विचार आज भी उतने ही समीचीन हैं। इन दोनों शिक्षा विदों की दृष्टि में समाज के नव निर्माण का कार्य आध्यात्मिक मूल्यों के द्वारा ही सम्भव है। आध्यात्मिक मूल्यों का लक्ष्य है- 'स्व' की प्राप्ति। अर्थात् सात्मसाक्षात्कार। यही आत्म साक्षात्कार मोटे रूप में मुक्ति है जो मानव का लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति में शिक्षा का प्रमुख योगदान है, जिसके अभाव में हमारी सम्पूर्ण व्यावसायिक, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक उपलब्धियाँ अर्थहीन रहेंगी। स्वामी दयानन्द ने अपने शैक्षिक विचार 'सत्यार्थ-प्रकाश' में व्यक्त किए हैं और स्वामी विवेकानन्द ने अपने शैक्षिक विचार विभिन्न व्याख्यानों, कक्षालापों तथा रचनाओं के माध्यम से।

(ख) डा0 एनी बेसेण्ट के शिक्षा-दर्शन सम्बन्धी अध्ययन

वेद[11] द्वारा **'डा0 एनी बेसेण्ट का शैक्षिक दर्शन, शैक्षिक प्रयोग और भारतीय शिक्षा में उनका योगदान'** विषय पर शोध अध्ययन किया गया। इस अध्ययन का उद्देश्य भारतीय दर्शन के सन्दर्भ मे, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में और भारतीय राष्ट्रीय जीवन के लक्ष्यों के सन्दर्भ में शैक्षिक सुधारवादी दृष्टिकोण का अध्ययन करना था।

यह अध्ययन आठ अध्यायो मे विभक्त है। जिसमे प्रथम अध्याय में उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की अग्रेजों की शैक्षिक नीति, जो मैकाले द्वारा प्रतिपादितकी गयी थी, का भारतीयों पर प्रभाव, परिणाम स्वरूप राजाराम मोहन राय व देवेन्द्र नाथ टैगोर द्वारा शैक्षिक सुधारवादी आंदोलन का वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्याय में तत्कालीन सामाजिक परिवेश को प्रस्तुत किया गया है जिससे एनी बेसेण्ट का शैक्षिक दर्शन बना। तृतीय व चतुर्थ अध्याय में उनके दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक आधारों को वर्णित किया है जिनके फलस्वरूप उनके शैक्षिक विचार पनपे। वैदिक शिक्षा प्रणाली का वर्णन तथा उसको पुन· जीवित करने के लिए डा0 बेसेण्ट के प्रयासों का विवरण पंचम अध्याय में है। छठें अध्याय में एनी बेसेण्ट के उन शैक्षिक विचारों के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन है, जो वैदिक शिक्षा के पुर्नर्जागरण के वौद्रिक , नैतिक और शारीरिक प्रशिक्षण से सम्बंधित हैं। इसी अध्याय में पाश्चात्य शिक्षा सिद्धान्तों के साथ प्राचीन शैक्षिक विचारों के परस्पर सामजस्य की स्थापना पर प्रकाश डाला गया है। सातवें अध्याय में उनके स्त्री शिक्षा ग्रामीण शिक्षा, समाज शिक्षा, तकनीकी शिक्षा व शिक्षक प्रशिक्षण सम्बंधी योगदान की चर्चा की गयी है। अंतिम व आठवें अध्याय में एनीबेसेण्ट को शैक्षिक विचारक के रूप में प्रस्तुत करते हुए उनकी तुलना प्लेटो, रूसो, पेस्तॉलाजी और डीवी से की गयी है।

'एनीबेसेण्ट और गांधी जी का शैक्षिक दर्शन' विषय पर वेद[12] द्वारा अध्ययन किया गया। इस अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य एनी बेसेण्ट व मोहनदास करमचन्द्र गांधी दो समसामयिक शिक्षाविदों के शैक्षिक दर्शन का अध्ययन करना था।

एनी बेसेण्ट व गाधीजी के शैक्षिक दर्शनों के अध्ययन हेतु प्राथमिक एव गौण स्रोत के परीक्षणोपरात तुलनात्मक विश्लेषण किया गया। तदुपरांत उनके शैक्षिक दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन किया गया। इस शोध प्रबंध के कुछ मुख्य निष्कर्ष इस प्रकार थे-

एनी बेसेण्ट और महात्मा गाधी ने शिक्षा द्वारा मानवता की सेवा में अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया। उन्होंने मानववाद और समाजवाद का सन्देश अपनी संस्थाओं एवं शैक्षिक कार्यक्रमों के द्वारा प्रसारित किया। बनारस का सेंट्रल हिन्दू — कॉलेज और बेसिक शिक्षा संस्थाए भारतीय शिक्षा की प्राचीन भावना एव आधुनिक शिक्षा की विचारधारा को प्रतिबिम्बित करती हैं तथा जीवन के आध्यात्मिक एव भौतिकवादी मूल्यों को समन्वित करने में मदद की। दोनों ने प्राच्य शैक्षिक दर्शन का पाश्चात्य सस्कृति व विज्ञान के साथ समन्वय अपने अपने ढंग से करने का प्रयास किया है। उनकी दृष्टि स्पष्ट व गहन थी कि भारतीय मूल्यों की पुन स्थापना सिर्फ शिक्षाद्वाराही सम्भव है। उनके अनुसार वर्तमान काल में आवश्यकता है उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-योजना के सिद्धांतों के अनुसार कार्य करना एवं वर्तमान शैक्षिक योजनाओं के पुनर्निर्माण में उन सिद्धातों का व्यावहारिक प्रयोग करना।

यद्यपि अग्रवाल[13] के शोध अध्ययन का विषय एनी बेसेण्ट नही था। परन्तु एनी बेसेण्ट के दार्शनिक आधार 'थियोसॉफी' से सम्बंधित था। भारत में थियोसॉफिकल दर्शन , उसके शैक्षिक विचार और व्यवहार मे योगदान उसका अध्ययन विषय था। चूंकि भारत में थियोसॉफी का जो रूप व योगदान था वह वास्तव में एनी बेसेण्ट का ही योगदान था। इसीलिए अनुसंधाकर्त्री ने प्रस्तुत अध्ययन को आधार स्वरूप स्वीकार किया है इस अध्ययन का उद्देश्य थियोसॉफिकल दर्शन का दर्शन, विज्ञान, समाज व शिक्षा से सम्बंध ज्ञात करना था। अध्ययन के परिणाम इस प्रकार हैं.-

1- थियोसॉफी वास्तविकता तथा तात्विक सत्यों के उच्च स्तर से सम्बंधित है, यह न सिर्फ जीवन यापन से सम्बंधित है अपितु यह स्वयं जीवन है।

2- सभी धर्मो की उत्पत्ति समान स्रोत से हुई है अत सभी धर्मो के मुख्य सिद्धान्तो को एक धर्म के रूप मे स्वीकार किया जाये।

3- विज्ञान ने तथ्यो को प्रस्तुत किया जबकि थियोसॉफीकल दर्शन ने विधियॉ व दिशा बताई, थियोसॉफिकल दर्शन ने दिशा दिखाई लेकिन विज्ञान ने प्रक्रिया।

4- एक सच्चा थियोसॉफिस्ट एक सच्चा वैज्ञानिक था क्योंकि दोनों की उद्देश्य सत्य का अन्वेषण, सच्चा बंधुत्व, समाज के विभिन्न वर्गो की समस्याओं को कर्म द्वारा सम्पन्न करना था।

5- सभी प्रकार की शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य अन्त जगत की आवश्यकता की पूर्ति करना तथा शिक्षा के विस्तृत आधार की आवश्यकता पर बल देना।

6- भारतीय सस्कृति के पुनरुत्थान के लिए बहुत से आन्दोलन प्रारम्भ किए गये जिसमें सबसे अधिक मान्य व विधिवत् 'निम्न स्तरीय निस्पन्दन सिद्धान्त' (Downward filtration Theory) था जो राष्ट्रीयता व भारतीयता के लक्ष्य प्राप्ति के साधन के रूप मे व्यवहृत किया गया।

7- हरिजनों के लिए पृथक विद्यालय खोलकर उनको समाज में उचित स्थान दिया।

8- दिल्ली मे बालिका विद्यालय की स्थापना द्वारा महिलाओं की शिक्षा को विशेष महत्व दिया गया।

9- अन्य पहलुओ में से थियोसॉफिकल दर्शन ने पाठ्यपुस्तकों , मूल्यांकन विधियों, पाठ्यचर्चा, अनुशासन, अध्यापक छात्र सम्बंध और संगठनात्मक स्वरूप पर विशेष महत्व दिया।

10- अन्य जिन पक्षों पर प्रकाश डाला वे थे -धार्मिक, और नैतिक शिक्षा, हस्तकार्य, बिना प्रत्यक्ष भागीदारी के राजनीतिक जागरूकता, पाठ्य सहभागी क्रियायें, पाठ्यपुस्तक की उच्च स्तरीय समिति की आवश्यकता, त्रि भाषा फार्मूला की आवश्यकता जहॉ अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम है।

समीक्षा

उपरोक्त सम्बंधित अध्ययनो के सर्वेक्षण से प्रतीत होता है कि स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक योगदान तथा उनके समसामयिक विचारकों गाधी, टैगोर, दयानन्द, अरविद तिलक आदि के शैक्षिक दर्शनों पर तो यथेष्ट अध्ययन किए गये है । और सभी अध्ययनो मे विवेकानन्द के विचार और कार्य मे साम्यता दिखाई गयी है। इन सभी विचारकों का शैक्षिक दर्शन आदर्शवादी प्रवृत्ति का पोषक व महान सांस्कृतिक निरन्तरता का प्रगटन है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत के शिक्षा जगत में थियोसॉफिस्टों का योगदान भी अविस्मरणीय है। डा० एनी बेसेण्ट का भारत मे पदार्पण थियोसॉफिस्ट के रूप में हुआ और इसी के नाते उन्होने भारत में शिक्षा सम्बंधी अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। आज उनके शैक्षिक योगदान का पुनरावलोकन, चितन व व्यवहृत करने की आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत शोध प्रबंध में उनके शैक्षिक आदर्श की स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक आदर्श से तुलना की गयी है। एनी बेसेण्ट के शैक्षिक विचार की महात्मा गॉधी से तो तुलना की गयी है। परन्तु अन्य सामयिक शिक्षाविद् स्वामी विवेकानन्द से नहीं की गयी है। अत प्रस्तुत अध्ययन में स्वामी विवेकानन्द एव डा० एनी बेसेण्ट के शिक्षा दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

*****

सन्दर्भ

1- चौबे एस0पी0, भारत मे आधुनिक शिक्षा दर्शन, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, 1962 डी0लिट्

2- वर्मा के0के0, राजा राम मोहन राय से महात्मागाधी तक के आधुनिक भारत मे शैक्षिक दर्शन का विकास, पंजाब विश्वविद्यालय, पजाब 1969, पी0एच0डी0

3- दत्ता टी0एस0, अद्वैत वेदान्त और महान सार्वभौमिक हृदय बुद्ध के सन्दर्भ मे विवेकानन्द के दर्शन का अध्ययन, गोहाटी विश्वविद्यालय, गोहाटी, 1970, पी0एच0डी0

4- पुथियथ जे0डी0, स्वामी विवेकानन्द का शैक्षिक दर्शन, बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई, 1978,पी0एच0डी0

5- नैर वी0एस0, स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचार , केरल विश्वविद्यालय , केरल, 1980, पी0एच0डी0

6- भाखा एस0एम0, स्वामी विवेकानन्द एवं लोक मान्य तिलक के शैक्षिक दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, सागर विश्वविद्यालय, सागर, 1983, पी0एच0डी0

7- गुप्ता आर0पी0, स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक दर्शन का अध्ययन, रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली, 1985, पी0एच0डी0

8- मिश्रा शिवसरन, स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक दर्शन और शिक्षण विधि का आलोचनात्मक अध्ययन, अवध विश्वविद्यालय, अवध, 1986, पी0एच0डी0

9- अभ्यंकर एस0वी0, स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक व दार्शनिक आधार का एवं 'वर्तमान अन्तरिक्ष युग' व 'विश्वव्यापी मूल्य संकट' के युग में मूल्य-शिक्षा की आवश्यकता का विस्तृ , महन एवं आलोचनात्मक अध्ययन, पूना विश्वविद्यालय, पूना, 1987, पी0एच0डी0

10- शर्मा शबनम, स्वामी विवेकानन्द एव स्वामी दयानन्द के शैक्षिक विचारों का आधुनिक भारतीय शिक्षा के सन्दर्भ मे एक समीक्षात्मक अध्ययन, चौ0 चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ, 1995, पी0एच0डी0

11- वैद एन0के0, डा0 एनी बेसेण्ट का शैक्षिक दर्शन, शैक्षिक प्रयोग और भारतीय शिक्षा मे उनका योगदान, अहमदाबाद विश्वविद्यालय, अहमदाबाद, 1971, पी0एच0डी0

12- वैद एन0के0, एनी बेसेण्ट और गांधी का शैक्षिक दर्शन, रांची विश्वविद्यालय, रॉची, 1985, डी0लिट्0

13- अग्रवाल, यू0आर0 , थियोसॉफिकल दर्शन, भारत में शैक्षिक विचार व व्यवहार मे योगदान, पटना विश्वविद्यालय, पटना , 1977.

*************************' ***************************

अध्याय-3

स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनीबेसेण्ट का जीवन वृत्त एवं कृतित्व

****

स्वामी विवेकानन्द

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

श्रीमद्भगवद्गीता के उपरोक्त वचनानुसार ससार मे जब जब धर्म का ह्रास व अधर्म की वृद्धि होती है तब तक मनुष्य जाति के उद्धार के निमित्त भगवान अवतरित होते है। गीता के इन वचनो की पुष्टि के अनेक उदाहरण देखे गये है। यूरोप में जिस समय रोम साम्राज्य मे ऊँच-नीच का भेद प्रबल हो गया था, विलास और व्यभिचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचने लगा, धर्म के नाम पर अधर्म का बोलबाला होने लगा, रोम के नेता इन्द्रिय दास एवं भोगलोलुप होने लगे, तब अधर्म के विरुद्ध दुर्बल एव पीड़ितो की रक्षार्थ प्रतिक्रिया स्वरूप एक नवीन शक्ति का स्फुरण ईसामसीह के रूप में हुआ। इस अपूर्व दिव्य शक्ति ने ग्रीस एव रोम की सभ्यता को बर्बरता के पाश से विमुक्त कर मानव प्रेम का शुभ सकेत दिया।

भारत मे भी जब जब क्रमागत परिवर्तन तथा भिन्न भिन्न परिस्थितियों के कारण नए सामाजिक सामजस्य की आवश्यकता हुई तब तब एक शक्तितरंग आई जिसने मनुष्य के आध्यात्मिक और भौतिक क्षेत्रो में विचरण कर दोनों मे समन्वय स्थापित किया। ऐसी ही शक्ति तरंग थे स्वामी विवेकानन्द।

नित्य आत्मा का नश्वर शरीर में धारण

दिव्य शक्ति के आर्विभाव से लेकन तिरोभाव तक के समस्त क्रिया कलाप साधारण व्यक्ति से भिन्न होते है। जैसा कि इनके जन्म के सम्बध मे स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने स्वानुभूति के आधार पर कहा था कि नरेन्द्र आकाश मण्डल के सप्तर्षि मण्डल के एक ऋषि है। जो ससार के जीवों के कल्याण की कामना से अवतरित हुए है।

इनके दिव्यत्व की पुष्टि का एक आधार और है। नरेन्द्र की माता भुवनेश्वरी देवी पुत्र की कामना से प्रात साय शिवमंदिर मे प्रार्थना किया करती थीं। उन्होने अपने परिवार की

एक वृद्ध महिला से पुत्र प्राप्ति हेतु काशी मे पूजा एव होम भी करवाया। एक दिन भुवनेश्वरी देवी शिव मंदिर मे सुबह से शाम तक पूजा करती रही और ध्यान मे तन्मय हो गयी। उसी दिन रात मे उन्होने स्वप्न मे तुषार धवल कैलाशपति को सामने खडे देखा। धीरे धीरे दृश्य बदला और भगवान शिव ने एक छोटे शिशु का रूप धारण कर माता की गोद मे शरण ली।

यह सपना साकार हुआ 12 जनवरी 1863 ई0 पोष कृष्ण सप्तमी सोमवार को। पौष सक्रांति का पुण्य प्रभात कुहरे से आच्छादित था। शीत से ठिठुरते हुए नर-नारियों के दल मकर सप्तमी के स्नान के लिए भागीरथी की ओर जा रहे थे। इसी समय सूर्योदय से छ मिनट पूर्व छ बजकर तैतीस मिनट तैतीस सेकण्ड पर भुवनेश्वरी देवी ने विश्वविजयी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जन्म की सूचना पाकर दत्त भवन आनन्दोल्लास एव हर्षकोलाहल से प्रफुल्लित हो उठा। नारीगण मगलशख ध्वनि करने लगे। बगाल के घर घर मे पोष पर्व का आनन्दोत्सव मानो नवजात शिशु की सादर अभ्यर्थना करने के लिए बालक बालिकाओ के आनन्द कोलाहल से मुखरित हो उठा।

कलकत्ते के शिमुलिया मुहल्ले मे विश्वनाथ दत्त एव भुवनेश्वरी देवी की प्रथम पुत्र सन्तान के रूप मे जन्मे शिशु को देखकर किसने सोचा होगा कि यह शिशु एक दिन विशाल वटवृक्ष की भाँति अनेकों सतप्त लोगों को सुख व आश्रय प्रदान करेगा? जिसके व्यक्तित्व का प्रभाव देशकाल की मर्यादा के भीतर सीमाबद्ध नहीं रहेगा, जो भिन्न भिन्न परिस्थितियों में पले, नरनारियो के प्राणों में मानवात्मा की शाश्वत महिमा, सत्य-न्याय-मैत्री की सजीव प्रेरणा एव लोक कल्याण साधन करने की स्फूर्ति जगाता रहेगा। इस कमनीय कांति देव शिशु का बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ रक्खा गया। माता-पिता प्यार से बिले कहते थे। नरेन्द्र नाथ को विरासत में प्रकाण्ड विद्वता एवं त्याग दोनों गुण प्राप्त हुए। इनके पितामह श्री दुर्गाचरण दत्त फारसी एवं संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे और अपने पिता श्री राम मोहन दत्त के कानून के पेशे में भी दक्षथे। परन्तु अपने पुत्र विश्वनाथ दत्त के जन्म के शीघ्र बाद वे सन्यासी बन गए। घर छोड़ने के

बाद वह फिर लौटकर घर नहीं आये। कदाचित यह उन आने वाली घटनाओं का सूचक था जिनमे उनका पौत्र अविवाहित रहकर सन्यासी बना।

नरेन्द्र नाथ के पिता विश्वनाथ दत्त पर अपने पितामह श्री राम मोहन दत्त का एव नरेन्द्र पर अपने पितामह श्री दुर्गा चरण दत्त का प्रभाव अधिक था। श्री राम मोहन अंग्रेज सालिसिटर के सहयोगी एव प्रबंध क्लर्क के रूप मे कार्य करते थे।

नरेन्द्र नाथ के पिता विश्वनाथ दत्त ने अपने पितामह के पेशे को अपनाया। कलकत्ता उच्च न्यायालय मे 'अटर्नी एट लॉ' के रूप मे उनकी वकालत खूब चलती थी। उस समय की पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित विश्वनाथ रूढिवादी हिन्दू नहीं थे। इन्होंने पाश्चात्य साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया था। फलस्वरूप नरेन्द्र को पाश्चात्य ज्ञान और अन्य देशों की संस्कृति का परिचय दिया। इसके साथ साथ उदार-चिंतन जिज्ञासा, ईमानदारी तथा निर्भीकता जैसे गुण भी नरेन्द्र नाथ के रोम रोम मे व्याप्त किए । विश्वनाथ जी महान संगीत प्रेमी थे। अत उन्होने अपने पुत्र को भी सगीत की ओर उत्साहित किया तथा अपने पुत्र की संगीत प्रतिभा को देखकर उन्हे दो सुविख्यात सगीतकारों- अहमद खाँ और वेणी माधव से सगीत का प्रशिक्षण दिलवाया। डुग्गी, तबला और पखावज की शिक्षा पं0 काशी नाथ घोषाल से दिलवाई। नरेन्द्र नाथ की माता धार्मिक रूढिवादी हिन्दू महिला थीं। माता द्वारा सुनाई गयी महाभारत और रामायण की कहानियो का उनके मन पर अमिट प्रभाव पडा। इस प्रकार नरेन्द्र के ऊपर रूढिवादिता और आधुनिकता दोनों प्रकार की विचारधाराओ का प्रभाव पड़ा बाद मे इन्होंने इन दोनों विचारधाराओं मे सामंजस्य स्थापित करना अपने जीवन लक्ष्य का एक महत्वपूर्ण अंग बना लिया।

बाल्यावस्था से ही नरेन्द्रनाथ बड़े मेधावी, बुद्धिमान, निर्भीक, साहसी, मित्रप्रिय एवं श्रुतिधर स्मृतिधर भी थे। एक बार जो बात पढ़ या सुन लेते थे। वह सदा के लिए स्मृति पटल पर अंकित हो जाती थी। अपने इस गुण के कारण यह अपनी पढ़ाई जल्दी कर लेते थे और शेष समय शरारतें व नटखट में व्यतीत करते थे। इससे इनकी माता

भी खीझ जाती थीं और कहती थीं 'काफी सिर धुनकर शिवजी के पास से एक पुत्र माँगा था, पर उन्होंने भेज दिया एक भूत।'

इन विलक्षणताओ के अतिरिक्त नरेन्द्र नाथ मे एक और गुण था ध्यानपरायणता। इस सम्बध में प्रचलित कहानी से इस विशेषता का सबूत मिल जाता है। एक बार वह अपने साथियो के साथ खेल-खेल मे मकान के तिमजिले पर शिवजी की मूर्ति के सामने ध्यान करने बैठे। थोडी देर बाद एक बालक 'साँप साँप' कहकर चिल्ला उठा। साथ के सभी बालक दरवाजे खोलकर निकल आये। किन्तु नरेन्द्र नाथ ध्यान मग्न बैठे रहे। . कुछ समय बाद साँप अपना फन समेटकर चला गया।. जब नरेन्द्र का ध्यान भग नहीं हुआ तब उसके मित्रो ने उससे पूछा कि इतनी आवाज देने पर भी वह क्यो उठे? इस पर नरेन्द्र का उत्तर था- 'मुझे तो कुछ भी पता नहीं चला।'

नरेन्द्र के व्यक्तित्व की एक अन्य विशेषता थी वैराग्य जीवन के प्रति प्रेम। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि जब कोई साधु उनके द्वार पर आता था तो वह बहुत खुश होते और जो कुछ उनके पास होता था उसे भिक्षा दे देते। इसका परिणाम यह हुआ कि जब कोई साधु संन्यासी दिखायी देता तो उनके घर वाले उन्हे कमरे मे बंद कर देते थे किन्तु साधुओ को सामान देने से उन्हे कोई रोक न सका और वह कमरे मे जो कुछ मिलता उसे खिडकी से साधु को दे देते थे। हो सकता है यह प्रभाव उनके दादा जी की उन कहानियों का हो जो वह बचपन मे अपने दादाजी के सन्यास लेने और साधुओ की उपस्थिति में खुश होने के बारे मे सुना करते थे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संन्यास लेने की यह भावना या लौकिक माया मोह से विरक्ति उनकी अन्तरात्मा का अग थी।

स्वामी विवेकानन्द की अन्तरात्मा की एक अन्य पुकार थी दीन दुखियो के कष्ट को देखकर द्रवित होना । और जो कुछ पास मे होता उसे देकर वह सतोष का अनुभव करते। कुछ न मिलने पर अपने शरीर के वस्त्र ही दे देते। दुखियो के दु.ख

कष्टों को वह अपने अंत करण से अनुभव करते और उसे दूर करने का उपाय सोचते सोचते उनका चित्त व्यग्र हो उठता। दीन, दलित व उपेक्षितों का कल्याण करना यही मानो उनका जीवन व्रत था। अमेरिका से लिखे पत्र द्वारा उनके इस जीवन व्रत की पुष्टि मिलती है- 'जो लाख लाख उपेक्षित नर नारी दिन प्रतिदिन दु ख के अंधेरेगर्त मे अधिकाधिक डूबते जा रहे है, जिन्हे सहायता देने वाला या जिनके बारे मे सोचने वाला कोई नहीं, जो दीन हीन एव पीडित है, उनके द्वार तक सुख-स्वच्छन्दता, धर्म, नीति एव शिक्षा ढोकर पहुँचा देना होगा। यही मेरी आकाक्षा और यही मेरा व्रत है। मै इसे पूरा करूँगा या मृत्यु का वरण करूँगा।'

नरेन्द्रनाथ की मनोवृत्ति प्रारम्भ से ही अपने जीवन के आध्यात्मिक पक्ष का विकास करने की दिशा मे अधिक थी। परन्तु धर्म शास्त्रो की अकाट्य उक्तियो मे उनकी अंधी आस्था नही थी। वह तर्क मे बहुत विश्वास रखते थे। उन्होंने अपने बाल्यकाल से ही सभी रूढियों या धार्मिक उक्तियो को सच्चाई और यथार्थता की कसौटी पर परखना शुरू कर दिया था। उनके इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझने के लिए आरम्भिक जीवन की इस घटना का उल्लेख समीचीन होगा।

नरेन्द्र के पिताजी के पास विभिन्न जातियो के लोग आते थे । अत हिन्दू व मुस्लिम जाति के मुवक्किल जाति के लोगों के लिए अलग अलग हुक्के का प्रबंध था। उन्हे बताया गया कि अगर एक ही हुक्के से सभी जाति के लोग हुक्का पीएगे तो जाति भंग हो जायेगी तथा बड़ी आपदाए उठानी पड़ेंगी, अत उन्होने इस बेतुकी धारणा को आजमाने का निश्चय किया। उन्होंने पूरे कमरे में घूमकर मुसलमानों सहित सब हुक्कों में से एक एक घूँट भर ली और उनमे कोई परिवर्तन न हुआ। जब उन्हे डाँट फटकार पड़ी तो उन्होंने शात भाव से उत्तर दिया 'मैं इस बात की परीक्षा कर रहा था कि अगर जाति भेद न मानूँ तो मेरा क्या होगा।' [2]

औपचारिक शिक्षा-काल

नरेन्द्र ने जब छठे वर्ष मे प्रवेश किया तो नियमानुसार उन्हें पाठशाला भेजा गया। किन्तु थोडे ही दिनो में सहपाठियों से बुरी बातें सीखते देख उनके पिता विश्वनाथ दत्त ने उनका पाठशाला जाना बद करा दिया और घर पर ही शिक्षक नियुक्त कर उनकी शिक्षा की व्यवस्था कर दी। सात वर्ष की आयु मे नरेन्द्र को मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट में भरती किया गया। प्रारम्भ में तो नरेन्द्र को बड़ी कठिनाई हुई। पग पग पर उनकी स्वाधीनता संकुचित होने लगी। वे एक तरह से बहुत देर तक बैठे नहीं रह सकते थे। कभी बैठते कभी बिना कारण कमरे से दौड़कर बाहर चले जाते। कभी कभी जब कुछ करने को न मिलता , तब अपने शरीर का वस्त्र या पुस्तक ही फाड़ डालते। इससे इनके शिक्षकगण भी अक्सर परेशान हो जाते थे और यह जानकर कि नरेन्द्र नाथ शासन की कठोरता से नियंत्रित होने वाला नहीं है, वे उन्हें मीठी बोली से शांत करते। चंचल प्रकृति के होने पर भी नरेन्द्र के चरित्र मे बचपन से ही अनेक असाधारण वैशिष्ट्य देखने को मिलते हैं।

विद्यालयीय शिक्षा के साथ साथ नरेन्द्र खेलकूद, तैराकी , व्यायाम, नाटक आदि में भी भाग लिया करते थे। और सभी में प्रथम स्थान प्राप्त करते थे। इस प्रकार प्रारम्भ से ही नरेन्द्र अपने सहपाठियों के नेता थे। परवर्तीकाल में स्वामी विवेकानन्द कहते भी थे-

'ठोंक- पीटकर किसी को नेता नहीं बनाया जा सकता, जो नेता होता है, वह नेता बनकर ही जन्मता है।'[3]

यद्यपि नरेन्द्र ने अपनी औपचारिक शिक्षा में कभी भी विशेष योग्यता प्राप्त नहीं की परन्तु वह अपनी असाधारण मेधा व असीम शक्ति व कर्मठता के कारण अपने सहपाठियों एवं गुरुजनों के प्रिय भाजन बन गये। इसका ज्वलंत उदाहरण श्री व्रजेन्द्रनाथ

शील[1] के इस कथन से विदित होता है।

'जब मै विवेकानन्द से पहली बार मिला था उस समय वह और मै जनरल एसेम्बलीज कालिज में विद्वान, तत्वज्ञानी और कवि प्रधानाचार्य विलिमय हेस्टी के सहछात्र थे। आयु मे वह मुझसे बडे थे, हालाकि कक्षा मे मै उनसे एक वर्ष आगे था। नि सन्देह वह एक प्रतिभाशाली, मिलनसार, स्वच्छन्द और व्यवहार मे आधुनिक, सुरीले गायक, मित्रों के प्राण, चतुर सवादी और तीव्र व्यगबाणो से सासारिक आडम्बन-बिडम्बनों पर प्रहार करने वाले कभी कभी कटु और तीखे , लौकिकता की निंदा करने वाले, किन्तु वीतरागी के उस वेश में भी अत्यत सहृदय, सर्वथा एक अनुप्राणित बोहेनियन किन्तु दृढ़ इच्छा के धनी, अधिकारिक विद्वान की तरह बोने वाले अचल और पूर्ण ज्ञानी थे एवं उनके नेत्रो मे अद्भुत ज्योति थी जो श्रोताओं को मत्रमुग्ध रखती थी।'[4]

प्रथम आध्यात्मिक अनुभूति

नरेन्द्र की शिक्षा दीक्षा सदा उच्च कोटि की संस्थाओं में हुई। जब नरेन्द्र चौदह वर्ष के थे तब इनको पेट का रोग हुआ एवं इनका स्वास्थ्य क्षीण हो गया। इसी समय सन् 1877 में इनके पिता अपने काम के सम्बंध में मध्यप्रदेश में स्थित रायपुर गये थे। पुत्र नरेन्द्र की अस्वस्थता देखकर स्वास्थ्य लाभ की आशा से उन्होंने नरेन्द्र को अपने पास रायपुर बुला लिया। जब ये अपने पिता के पास रायपुर बैलगाड़ी से जा रहे थे उस समय भारतमाता के वैचित्र्य बहुलरूप ने नरेन्द्र नाथ के तरुण मन पर जादू कर दिया। मार्ग के दोनों ओर आकाश को चूमती हुई पहाड़ की चोटियों, फल और फूलों के भार से लदी वृक्षलताओं एवं रंग विरंगे पक्षियों के मधुर कलरव ने किशोर नरेन्द्र नाथ के कविहृदय में सुन्दरता के प्रति अपूर्व आकर्षण उत्पन्न कर दिया। प्रकृति के इस अनुपम दृश्य को देखकर एवं ईश्वर की अनन्त उपलब्धि का चिंतन करते करते नरेन्द्र नाथ का मन बाह्य ज्ञान से लुप्त हो असीम भाव में डूब गया। प्रबल कल्पना की सहायता से ध्यान राज्य में विचरणकरते हुए पूर्ण रूप से तन्मय हो जाने का नरेन्द्रनाथ के जीवन में, सम्भवतः यह पहला अवसर था।

1- ब्रजेन्द्र नाथ शील (प्रख्यात दार्शनिक और मैसूर विश्वविद्यालय के कुलपति) द्वारा लिखित 'प्रबुद्धभारत' , 1907

रायपुर में उस समय स्कूल नहीं था। अत विश्वनाथ जी ने स्वयं अपने पुत्र को शिक्षा दी। वे पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त इतिहास, दर्शन और साहित्य सम्बंधी पुस्तके भी अपने पुत्र नरेन्द्रनाथ को पढाते थे। इनके घर पर रायपुर के गुणी व ज्ञानी व्यक्ति आया करते थे। और विविध विषयों पर चर्चा एव वाद विवाद किया करते थे। नरेन्द्र नाथ के पिता भी कभी कभी उन्हें वाद-विवाद मे सम्मिलित होने के लिए बुलाते थे एव अपनी राय देने के लिए निर्देश देते थे। यद्यपि नरेन्द्र की आयु कम थी फिर भी उनके युक्तिपूर्ण विचारों को सुनकर बड़े बूढे ज्ञानी जन आनन्दित हो जाते थे। एक दिन विश्वनाथ दत्त जी बंग साहित्य के सुप्रसिद्ध लेखक के साथ बंग साहित्य के बारे मे वाद-विवाद कर रहे थे। इसी समय पिता ने नरेन्द्र नाथ को भी वाद विवाद में सम्मिलित होने के लिए बुला लिया। थोड़े ही समय में साहित्यकार महोदय ने नरेन्द्रनाथ की प्रखर बुद्धि व विपुल ज्ञान को समझ लिया और उन्होंने विस्मय एवं आनन्द के साथ नरेन्द्र से कहा, 'बेटा' आशा है, एक दिन तुम्हारे द्वारा बंग भाषा गौरवान्वित होगी।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वामी जी द्वारा लिखित 'वर्तमान भारत' , 'परिव्राजक', 'भाववारकथा','प्राच्य और पाश्चात्य' आदि ग्रंथों ने आज उन महोदय की भविष्यवाणी को सत्य प्रमाणित कर दिया है। इस प्रकार नरेन्द्र नाथ पिता के सानिध्य मे रायपुर में दो वर्ष तक रहे जिससे उन्हें न केवल ज्ञान लाभ हुआ अपितु उनके किशोर चरित्र पर पिता की महानता की भी गहरी छाप पड़ी। तेजस्विता, पर दुख कातरता , विपत्ति में भी धैर्यपूर्वक कार्य करते रहना, ये सब गुण उन्होंने अपने पिता से ही ग्रहण किए थे।

नरेन्द्र नाथ ने पिता के साथ रायपुर में रहते हुए एक और कला सीखी थी वह थी पाक कला। अतः प्रायः वह अपने मित्रों को बुलाकर अपने हाथ से स्वादिष्ट भोजन बनाकर खिलाते थे। और यह आजीवन पाकशास्त्र के प्रेमी रहे। विश्वविख्यात स्वामी विवेकानन्द बनकर भी उन्होंने इस कला के प्रति प्रेम न छोड़ा। अमेरिका निवास के समय भी यह कभी कभी रसोई बनाकर अपने शिष्यों को खिलाकर आनन्द का अनुभव करते थे।

लगभग दो वर्ष के बाद सन् 1879 में नरेन्द्र नाथ शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य लाभ कर कलकत्ते अपने मित्रों के बीच पहुँचे। कुछ कठिनाई के बाद इनका प्रवेश प्रवेशिका श्रेणी में हो गया। चूँकि यह रायपुर में अपनी पाठ्यपुस्तकों के अलावा दर्शन, साहित्य आदि का अध्ययन करते रहते थे अत. इन्होंने दो वर्ष का पाठ्यक्रम 1 वर्ष मे ही समाप्त कर प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। स्कूल के अधिकारीगण उनकी इस सफलता से विशेष रूप से प्रसन्न हुए क्योंकि वह ही एकमात्र छात्र थे जिन्होंने प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर स्कूल का गौरव बढ़ाया था।

<u>असाधारण वक्तृता शक्ति का परिचय</u>

प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद नरेन्द्र नाथ ने प्रेसिडेंसी कॉलेज में प्रवेश लिया। परन्तु एक वर्ष बाद ही इस कॉलेज को छोड़कर जनरल एसेम्बलीज इंस्टीट्यूशन में एफ0 ए0 में प्रवेश लिया। इनकी असाधारण वक्तृता का परिचय उस समय मिलता है जब यह कॉलेज में पढ़ते थे। इस समय एक माननीय अध्यापक अवकाश ग्रहण कर रहे थे। उनके विदाई समारोह का आयोजन किया गया। इस समारोह की अध्यक्षता देश विख्यात सुवक्ता सुरेन्द्र नाथ वनर्जी कर रहे थे। बनर्जी महोदय के सामने भाषण देने का किसी को साहस न हो रहा था अतः सभी के अनुरोध करने पर नरेन्द्र नाथ ने शिक्षक के प्रति अपने स्वाभाविक उद्‌गार सुमधुर कण्ठ से सुन्दर अंग्रेजी भाषा में मुखरित किए। इन उद्‌गारों को सुनकर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी महोदय ने नरेन्द्रनाथ की वक्तृता शक्ति की भूरि भूरि प्रशंसा की। इससे स्पष्ट होता है कि जिन महामानवों ने मानवजाति के कल्याण के लिए जो अथक परिश्रम किया है उसकी झलक एवं असाधारणत्व उनके बचपन के कार्यो से ही प्रकट होता है। सन् 1881 में नरेन्द्रनाथ ने फर्स्ट आर्ट्स परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की। एफ0ए0 की परीक्षा देने के पहले ही नरेन्द्र नाथ ने 'मिल' तथा पाश्चात्य नैयायिकों के मतवाद का ज्ञान प्राप्त कर लिया था तथा 'ह्यूम' एवं 'हर्बर्ट स्पेन्सर' के दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था।

जनरल असेम्बली कालेज के अध्यक्ष विलियम हेस्टी महोदय ज्ञानी, कवि एवं दार्शनिक थे। नरेन्द्र तथा ब्रजेन्द्र नाथ शील आदि कुछ प्रतिभाशाली छात्र उनके विशेष

प्रिय थे। वे उनके पास नियमित रूप से दर्शन शास्त्र का अध्ययन करते थे। हेस्टी साहब नरेन्द्र नाथ को इतना अधिक चाहते थे कि एक दिन उन्होंने कालेज की 'आलोचना सभा' मे नरेन्द्र के दार्शनिक मत विश्लेषण से संतुष्ट होकर कहा था- 'यह (नरेन्द्रनाथ) दर्शन शास्त्र के अत्युत्तम छात्र है। जर्मनी और इंग्लैण्ड के सारे विश्वविद्यालयों में ऐसा एक भी छात्र नहीं है जो इनके समान मेधावी हो।'[5]

सत्य प्राप्ति की जिज्ञासा

पाश्चात्य विज्ञान और दर्शन शास्त्रों की आलोचना ने नरेन्द्र के हृदय में विराट द्वन्द्व उत्पन्न कर दिया। उनका जन्मगत संस्कार और हृदय में गहराभिदा हुआ विश्वास चारों ओर की स्थिति के संघर्ष में आकर डगमगाने लगा। डेकार्ट का अहंवाद , ह्यूम और बेन की नास्तिकता, डार्विन का विकासवाद, और स्पेन्सर का अज्ञेयवाद इत्यादि विभिन्न दार्शनिकों की विचारधारा में इतस्ततः बहते हुए नरेन्द्र नाथ सत्य की प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उठे। इनकी इस मानसिक स्थिति को देखकर इनके मित्र ब्रजेन्द्रनाथ शील जी ने इन्हें शैली की कविताओं, हेगेल के दर्शन, और फ्रांसीसी विप्लव के इतिहास का अध्ययन करने की सलाह दी। बढ़ती हुई ज्ञान पिपासा लेकर नरेन्द्र जितना अग्रसर हुए, उतना ही वे एमझने लगे कि परम सत्य को दार्शनिक सूक्ष्म तत्वों की मीमांसा से प्राप्त नहीं किया जा सकता। परन्तु सत्य प्राप्ति का क्या उपाय है? पंचेन्द्रिय ग्राह्य जड़ जगत को परिचालित करने वाला क्या कोई शक्तिमान पुरुष है या नहीं? इस मानव जीवन का उद्‌देश्य क्या है? अतीन्द्रिय राज्य के इस प्रकार के रहस्यमय प्रश्नों ने धीरे धीरे नरेन्द्र नाथ के मानस पटल पर प्रश्न चिन्ह अंकित कर दिया। जब कभी कोई धर्म प्रचारक धर्म या ईश्वर के सम्बंध में भाषण देते, तो नरेन्द्रनाथ अपने अशांत हृदय की व्याकुलता से प्रश्न करते, 'महाशय, क्या आपने ईश्वर के दर्शन किए हैं?' परन्तु

कोई भी उपदेश कर्ता ऐसा न मिला जिसका उत्तर सकारात्मक हो। सभी प्रचारक धर्मग्रन्थों की बात को ही दुहराते थे। फलस्वरूप नरेन्द्रनाथ ने हृदय के अन्तस्तल से जान लिया कि चारों ओर से अविद्या से घिरे हुए, अपनी समझ में बड़े बुद्धिमान बने हुए और स्वयं को पंडित मानने वाले वे मूढ़ अंधे के नेतृत्व मे चलने वाले अंधों के समान अनेक कुटिल रास्तों पर भटकते रहते है।[1]

सत्यान्वेषण की प्रेरणा से नरेन्द्रनाथ ब्रह्म समाज की ओर आकृष्ट हुए। इन्होंने राजाराम मोहनराय द्वारा लिखित पुस्तकों एवं लेखों का अध्ययन किया। इस समय ब्रह्म समाज दो धाराओं में विभक्त था। एक महर्षि देवेन्द्रनाथ द्वारा संचालित 'आदि समाज' और दूसरा केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व वाला 'भारतवर्षीय ब्रह्म समाज'। 'आदि समाज' महर्षि देवेन्द्रनाथ की स्व अनुभूति और सहज ज्ञान पर प्रतिष्ठित था। जबकि 'भारतवर्षीय ब्रह्म समाज' पर पाश्चात्य अन्यनिरपेक्ष व्यक्तिस्वातन्त्र्यवाद का प्रभाव था। यह नवीन ब्रह्म समाज अनेक सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने में लगा था। इसके ही प्रयत्न से असवर्ण विवाह की प्रथा प्रारम्भ हुई तथा इस प्रकार के विवाह को सन् 1872 में तीसरे कानून द्वारा स्वीकृति प्राप्त हो गयी। केशव चन्द्र उस समय के बहुत अच्छे वक्ता थे और उनकी ख्याति शिखर पर थी। बंगाली शिक्षित नौजवान उनसे बेहद प्रभावित थे। रोमां रोला का कथन है कि नरेन्द्र नाथ उनसे ईर्ष्या करते थे और स्वयं केशव बनने की महत्वाकांक्षा रखते थे। लेकिन नरेन्द्रनाथ 'अखिल भारतीय ब्रह्म समाज' के सदस्य नहीं बने। कारण था कि भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज राजाराम मोहन राय के आदर्श और परम्परा से हटकर ईसाइयत के रंग में रंगा हुआ था और उनका चलन सनातन हिन्दू धर्म की उच्चतम मान्यताओं के प्रतिकूल था। लेकिन नरेन्द्र की बचपन से ही इन मान्यताओं में आस्था थी। संदेहवादी होते हुए भी उनमें अन्य नौजवानों की सी उच्छृंखलता और अराजकता न थी। अतः नरेन्द्रनाथ 'आदि ब्रह्म समाज' के सदस्य बन गये। यह ब्रह्मसमाज की रविवासरीय उपासना में शामिल होते थे और अपने सुमधुर कंठ से ब्रह्म संगीत सुनाकर

1- अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।। कठो0 1/2/5

सदस्यों का मन मुग्ध किया करते थे। पर उपासना के विषय मे वह दूसरे सदस्यों से सहमत नहीं थे। उन्हें ब्रह्म समाज मे त्याग और धर्मनिष्ठा की कमी महसूस होती थी। वह जो कुछ देखते थे उसकी निर्भीक आलोचना करते थे। उनका मन अब भी अशान्त था। उन्हे जिस जीते जागते सत्य की खोज थी वह वहाँ भी दिखाई नहीं पड़ा। एक दिन महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हे उपदेश देते हुए कहा 'तुम्हारे अग प्रत्यग मे योगियों के चिन्ह मौजूद हैं। ध्यान करने से ही तुम्हें शांति और सत्य की प्राप्ति होगी।'

नरेन्द्र लगन के पक्के थे। अत. उसी दिन से ध्यानानुराग मे रंग गये। कम खाना, चटाई पर सोना, सफेद धोती और चादर पहनना तथा शारीरिक कठोरता का पालन करना उनका नियम बन गया। अपने पिता के मकान में शांतिमय वातावरण न मिल पाने के कारण उन्होंने घर के पास नानी के मकान में एक कमरा ले लिया। और यहाँ पर वह अध्ययन, संगीत, धर्म, दर्शन आदि की चर्चा करने के उपरांत शेष समय साधना तथा भजन में व्यतीत करने लगे। सत्येन्द्रनाथ मजूमदार ने नरेन्द्रनाथ की इस समय की मनः स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है।

'इस प्रकार दिन पर दिन बीतते गये, पर सत्य को जानने की उनकी इच्छा तृप्त तो हुई नहीं, अपितु अधिकाधिक बढने लगी। धीरे-धीरे उन्होंने समझा कि अतीन्द्रिय सत्य को प्रत्यक्ष करने के लिए एक ऐसे व्यक्ति के चरणों के पास बैठकर शिक्षा लाभ करना आवश्यक है, जिसने स्वयं उस सत्य का साक्षात्कार किया है। उन्होंने अपने मन-प्राण से, यह भी निश्चय कर लिया कि इसी जीवन में सत्य को प्राप्त करना होगा। नहीं तो इसी प्रयत्न में प्राण दे देने होंगे।'[5]

गुरू का प्रथम दर्शन

इसी समय नरेन्द्र नाथ के एक पड़ोसी मित्र श्री सुरेन्द्रनाथ मित्र ने दक्षिणेश्वर के

पुजारी रामकृष्ण परम हंस जी को अपने घर बुलाया और इस उपलक्ष में एक आनन्दोत्सव का आयोजन किया। कोई अच्छा गायक न मिल सकने के कारण उन्होंने नरेन्द्रनाथ को बुलाया और उनसे गाने के लिए कहा।

इस प्रकार स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी से नरेन्द्रनाथ का प्रथम साक्षात्कार सुरेन्द्रनाथ मित्र के यहाँ नवम्बर 1881ई0में हुआ। गाना सुनते हुए परमहंस जी ने युवक की प्रतिभा को पहचान लिया।उन्होनें नरेन्द्र से दक्षिणेश्वर आने का अनुरोध किया। इस समय नरेन्द्र नाथ एफ0ए0 की परीक्षा की तैयारी में व्यस्त थे अत॰ वह दक्षिणेश्वर जाने की बात भूल गये। परीक्षा समाप्ति पर पिता ने इनके विवाह की बात चलाई। इनके भावी ससुर दहेज में काफी धन देने को तैयार थे। परन्तु नरेन्द्र इस झंझट में नहीं पड़ना चाहते थे। वह अपने मित्रों से कहते थे। 'मैं विवाह नहीं करूँगा, और तुम लोग देखोगे कि मैं क्या बनता हूँ।' नरेन्द्र के पिता बेटे पर किसी प्रकार का दबाब नहीं डालना चाहते थे अतः उन्होंने इस मामले में नरेन्द्र की राय लेने का कार्य अपने एक सम्बंधी डा0 राम चन्द्र दत्त को सौंपा। जब डा0 रामचन्द्र दत्त ने नरेन्द्र से पूछा तो नरेन्द्र ने साफ कह दिया कि मैं विवाह के बंधन में नहीं पड़ूँगा। क्योंकि मैंने जीवन का जो उद्देश्य बना रक्खा है, विवाह उसमें बाधक होगा। उत्तर सुनने के उपरांत रामचन्द्र ने कहा, 'यदि वास्तव मे सत्य की प्राप्ति ही तुम्हारे जीवन का उद्देश्य है तो ब्रह्म समाज आदि में भटकना व्यर्थ है। तुम दक्षिणेश्वर में श्री रामकृष्ण देव के पास जाओ।' तब नरेन्द्र को सुरेन्द्रनाथ मित्र के मकान पर श्री रामकृष्ण परमहंस से हुई भेंट का स्मरण आया और वह अपने तीन चार मित्रों के साथ दक्षिणेश्वर पहुँचे श्री रामकृष्ण नरेन्द्र नाथ से चिरपरिचित की तरह सहज भाव से मिले। नरेन्द्र को अपने पास चटाई पर बैठा लिया और गाना सुनाने को कहा। नरेन्द्र नाथ ने 'मन चलो निज निकेतन' गीत गाया। गीत समाप्त होने पर वह उसे हाथ पकड़कर एकान्त में ले गए और भीतर से कमरा बंद करके बोले, 'अरे तू इतने दिन तक कहाँ रहा'?

मैं कब से तेरी बाट जोट रहा हूँ। विषयी लोगों के साथ बात करते करते मेरा मुँह जल गया। आज तेरे समान सच्चे त्यागी के साथ बात करके मुझे शांति मिली।'

यह कहते कहते उनकी आँखों से अश्रुधार निकल पड़ी और नरेन्द्र हत बुद्धि से उनकी ओर ताकते रहे। रामकृष्ण परमहंस ने हाथ जोड़कर नरेन्द्र को सम्मान से सम्बोधित किया, 'मैं जानता हूँ , तू सप्तर्षि मण्डल का महर्षि है - नर रूपी नारायण है, जीवों के कल्याण की कामना से तूने देह धारण की है...'

नरेन्द्र उनके मुख से ऐसी बातें सुनकर अवाक एवं स्तम्भित रह गये। उन्हें लगा कि यह तो निरा पागलपन है। 'मैं विश्वनाथ दत्त का पुत्र हूँ और यह मुझे सप्तर्षि मण्डल का महर्षि बता रहे हैं।' रामकृष्ण द्वारा दोबारा पूछने पर , तुम फिर मुझसे मिलने आओगे' नरेन्द्र ने हाँ कह दिया। लेकिन मन में सोचा कि फिर वहाँ नहीं जाऊँगा।

गुरू द्वारा प्रथम सत्यानुभूति

लगभग एक माह बाद नरेन्द्र पुनः दक्षिणेश्वर गये। श्री रामकृष्ण एक खाट पर अकेले पड़े थे। नरेन्द्र को देखकर अत्यंत आनन्दित हुए और अपने पास बैठाया। देखते ही देखते वह तन्मय हो गए और उन्होंने अपने दाहिने पैर से नरेन्द्र के शरीर का स्पर्श किया और क्षण भर में नरेन्द्र को दीवारों के साथ सारी चीजें, सारा शरीर शून्य में विलीन होता जान पड़ा। नरेन्द्र घबड़ाये और भय से चिल्ला उठे, 'अजी, आपने यह मेरी कैसी अवस्था कर डाली? मेरे तो माँ बाप हैं।'[7] नरेन्द्र की बात सुनकर रामकृष्ण देव खिलखिलाकर हँस पड़े और नरेन्द्र का हाथ अपनी छाती पर रखकर बोले, 'अच्छा, तो फिर अभी रहने दे।'

इस स्थिति ने नरेन्द्र को विस्मित कर दिया और घर लौटते समय नरेन्द्र मन ही मन इस पहेली को सोचने लगे। नरेन्द्र की इस समय की मन. स्थिति का वर्णन स्वामी सारदानन्द द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है-

मैं। सोचने लगा कि इच्छा मात्र से यह पुरुष यदि मेरे जैसे प्रबल इच्छाशक्ति सम्पन्न चित्त को, दृढ़ संस्कार युक्त गठन को इस तरह तोड़-फोड़ कर मिट्टी के लौंदे की तरह अपने भाव मे ढाल सकते हैं तो इन्हें पागल ही कैसे समझूँ? किन्तु प्रथम दर्शन के दिन मुझे एकान्त मे ले जाकर इन्होंने जिस प्रकार सम्बोधित करते हुए बातें की थीं, उससे इन्हें पागल के अतिरिक्त और क्या मान सकता हूँ।.... बुद्धि का उन्मेष होने के अनन्तर खोज तथा तर्क युक्ति की सहायता से प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्ति के सम्बंध में एक मतायत स्थिर किए बिना मैं कभी निश्चिन्त नहीं हो सका। इसी स्वभाव में आज एक प्रचण्ड आघात प्राप्त हुआ है।इससे संकल्प का उदय हुआ- जैसे भी हो सके, इस अद्‌भुत पुरुष के स्वभाव और शक्ति की बात अवश्य ही समझनी होगी।'[8]

गुरु-शक्ति-परीक्षण

इस अपूर्व घटना के बाद ही से नरेन्द्र एक ऐसे प्रबल आकर्षण का अनुभव करने लगे कि बीच बीच में बाध्य होकर उन्हें दक्षिणेश्वर आना ही पड़ता था। श्री रामकृष्ण के अपूर्व त्याग, शिशु तुल्य अभिमान शून्य सरल व्यवहार, मधुर वाणी ओर निष्काम प्रेम ने थोड़े ही दिनों में नरेन्द्र नाथ के हृदय पर गहन प्रभाव डाल दिया। नरेन्द्र ने देखा कि इस देव मानव की कृपा से केशव बाबू, विजय कृष्ण गोस्वामी आदि ब्राह्म आचार्यो के धर्म जीवन में अपूर्व परिवर्तन हो गया। अतः उन्हें एक उन्मत्त मान लेना बुद्धिमत्ता नहीं होगी। परन्तु इतनी जल्दी इस अद्‌भुत व्यक्ति को वह अपने जीवन का आदर्श भी न मान सके।

गुरु के चरणों में समर्पण

लगातार तीन वर्ष तक तरह तरह से उनकी परीक्षा कर चुकने के बाद सन् 1884 में नरेन्द्र ने रामकृष्ण के श्री चरणों में आत्म समर्पण किया। रामकृष्ण का शिष्यत्व

स्वीकार करने के उपरात भी नरेन्द्र ब्राह्म समाज की नियमित उपासना आदि में सम्मिलित होते रहे और न ही रामकृष्ण ने उन्हें ब्राह्म समाज में जाने से मना किया। उन्होने कभी किसी के स्वाधीन धर्माचरण में हस्तक्षेप नहीं किया। अन्तर्दृष्टिसम्पन्न महापुरुष व्यक्ति के मन के भाव को समझ लेते थे और उसी के अनुसार साधना की विशेष प्रणाली का आलम्बन करने का उपदेश देते थे। श्री रामकृष्ण ने समझ लिया था कि नरेन्द्र की आस्था निराकार ब्रह्म मे है इसलिए उन्होंने नरेन्द्र की आस्था निराकार ब्रह्म में है इसलिए उन्होंने नरेन्द्र को सर्वमतों के आधार स्वरूप वेदान्त की शिक्षा दी। प्रारम्भ में तो अद्वैतवाद की शिक्षा देते समय नरेन्द्र श्री रामकृष्ण की बात का प्रतिवाद करते हुए कह देते, 'मैं ही ब्रह्म हूँ, यह बात कहने के सदृश और दूसरा पाप नहीं है।'

इस प्रकार नरेन्द्र अपनी बी0ए0 की पढ़ाई भी करते रहे और दक्षिणेश्वर श्री रामकृष्ण देव के पास भी जाते रहे। और जब अधिक दिनों तक नरेन्द्र श्री रामकृष्ण के पास नहीं जा पाते थे तब श्री रामकृष्ण स्वयं नरेन्द्र से मिलने उनकी तंग में आ जाया करते थे। भारत वर्षीय ब्राह्म समाज के कुछ अन्य सदस्यगण केशव चन्द्र एवं विजय कृष्ण भी श्री रामकृष्ण के पास आते थे और उनके उपदेशों से प्रभावित थे। एक दिन केशवचन्द्र , विजय कृष्ण और नरेन्द्र को देखकर श्री रामकृष्ण भावस्थ हो गये और अपने भक्तों से कहने लगे, 'भाव में मैंने देखा, केशव ने जिस शक्ति के बल से प्रतिष्ठा प्राप्त की है , नरेन्द्र में उस प्रकार की अठारह शक्तियाँ हैं। 'केशव और विजय के मन में ज्ञान दीप जल रहा है, नरेन्द्र में ज्ञान सूर्य विद्यमान है।[8]

इस प्रकार की अयाचित प्रशंसा से भी नरेन्द्र के ऊपर किसी प्रकार का दर्प न होता अपितु उसका प्रतिवाद करके कहते, 'क्या कहते हैं आप? कहाँ विश्वविख्यात केशव सेन और कहाँ एक नगण्य स्कूल का लड़का नरेन्द्र। लोग सुनेंगे तो आपको पागल कहेंगे।' श्री रामकृष्ण सरल हास्य में कहते हैं, 'मैं क्या करूँ भला? माँ ने दिखा दिया, इसीलिए कहता हूँ।'

पाश्चात्य दार्शनिकों के स्वाधीन विचार के पोषक मतवादों के समर्थक होने के कारण नरेन्द्र प्रारम्भ मे श्री रामकृष्ण देव के जगन्माता के साथ वार्तालाप, ईश्वरीय रूप के दर्शन आदि को मस्तिष्क की विकृति मानते रहे और अन्य भक्तजनों को अपने तर्क द्वारा निरुत्तर कर देते थे। ब्रह्म समाज के कुछ सदस्यों का श्रीरामकृष्ण के पास आने एवं धर्ममत परिवर्तन को देख शिवनाथ आदि ब्रह्मों ने अपने सदस्यों को श्री रामकृष्ण के पास जाने से मना किया। नरेन्द्र को भी दक्षिणेश्वर जाने का निषेध किया। इस घटना ने नरेन्द्र के मन में एक आंधी सी बहा दी। एक तरफ त्यागी, सरल चित्त उदार प्रेमी पुरुष का चरित्र और दूसरी ओर ब्रह्मसमाज के निराकार ब्रह्म की उपासना इतने दिन ब्रह्म समाज में प्रार्थना उपासना करने पर भी उनका मन शांत नहीं हुआ। दूसरी ओर रामकृष्ण के प्रति एक अद्भुत आकर्षण। वह किसे अपने उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन मानें? महर्षि देवेन्द्रनाथ से भी उचित उत्तर न मिलने पर उनकी आस्था ब्रह्म समाज से हट गयी।

एक अन्य घटना ने भी उनका ब्रह्म समाज से सम्बंध विच्छेद करा दिया। एक बार बहुत दिनों तक नरेन्द्र दक्षिणेश्वर न जा सके और श्री रामकृष्ण उनसे मिलने को व्यग्र हो उठे। उस दिन रविवार था। अत: श्री रामकृष्ण नरेन्द्र से मिलने ब्रह्म समाज की उपासना सभा में गये। उस समय आचार्य वेदी से व्याख्यान दे रहे थे। श्री रामकृष्ण ईश्वर की कथा सुनकर भावस्थ हो गये। नरेन्द्र ने उनके आने का कारण समझ लिया और श्रीरामकृष्ण की गिरती हुई भावमय देह को पकड लिया। परन्तु वेदी पर बैठे आचार्य व अन्य ब्रह्मों ने श्री रामकृष्ण के प्रति किसी प्रकार के शिष्टाचार का प्रदर्शन नहीं किया। अपितु अवज्ञामिश्रित विरक्ति के भाव दृष्टि गत हुए। नरेन्द्र ने बहुत कष्ट पूर्वक श्री रामकृष्ण को मंदिर के पिछले दरवाजे से बाहर लाकर दक्षिणेश्वर पहुँचा दिया। ब्रह्मों के इस अभद्रतापूर्ण व्यवहार को देखकर नरेन्द्र के हृदय पर आघात पहुँचा और उन्हें दु:ख हुआ कि उन्हीं को देखने की वजह से श्री रामकृष्ण को अपमानित होना पड़ा। अतः क्षुब्ध नरेन्द्र फिर कभी ब्रह्म समाज में नही गये।

अब उन्होंने श्री रामकृष्ण की असीम निष्ठा एवं त्यागमय पवित्र जीवन को देखकर उनके श्रीचरणों में आत्म समर्पण कर दिया। श्री रामकृष्ण अपने विचार किसी पर थोपते नहीं थे और अगर कोई दूसरा थोपे तो उसका विरोध करते थे। रामकृष्ण के अपने शिष्यों के प्रति व्यवहार के बारे में रोमा रोलां ने लिखा है, ' उस समय तक भारत वर्ष में गुरु का उसके शिष्य माता पिता से भी बढ़कर आदर करते थे। परन्तु रामकृष्ण ऐसा कुछ न चाहते थे। वे अपने आपको अपने शिष्यों के समान समझते थे। वे उनके साथी, उनके भाई थे। वे घनिष्ठ मित्र के रूप में उनसे बातें करते थे और किसी प्रकार के बड़प्पन का भाव प्रदर्शित नहीं करते थे।'[10]

नरेन्द्र रामकृष्ण की प्रत्येक, बात तर्क की कसौटी पर खरा उतरने पर ही मानते थे। इससे वे नाराज नहीं होते थे अपितु प्रसन्न होते थे। उन्होंने स्वयं काली से प्रार्थना की थी- 'माँ मैने जो कुछ उपलब्धियाँ पायी हैं उनमें सन्देह करने वाले किसी व्यक्ति को मेरे पास भेज दो।'

रामकृष्ण के भक्तगण और वह स्वयं भी अपनें को अवतार मानते थे। लेकिन नरेन्द्र ने साफ साफ कह दिया, 'चाहे सारी दुनिया आपको अवतार कहे, पर जब तक मुझे इसका प्रमाण नहीं मिलता, मैं आपको वैसा न कहूँगा।'

श्री रामकृष्ण और नरेन्द्र के सम्बंध दिनो-दिन घनिष्ठ एवं प्रगाढ़ होते गये। एक तरफ शिष्य नरेन्द्र गुरु की परीक्षा ले रहे थे। दूसरी ओर गुरु भी शिष्य की परीक्षा लेने से न चूकते। एक बार नरेन्द्र की परीक्षा लेने के विचार से श्री रामकृष्ण ने नरेन्द्र के दक्षिणेश्वर आते पर कोई ध्यान नहीं दिया, न ही उनसे बात की। इस तरह कई बार ऐसा ही किया। नरेन्द्र अन्य भक्तों से बात करके अपने घर चले जाते। इस प्रकार जब एक माह बीत गया तब श्री रामकृष्ण नरेन्द्र से बोले, 'जब मैं तुझसे बात नहीं करता तो फिर किसलिए यहाँ आता है?' नरेन्द्र ने तुरंत उत्तर दिया, 'आपको

चाहता हूँ, इसलिए आपको देखने को आता हूँ, बात सुनने के लिए नहीं।"[1] यह उत्तर सुन श्री रामकृष्ण भावानन्द से गद्गद् हो गए।

नरेन्द्र का जल्दी जल्दी दक्षिणेश्वर जाना घर वालों को अच्छा नहीं लगा। अत विश्वनाथ जी ने नरेन्द्र को प्रसिद्ध अटार्नी निमाईचरण वसु के यहाँ कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेज दिया। इस समय इन्होंने बी0ए0 की उपाधि प्राप्त कर ली थी। बी0ए0 की परीक्षा की तैयारी मे इन्हे कठोर मानसिक परिश्रम करना पड़ा था। अत· यदा कदा थकावट दूर करने अपने सहपाठियों के यहाँ चले जाते थे। तथा दक्षिणेश्वर भी जाते रहते थे।

पारिवारिक स्थिति में परिवर्तन

सांसारिक बंधनों से विरक्त प्रकृति वाले इस नवयुवक के समक्ष सहसा सांसारिक विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। अचानक हृदयगति रुक जाने से पिता का निधन हो गया। घर में माँ एवं भाई बहनों के भरण पोषण का भार इनके कंधों पर आ गया। यद्यपि इनके पिता की आय यथेष्ठ थी परन्तु खर्च भी कम नहीं था। उन्होंने कभी इसकी चिन्ता ही नहीं की कि हमारे बाद परिवार का खर्च कैसे चलेगा? अब नरेन्द्रनाथ को चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देने लगा। लाड प्यार में पले भाई बहिनों को दाने दाने के लिए तरसते देख इनका हृदय टूट गया। सुख सम्पत्ति के समय जो मित्र व सम्बंधी थे वे विपत्ति के समय किनारा काट गये। एक निकट के सम्बधी ने सहायता करना तो दूर उल्टे मकान जब्त करने के उद्देश्य से मुकदमा कर दिया। नरेन्द्र एक ओर कानून की पढ़ाई कर रहे थे दूसरी ओर काम धंधे की खोज में सुबह से शाम तक घूमते परन्तु 3-4 माह तक कोई कार्य नहीं मिल सका।

प्रायः घर वालों को अन्न के अभाव में निराहार रहना पड़ता था। परन्तु नरेन्द्र ने. स्वाभिमानी प्रकृतिवश अपने घर की इस स्थिति का परिचय अपने किसी मित्र को

नहीं दिया। घर में अन्न की कमी देखकर प्रायः यह कह देते थे कि मेरा निमंत्रण बाहर है अतः मैं नहीं खाऊँगा और निराहार ही दिन व्यतीत कर देते। सम्भवतः अपनी इन विपत्तियों पर विजय प्राप्त करके ही यह भावी जीवन में सफल योगी सिद्ध हुए।

इनके मित्रगण इनके आत्म सम्मान की बात जानते थे अत. वे अप्रत्यक्ष रूप से इन्हें अपने यहाँ निमंत्रण देकर इनकी सहायता करना चाहते थे। परन्तु नरेन्द्र नाथ कभी तो निमंत्रण में जाते कभी विशेष कार्य का बहाना बनाकर अपनी असमर्थता व्यक्त करते।

भाग्य के प्रतिकूल होते ही अपने पिता के मित्रों को सम्बंध-विच्छेद करते देख नरेन्द्र बड़े विस्मित हुए। संसार की शोचनीय कृतघ्नता का वीभत्स रूप देखकर उनका चित्त विद्रोही हो उठा। नंगे पैर, नंगे सिर दोपहर की धूप में इधर उधर नौकरी की खोज में कलकत्ते के राजपथों पर घूमते रहते और सन्ध्या को दिनभर के निष्फल प्रयत्नों की थकावट से चूरचूर हो घर लौट आते। यह थी उनके भावी सुदृढ जीवन की आधार शिला।

निराकार ईश की आस्था में विश्वास

इतनी विपत्तियों के बावजूद वह प्रातः जागरण के समय ईश नाम का उच्चारण करते थे और विश्वास करते थे कि ईश्वर दयामय एवं करुणामय है। वह हमारी सहायता अवश्य करेगा। परन्तु एक घटना ने उनके इस विश्वास को भी हिला दिया:-

एक दिन प्रातः काल जब नरेन्द्र भगवान के नाम का उच्चारण करते हुए बिस्तर से उठे तो उनकी माता ने कहा, 'चुप रह छोकरे, बचपन से ही केवल भगवान् भगवान् ! भगवान् ने ही तो यह सब किया।'

माता के यह शब्द युवक नरेन्द्र को चुभ गये और उनका अभिमान प्रचण्ड रूप से जाग्रत हो उठा। ईश्वर के बारे मे उनके मन मे अनेक प्रश्न उठने लगे। क्या सचमुच ईश्वर निर्धन का कातर स्वर नहीं सुनते, या सुनना नहीं चाहते? क्या वे निश्चल निर्विकार होकर, हाथ समेटकर इस निष्ठुर सृष्टि की दानवी लीला देख रहे हैं? जो भगवान क्षुधार्तो को एक टुकडा रोटी देकर जीवित नहीं रख सकते, वे अंत में अक्षय स्वर्ग मे अनन्त सुख का अधिकारी बनायेंगे, यह कैसे सम्भव है? तो क्या ईश्वर नाम का कुछ भी नहीं है? उत्तर मिलता है - हाँ, है। पर वह मंगलमय या दयामय नहीं है- वह निर्विकार है। हृदयहीन है। ईश्वर सम्बंधी इस नवीन विचारधारा को वह कभी कभी अपने मित्रों के बीच कह देते थे। इससे उनके मित्र कभी कभी उन्हें नास्तिक समझ बैठते थे।

घर के काम की वजह से नरेन्द्रनाथ जल्दी जल्दी दक्षिणेश्वर नहीं जा पाते थे। तब श्री रामकृष्ण उन्हें देखने के लिए व्याकुल होकर दूसरे भक्तों से उन्हें दक्षिणेश्वर लाने का अनुरोध करते थे। कलकत्ते के कुछ भक्तों ने सुना कि कुसंगति में पड़कर नरेन्द्र का चाल चलन बिगड़ गया है अब उसमें पहले जैसा धर्मभाव नहीं रहा है। अतः कुछ भक्त नरेन्द्र की परीक्षा लेने गये। वार्तालाप से नरेन्द्र को लगा कि ये भक्त लोग सम्भवतः उनके चरित्र पर संदेह करते हैं। वह सोचने लगे कि सम्भव है श्री रामकृष्ण जी ने भी लोगों की झूठी बदनामी पर विश्वास करके ही इन लोगों को भेजा है। अतः नरेन्द्र का रुद्ध अभिमान जागृत हो उठा। वह सोचने लगे कि ये भक्तगण भी झूठी बातों पर विश्वास करने लगे। भक्त लोगों ने श्री रामकृष्ण से नरेन्द्र के बारे में यह वचन कहे- 'नरेन्द्र का अधः पतन हो गया है इसमें सन्देह नहीं।'

परन्तु श्री रामकृष्ण अपने प्राणप्रिय नरेन्द्र की सांसारिक विपत्ति को जानकर मन ही मन तीव्र वेदना का अनुभव कर रहे थे। भक्तों द्वारा नरेन्द्र के पाक चरित्र पर इस प्रकार के आरोप को सुनकर वे भक्तों से बोले, 'चुप रहो मूर्खो। माँ ने बताया है , वह कभी ऐसा नहीं हो सकता। फिर कभी ऐसी बात कहोगे, तो तुम लोगों का मुँह तक नहीं देखूँगा।'

यह थी गुरु और शिष्य के बीच परस्पर दृढ़ आस्था एवं प्रेम का सम्बंध।

अपने दुर्दम्य अभिमान के कारण यद्यपि नरेन्द्र नाथ दक्षिणेश्वर नहीं जा सके थे, परन्तु अनेक प्रयत्नों के बावजूद वे अपने हृदय से श्री रामकृष्ण की स्मृति न मिटा सके। महापुरुष की कृपा से उन्होंने जिन अद्भुत आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्राप्त किया था, उन्हीं अनुभूतियों ने बार बार उदित होकर उनकी कल्पित नास्तिकता को हटा दिया। वह विस्मित होकर सोचने लगे- 'यह मैं क्या कर रहा हूँ? सिर्फ धनोपार्जन और परिवार का भरण पोषण ही तो उनके जीवन का उद्देश्य नहीं है। उनके जीवन का उद्देश्य महान है, मेरा लक्ष्य तो अखण्ड सच्चिदानन्द की प्राप्ति है।'

इस प्रकार के विचार आते ही वह संसार त्यागने के लिए गुप्त रूप से तैयारी करने लगे। त्याग की भावना इन्हे अपने पितामह से विरासत में प्राप्त हुई थी। इनके पितामह ने भी गुप्तरूप से गृह त्याग दिया था। गृहत्याग के पूर्व यह अपने गुरुदेव के श्रीचरणों की वंदना करना चाहते थे। सौभाग्य से गुरुदेव कलकत्ते किसी भक्त के यहाँ आये हुए थे। अत नरेन्द्रनाथ ने उनसे भेंटकर अपना मनोरथ सुनाया। गुरुदेव नरेन्द्रनाथ की मनोदशा जानते थे अत· उन्होंने अनेक प्रकार के सान्त्वना एवं उपदेश देते हुए अनुरोध किया कि जितने दिन उनका शरीर है, उतने दिन उसे (नरेन्द्र को) संसार में रहना होगा। क्योंकि उन्होंने (नरेन्द्र ने) किसी विशेष कार्य को सम्पन्न करने के लिए ही जन्म ग्रहण किया है।

गुरुदेव के इन वचनों से संतप्त नरेन्द्र नाथ को अभूतपूर्व आनन्द मिला एवं आशा के संदेश से उनका पहाड़ जैसा भार हट गया। अब गुरुदेव उनकी दृष्टि में रहस्यमय उन्मत्त न रह गये। अब वे उनके जीवन के चरम आदर्श, गुरु, पिता-सर्वस्व बन गये। इस प्रकार लगभग तीन वर्ष तक गुरु की परीक्षा लेने के उपरांत इन्होंने अपने को सन् 1884 में श्री गुरुदेव के चरणों में समर्पित किया। गुरुदेव ने इन्हें उपदेश द्वारा यह सामझाया कि मनुष्य संसार त्याग कर ही ज्ञान या ईश्वर की उपलब्धि प्राप्त नहीं कर सकता अपितु संसार में रहते हुए कामिनी कांचन के त्याग द्वारा ईश्वर को

प्राप्त कर सकता है। जैसा कि उन्होंने स्वय प्राप्त किया था एवं परवर्ती काल मे स्वामी विवेंकानन्द ने भी संसार में रहते हुए ईश्वर प्राप्ति में सफलता प्राप्त की।

अब वह गुरुदेव के पास भी आते रहते और घर की परेशानियों से भी सघर्ष करते रहे। घर के सम्बध में जो मुकदमा चल रहा था उसमें नरेन्द्र ने अपने तीक्ष्ण तर्क वाणों से अपने पक्ष मे फैसला हासिल किया। उनके जिरह के ढंग से प्रतिपक्षी के वकील भी नरेन्द्र नाथ की प्रशंसा किए बिना न रह सके। इस तरह दु खों की लम्बी लाइन में यह एक आनन्द की झलक थी।

दिन बीतते गये पर नरेन्द्र की सांसारिक परिस्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। एक दिन उन्होंने सोचा कि सम्भव है श्री गुरूदेव की कृपा से उनकी दशा में कुछ सुधार हो। अतः वह दक्षिणेश्वर गुरुदेव के पास आये। और अपनी प्रार्थना उनके प्रति अर्पित की । नरेन्द्र ने कहा, 'महाराज मेरी माँ और भाई बहनों को दो दाना अन्न खाने को मिल सके, इसके लिए आप अपनी माँ (काली माता) से कुछ अनुरोध कर दीजिए।' श्री राम कृष्ण ने कहा, 'अरे, मैं माँ से कुछ नहीं माँगता। फिर भी तुम लोगों के भले के लिए मैंने एक बार अनुरोध किया था। पर तू तो माँ को मानता ही नहीं, इसीलिए माँ तेरी बात पर कुछ ध्यान नहीं देती।'

निराकार से साकार में आस्था

नितांत निराकारवादी नरेन्द्र को साकार में जरा भी निष्ठा न थी। पर फिर भी अपने दुःखों से छुटकारा पाने के लिए वे व्याकुल हो उठे और साकार के प्रति प्रार्थना करने के लिए प्रेरित हुए। परन्तु उनके मन में प्रश्न उठा, क्या बिना प्रमाण के साकार में विश्वास? यद्यपि श्री रामकृष्ण अपने प्रिय शिष्य के लिए सब कुछ कर सकते थे परन्तु वह भी अपने शिष्य की परीक्षा समय समय पर लेते रहते थे। वे नरेन्द्र के ऊपर अपने विचार थोपते नहीं थे पर उनके समक्ष ऐसी स्थिति ला देते थे

कि वह स्वय उस बात को मानने के लिए तैयार हो जाते। यही वह समय था जब नरेन्द्र को निराकार से साकार मे आस्था उत्पन्न हुई। नरेन्द्र द्वारा माँ की कृपा-याचना की बात सुनकर गुरुदेव ने नरेन्द्र से कहा, 'आज मगलवार है, मैं कहता हूँ आज रात को काली मंदिर में जाकर माँ को प्रणाम करके तू जो कुछ मागेगा , माँ तुझे वही देगी।'

अब नरेन्द्र ने सोचा आज तो श्री रामकृष्ण की प्रस्तरमयी जगन्माता की परीक्षा लेनी है। रात्रि के समय नरेन्द्र संदिग्ध चित्त से काली मंदिर की ओर चले और सोचने लगे कि आज श्री रामकृष्ण की कृपा से मेरे परिवार के दु ख कष्टों का अंत होगा। जब उन्होंने मंदिर मे प्रवेश किया तो देखा जगदम्बा के भुवनमोहन रूप में श्रीमंदिर आलोकित है। उन्हें प्रतीत हुआ कि यह प्रस्तर मूर्ति नहीं, वरन् 'मृण्मय आधार मे 'चिन्मयी प्रतिमा' हस्त फैलाकर असीम दया के साथ स्नेहपूर्ण स्मित कर रही है। उसके बाद उन्होने क्या देखा, क्या समझा, क्या अनुभव किया, यह वह (नरेन्द्र) और उनके गुरु श्री रामकृष्ण ही जानें। भक्त विह्वल चित्त से नरेन्द्र ने माँ से प्रार्थना की, 'माँ। विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान दो, भक्ति दो। माता तुम्हारी कृपा से सदा ही तुम्हें देख सकूँ।'

नरेन्द्र जब लौटकर गुरुदेव के पास आये तो उन्होंने पूछा, 'क्या मांगा? तब नरेन्द्र को अपने पूर्व संकल्प का स्मरण आया। सोचने लगे यह मैंने क्या किया? गुरुदेव के आदेश पर यह पुनः मंदिर में गये। दूसरी और तीसरी बार भी वह मुँह खोलकर माँ से सांसारिक सुख की प्रार्थना न कर सके। जन्मजात वैराग्य की ओर झुका उनका मन सांसारिक दु ख कष्टों से घिरा होने पर भी पार्थिव भोग सुख की कामना से क्षुब्ध नहीं हुआ था। ठीक ही तो है- कल्पवृक्ष के तले जाकर अमृतफल को छोड़ कुम्हड़े के लिए कौन प्रार्थना करेगा?

अंत में श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र से कहा कि तुम्हारे भाग्य में सांसारिक सुख है ही नहीं इसीलिए तुम सांसारिक सुख न मांग सके। पर मेरा आश्वासन है कि तुम्हारे

घर वालो को सूखी रोटी और मोटे वस्त्र का अभाव न रहेगा। इस आश्वासन के मिलते ही नरेन्द्र के जीवन में एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ हो गया। वह स्वयं के लिए तो कभी सासारिक सुख की कामना करते ही नहीं थे। अब उन्हे श्री रामकृष्ण की कृपा से अपने परिवारजनो की चिता से भी मुक्ति मिली। नरेन्द्र अटनी आफिस में काम करके तथा कुछ पुस्तको का अनुवाद करके जीविका चलाने लगे। कुछ समय तक विद्यासागर महाशय के स्कूल मे अध्यापन कार्य भी किया। अब उन्हें माँ काली की महिमा मे विश्वास हो गया।

शनै शनै नरेन्द्र का वैराग्य बढ़ने लगा और गुरुदेव का सामीप्य उन्हे आनन्द देने लगा। लेकिन परमेश्वर को कुछ और ही मंजूर था। 1885 ई0 के मध्य भाग में श्रीरामकृष्ण के गले में रोग हो जाने से भक्तगण चिंतित हो गये। चिकित्सा हेतु उन्हे कलकत्ते लाकर काशीपुर के बगीचे वाले मकान में रक्खा गया। कुछ बालक भक्त गण को उनकी सेवा में नियुक्त किया गया तथा गृही भक्तगण ऊपरी देखभाल करने लगे। नरेन्द्र नाथ ने गुरुदेव की हर समय सुधि लेने, एवं उनकी सेवादि की व्यवस्था करने के कारण अध्यापन कार्य छोड़ दिया। और प्राणप्रण से गुरु के सानिघ्य से जीवन के उच्चतम उद्देश्य की प्राप्ति की।

चिकित्सा एव सेवा सुश्रुषा के बावजूद भी गुरुदेव के रोग में कमी न हुई अपितु रोग बढ़ता ही गया। गुरुदेव नरेन्द्र से किसी प्रकार की सेवा नहीं लेते थे। वह तो नरेन्द्र को भावी जगद्गुरु के रूप मे देखते थे। अपने उपदेशों एवं आदर्शो के भावी प्रचारक बनाना चाहते थे। अतः वे नरेन्द्र को सर्वदा अपने पास रखते थे। और अपने आध्यात्मिक अनुभवो से नरेन्द्र को ज्ञान लाभ प्रदान करते। नरेन्द्र नाथ भी गुरु की पवित्र संगति मे रात दिन ईश्वर प्राप्ति में निमग्न रहने लगे। नरेन्द्रनाथ को भगवत् चिन्तन में डूबा हुआ देखकर श्री रामकृष्ण अतिआनन्दित होते।

नरेन्द्र एवं अन्य शिष्यों द्वारा सँन्यास ग्रहण

एक दिन श्री रामकृष्ण ने अपने तरुण शिष्यों को बुलाया। उन्हे गेरुआ वस्त्र देकर

संन्यास व्रत दिलाया और नरेन्द्र को उनका नेता घोषित किया। अब नरेन्द्र रातदिन महापुरुषों की जीवन-गाथा व उपदेशों की चर्चा , ध्यान एवं भजन करतें। कठोर तप एवं ध्यान द्वारा नरेन्द्र मे आध्यात्मिक शक्ति का उदय हो गया। अब वह पाश्चात्य दर्शन व विज्ञान के अतिरिक्त उपनिषद्, अष्टावक्र संहिता, पंचदशी, विवेकचूड़ामणि आदि ग्रंथों का भी अध्ययन करने लगे। साधनापथ में काफी दूर अग्रसर होने के बाद भी नरेन्द्र की आध्यात्मिक पिपासा निर्विकल्प समाधि के अभाव मे शांत नहीं हुई। उपयुक्त अवसर देखकर एक दिन नरेन्द्रनाथ गुरुदेव के समक्ष दया दृष्टि की भावना से उपस्थित हुए। श्रीरामकृष्ण सस्नेह दृष्टि से बोले, 'नरेन्द्र तू क्या चाहता है?' नरेन्द्र ने उत्तर दिया, ' शुकदेव की तरह निर्विकल्प समाधि के द्वारा सदैव सच्चिदानन्द सागर में डूबे रहना चाहता हूं।' बार बार यही बात कहते तुझे लज्जा नहीं आती? समय आने पर तू वटवृक्ष की तरह बढ़कर सैकड़ों लोगों को शांति की छाया देगा, और कहाँ आज अपनी ही मुक्ति के लिए व्यग्र हो उठा । इतना क्षुद्र आदर्श तेरा ?'

निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति

नरेन्द्र की विशाल आँखें सजल हो उठीं। उन्होंने अभिमान के साथ कहा कि जब तक मुझे निर्विकल्प समाधि प्राप्त नहीं हो जाती तब तक वह कुछ भी न कर सकेंगे। गुरुदेव ने माँ की शक्ति का स्मरण कराते हुए कहा - 'तू क्या अपनी इच्छा से करेगा? जगदम्बा तेरी गर्दन पकड़कर करा लेंगी।' परन्तु श्रीराम कृष्ण अपने प्रिय शिष्य की कातर प्रार्थना की उपेक्षा न कर सके। और बोले 'अच्छा जा, निर्विकल्प समाधि होगी।' एक दिन सायंकाल नरेन्द्र की चिरयाचित कामना पूर्ण हुई। उनके हृदय की अशांति शांत हुई। उनका मुख मण्डल ब्रह्मविद् की तरह दिव्य ज्योति से उद्भासित हो उठा। प्रफुल्लित नरेन्द्रनाथ जब अपने श्री गुरु के चरणों में प्रणत हुए तब श्री रामकृष्ण ने कहा, 'तो फिर अभी के लिए ताला बंद रहा, कुंजी मेरे हाथ में है। काम समाप्त होने पर फिर खोल दिया जायगा।'

देह त्याग से तीन चार दिन पूर्व गुरुदेव ने एक दिन संध्या समय नरेन्द्र को अपने पास बुलाया और कमरा बंद करके एकटक नरेन्द्र को देखते हुए समाधि में डूब

गये। इसी समय उनके शरीर से एक ज्योति पुंज निकला जो नरेन्द्र के शरीर में समा गया। नरेन्द्र भी ध्यानस्थ हो गये। चेतना आने पर नरेन्द्र ने देखा कि गुरुदेव आनन्द विह्वल हो अश्रु धारा बहा रहे थे। वे नरेन्द्र से बोले- 'आज मै सर्वस्व तुझे देकर फकीर बन गया। तू इस शक्ति बल से ससार मे अनेक कार्य कर सकेगा। काम समाप्त होते ही लौट जायेगा।'

आचार्य- रूप

1886 ई0 15 अगस्त को श्री रामकृष्ण जी द्वारा महासमाधि में लीन होने पर नरेन्द्र नाथ के ऊपर अपने गुरु भक्तों को सगठित रखने का भार आ गया। कुछ भक्त अध्ययन करने घर चले गये थे उन्हें नरेन्द्र वापिस लाए। इस प्रकार वराह नगर मे एक मकान किराये पर लिया गया। जहाँ पर अपने गुरु भाइयों को एकत्र कर उन्होंने श्रीरामकृष्ण के आदर्शो को कार्यरूप मे परिणत करने के उद्देश्य से । मई 1887 ई0 को रामकृष्ण संघ की स्थापना की। जो आज भी भारत तथा विदेशों में 'रामकृष्ण मिशन' के नाम से श्रीरामकृष्ण के आदर्शो को प्रचारित एवं प्रसारित कर जन सेवा मे कार्यरत है।

रामकृष्ण संघ की स्थापना के समय नरेन्द्रनाथ तथा अन्य गुरु भक्तों ने संन्यास धर्म की परम्परानुसार अपना नाम बदल लिया। अब नरेन्द्रनाथ स्वामी विवेकानन्द बन गये। अत. अब नरेन्द्र नाथ के स्थान पर स्वामी विवेकानन्द कहना उपयुक्त होगा।

परिव्राजक विवेकानन्द [1886-1892]

वराहनगर के मठ में गुरुभक्तों के साथ रहते हुए विवेकानन्द के समक्ष एक समस्या आई। श्री रामकृष्ण की देहावशिष्ट भस्म व अस्थियाँ बालक भक्तगण अपने पास रक्खे थे। वराही भक्त महात्मा रामचन्द्रदत्त ने उनसे कहा कि तुम लोग साधुसंन्यासी हो कब कहाँ रहो यह निश्चित नहीं है अतः गुरुदेव का देहावशेष मुझे दे दो।

मै उसे उचित स्थान पर स्थापित करके मदिर निर्माण करवाऊँगा। बालक भक्तों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। फलस्वरूप झगड़ा उठ खड़ा हुआ। साधु संन्यासियों के बीच इस प्रकार के झगडे को देख विवेकानन्द ने अपने गुरुभाइयों को समझाया कि हम संन्यासियो को श्रीरामकृष्ण के पवित्र जीवन के आदर्श को अपने जीवन का उद्देश्य बनाना चाहिए। हम कोई भी ऐसी लज्जाजनक घटना न करें जिससे भविष्य की सन्ताने यह जानें कि श्रीरामकृष्ण के शिष्यों ने उनके देहावशेष पर कलह किया था। इससे श्री रामकृष्ण के आदर्श को भी हम कार्यरूप में परिणत न कर सकेंगे। इस बात को सुनकर बालक भक्तों ने देहावशिष्ट भस्म व अस्थि का कुछ भाग अपने पास रखकर शेष ताम्र के पात्र सहित महात्मा रामचन्द्र दत्त को लौटा दिया।

उपरोक्त घटना से स्वामी विवेकानन्द के कुशल नेतृत्व एवं प्रबल संगठन शक्ति का परिचय मिलता है। इनके इन्हीं गुणो को जानकर ही श्रीराकृष्ण ने नरेन्द्र को अपना उत्तराधिकारी मान लिया था। और उचित समय पर यह गौरव प्रदान किया। आज देश को ऐसे ही नेतृत्व वाले नेता की आवश्यकता है जो देश की समस्याओं को उदारता के साथ अकुरावस्था में ही दूर कर दे।

मठ में रहते हुए अनेक युवा संन्यासियों के मन में संन्यासी परम्परानुसार परिव्राजक जीवन व्यतीत करने की दुर्दम्य इच्छा जगी। एक दो संन्यासियों को यह आशंका हुई कि शायद विवेकानन्द उन्हें मठ से बाहर जाने की अनुमति न दें। अत· एक संन्यासी स्वामी त्रिगुणातीतानन्द गुप्त रूप से एक पत्र लिखकर मठ छोड़कर, वृंदावन चले गये। उन्हें मठ में रहते हुए अपने परिवारजनों की याद आती थी इस कारण माया से प्रलोभित होने के डर से वह वहाँ से दूर चले गये। स्वामी विवेकानन्द को चिंता हुई कि यदि इस प्रकार एक एक करके संन्यासी भ्रमण के लिए निकल जायेंगे तो मठ कैसे चलेगा?

परन्तु दूसरे ही क्षण सोचने लगे कि इस प्रकार साथ रहकर हम माया के बंधन में आवद्ध होते जा रहे हैं। जो उचित नहीं है। और वह अपने गुरुभाइयों को

भी स्वावलम्बी बनाना चाहते थे। उनके साथ रहने पर गुरुभाई विवेकानन्द के ऊपर आश्रित थे। अत. 1888 ई0 के प्रथम भाग मे स्वामी विवेकानन्द तीर्थभ्रमण के लिए निकल पड़े। वाराणसी, अयोध्या, लखनऊ, आगरा, वृंदावन एव हाथरस होकर हिमालय की यात्रा की। करतल भिक्षा और तरुतल वास द्वारा इन्होंने अपनी सम्पूर्ण यात्रा पैदल ही की । भिक्षा से प्राप्त अन्न द्वारा उदर पूर्ति, देवस्थानों का दर्शन, शास्त्र चर्चा, जप, ध्यान, साधुसंग ये ही इनके नित्यकर्म थे। जैसे सूर्य उदित होने पर किसी से यह नहीं कहना पडता कि प्रभात हुआ है। ठीक उसी प्रकार स्वामीजी जहाँ जाते, उनका तप्तकाचन वर्ण, विशाल तपोज्जवल शरीर सभी को मन्त्रमुग्ध कर देता। वाराणसी मे इनका परिचय भूदेव मुखोपाध्याय, श्रीमत् त्रैलिग स्वामी, एव श्रीमान् स्वामी भास्करानन्द जो से हुआ। यहाँ इन्होंने पारमार्थिकता से भ्रष्ट, विचारहीन एव बाह्य आचरण परायण नर-नारियो के बीच सनातन धर्म की युगयुगान्तर से संचित महिमा की उपलब्धि की।

इस यात्रा के दौरान हाथरस स्टेशन पर स्वामी जी की भेट शरतचन्द्र जी से हुई। जो स्वामी जी के कांति युक्त चेहरे को देख मुग्ध हो गये और उन्होंने स्वामी जी के श्रीचरणों में अपने मन प्राण अर्पित कर दिए। शरत बाबू द्वारा विनय करने पर स्वामी जी ने शरत जी को अपना प्रथम शिष्य बनाया। अब शरतचन्द्र अब सदानन्द कहलाये। इन्हीं के साथ स्वामी जी ने बद्रीनाथ की यात्रा की। और कुछ समय तक हिमालय के मौन मे खोये रहे। शारीरिक कठोरता एवं कठिन साधनाओं के परिणामस्वरूप उनका स्वास्थ्य गिर गया अत अब यह वराह नगर मठ लौट आये।

इस यात्रा के अनुभवों ने उनकी विचारधारा एवं कार्य प्रणाली पर प्रभाव डाला। अब वह अपने गुरु भाइयों को प्रचार कार्य के लिए प्रोत्साहित करने लगे। प्रचारकार्य के पहले यह आवश्यक है कि भारत के करोड़ों नरनारियों की वेदना एवं अभाव को समझा जाये। उन्होंने अपने गुरुभाइयों को सचेत किया कि इस कल्याण व्रत की साधना के लिए न केवल स्वार्थ त्याग अपितु सर्वत्याग करना होगा। यहाँ तक कि मुक्ति की कामना तक का त्याग करना होगा। यह था उस सर्वत्यागी विवेकानन्द का आदर्श।

प्रथम यात्रा की वापसी के समय यह काशी धाम पधारे। यहाँ पर इनकी भेट सस्कृत साहित्य एव वेदान्त दर्शन के धुरन्धर विद्वान श्री प्रमदादास मित्र जी से हुई। स्वामी जी की प्रमदादास मित्र जी के प्रति अपार श्रद्धा हो गयी। बाद मे जब कभी स्वामी जी को शास्त्रार्थ की मीमासा मे किसी प्रकार का संदेह होता तो वह पत्र द्वारा उनसे उपदेश लेते।

द्वितीय यात्रा

लगभग एक वर्ष तक स्वामी जी अपने गुरुभाइयो के साथ वराहनगर मठ मे रहे। तथा वहाँ पर रहकर उपनिषद् एव शाकरभाष्य का अध्ययन किया। भारतीयो की करुण वेदना ने उन्हे पुन भ्रमण के लिए प्रेरित किया। अत दिसम्बर 1889 ई0 मे वह कलकत्ते से वैद्यनाथ धाम पहुँचे। वहाँ कुछ दिन व्यतीत कर प्रयाग आये। यहाँ पर उनके गुरुभाई योगानन्द रोग से ग्रसित थे अत उनकी सेवा शुश्रुषा करने के बाद गाजीपुर पहुँचे। वहाँ पर इनका मिलन सुप्रसिद्ध सत पवहारी बाबा से हुआ। पवहारी बाता के योग साधना से योग सीखने की इच्छा जागृत हुई। परन्तु श्रीरामकृष्ण देव की असीम कृपा, गम्भीर स्नेह एव प्रेमयुक्त व्यवहार की स्मृति ने इन्हें ऐसा करने से रोका।

इसी बीच उनको अपने गुरुभाई स्वामी अभेदानन्द की अस्वस्थता का समाचार प्राप्त हुआ। अत· अब वह गाजीपुर से काशीधाम गये। वहाँ स्वामी अभेदानन्द की चिकित्सा की व्यवस्था कर एव स्वामी प्रेमानन्द को उनकी सेवाटहल में नियुक्त कर स्वयं बाबू प्रमदादास मित्र के साथ रहने लगे। कुछ दिन काशी मे रहकर यह पुन वराहनगर स्थित मठ में लौट आये। यहाँ आने पर इन्हें अपने दो गुरु भाइयों (बाबू बलराम वसु एवं सुरेशचन्द्र मित्र) के निधन का समाचार मिला। इससे यह कुछ चिंतित हुए क्योंकि भक्त सुरेश चन्द्र इनके मठ की आर्थिक सहायता करते थे। अत दो माह कलकत्ते व वराहनगर में रहकर स्वामी मी ने मठ के खर्च चलाने की व्यवस्था की तत्पश्चात पुन· भारत भ्रमण की तीव्र इच्छा जागृत हुई।

एक ओर नवगठित श्रीरामकृष्ण सघ के प्रति तीव्र ममत्वबोध दूसरी ओर सत्यकाम संन्यासी की- नि सग साधना का आवेग- इन दो विपरीत भावों के सघर्ष मे विचलित स्वामी विवेकानन्द ने सकल्प लिया कि सभी प्रकार के प्रेम बधन को तोडकर ऐसी आध्यात्मिक शक्ति संचित करनी होगी जिससे अपने गुरुदेव के संदेश एव आदर्श का प्रचार किया जा सके अन्यथा इसी प्रयत्न मे प्राण त्याग करना होगा।

इस प्रकार का सकल्प करने के पश्चात स्वामीजी माँ शारदादेवी के पास आर्शीवाद लेने पहुँचे। माँ ने भारत के भावी युगधर्म प्रचारक के विशाल मस्तक पर कल्याण हस्त रख श्रीरामकृष्ण का नाम लेकर आर्शीवाद दिया। इस पवित्र स्पर्श से स्वामीजी का हृदय दिव्य भाव से परिपूरित हो गया उन्हे ऐसा लगा मानो वे एक ऐसी महान शक्ति से बलवान हो गये है जो उनकी मार्ग मे आने वाली सभी बाधाओं को दूर कर उन्हे उनके गन्तव्य स्थान पर आसीन कर देगी। इस आर्शीवाद को साथ लेकर स्वामी जी ने 1890 ई0 मे जुलाई मास मे अपनी तृतीय यात्रा प्रारम्भ की। भागलपुर, देवघर, काशी, अयोध्या, नैनीताल, बद्रीनाथ, केदारनाथ होते हुए कुछ दिन अल्मोड़ा में व्यतीत किए। हिमालय के वैराग्योद्दीपक मनोरम सौन्दर्य ने स्वामीजी के समाधिलिप्सु मन को अन्तर्मुखी कर दिया। वे रात्रि मे पहाड़ की गुफा में ध्यान किया करते थे।

ध्यानप्रिय विवेकानन्द के हृदय में सत्यधर्म मूर्तिमान हो उठा। उन्हें अपने गुरुदेव की वाणी की गूँज सुनाई दी- कि तुम्हें भारत के उद्बोधन के लिए सत्वरज की मिलन वेदी पर सेवाधर्म की स्थापना करना है, तभी तुम्हें निर्विकल्प समाधि मिलेगी। अत इस दायित्व को निभाने के लिए वे पहाड़ की गुफा से पुनः परिभ्रमणार्थ निकल पड़े। कुछ समय तक स्वामीजी ऋषीकेश के पुण्य स्थल में रहे। यह स्थान उन्हें अति प्रिय लगा। यहाँ उनकी दिन चर्या थी- ध्यान, जप, वेदान्त आदि शास्त्रों की चर्चा आदि।

कठिन पथ भ्रमण एव कठोर तपस्या के कारण स्वामीजी का वलिष्ठ शरीर रोगग्रस्त हो गया। किसी अपरिचित संन्यासी की दवा से स्वस्थ हो जाने पर स्वामी

जी हिमालय से कन्याकुमारी की यात्रा पर भारत की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करने निकल पड़े। फरवरी 1891 के अत मे स्वामी जी ने एकाकी ही अपने दो वर्ष-व्यापी ऐतिहासिक परिव्रजन को प्रारम्भ किया। वे बिना किसी योजना के इधर उधर घूमते रहे। हर समय उनके मन में ईश्वर ही बसा रहता। इस भ्रमण मे उन्होंने सभी प्रकार के लोगों (राजा-रंक आदि) से भेंट की। कभी वे उपेक्षित भिखारी की तरह चाण्डाल के घर में शरण लेते, कभी वे पददलितों के दुःखों और कष्टों मे समरस होते, तो कभी किसी महाराजा के सम्मान्य अतिथि बनते। इस तरह प्रधान मंत्रियों एवं राजाओ से विचार विमर्श करते एवं उनके जड़ हृदयों मे जनता की पीड़ा के प्रति सहानुभूति जगाते रहते। हिमालय के सुहावने स्थान से स्वामी जी आर्यो के आदि निवास स्थान पचनद (पजाब) गये। वहाँ से मेरठ । कुछ दिन इन्होंने मेरठ में व्यतीत किए। यहाँ पर एक एक करके अनेक गुरुभाई एकत्रित हो गये। उनके प्रति माया-मोह बढ़ते देखकर स्वामी जी ने इस माया के जाल से छुटकारा पाने के विचार से राजस्थान की ओर प्रस्थान किया। कुछ दिन अलवर में महाराजा मगल सिह तथा उनके दीवान के यहाँ रहे। महाराजा को ज्ञानलाभ एवं शिष्यत्व प्रदान कर स्वामी जी जयपुर पहुँचे। जयपुर राज्य के एक सभापण्डित से स्वामी जी ने अष्टाध्यायी के कुछ सूत्रों का भाष्य सीखा। यद्यपि अष्टाध्यायी का अध्ययन वराहनगर मठ में भी कर चुके थे। जयपुर मे राजा, प्रधान सेनापति, विख्यात पडित और जन साधारण को उपदेश प्रदान कर अजमेर पहुँच आबू पहाड़ की गुफा में रहने लगे। कोटा के एक मुसलमान वकील सज्जन स्वामीजी को इस स्थिति में देख अपने घर ले गये। तदनन्तर उन्होंने कोटा के प्रधान मंत्री ठाकुर फतेह सिह एवं खेतड़ी राजा के सेक्रेटरी मुंशी जगमोहनलाल का इनसे परिचय कराया।

खेतड़ी के दीवान स्वामी जी को अपने राजा अजीत सिंह के पास ले गये। कुछ दिन स्वामी जी इनके दरबार में रहे और खेतड़ी के राजा को पुत्र रत्न की प्राप्ति का आर्शीवाद दिया। राजा ने स्वामी जी से सबसे पहला प्रश्न किया, 'स्वामी जी, यह जीवन क्या है?'

स्वामी जी का उत्तर था - 'एक अन्तर्निहित शक्ति मानो लगातार अपने स्वरूप मे व्यक्त होने के लिए अविराम चेष्टा कर रही है, और ब्राह्म प्रकृति उसे दबा रही है' इसी चेष्टा का नाम है जीवन।' इसके अतिरिक्त और भी प्रश्न किए। उन सभी प्रश्नों के युक्ति सगत उत्तर पाकर राजा आनन्दित हो उनके शिष्य बन गये। यहाँ पर स्वामी जी ने राजा के सभापडित श्री नारायण दास जी से पतजलि महाभाष्य का अध्ययन किया। वह सभापंडित स्वामी जी की विलक्षण प्रतिभा से बडे आश्चर्य चकित हुए। उन्होंने स्वामी जी से कहा, 'स्वामी जी, मै जो कुछ सिखा सकता था समाप्त हो गया। यदि मै आपको स्वय न देख लेता तो शायद मुझे यह विश्वास न होता कि आप् जैसी प्रतिभा मनुष्य में सम्भव है।' अधिक दिनों तक एक स्थान पर रहने के कारण स्वामी जी की भ्रमण की तीव्र इच्छा हुई। तब यह गुजरात के रेगिस्तानी अचलों को पैदल लाँघकर अहमदाबाद, लिबड़ी, जूनागढ़, भोज, भेरावल व प्रभास होतु हुए सोमनाथ का दर्शन कर पोरबन्दर पहुँचे । इस भ्रमण मे लिबड़ी के महाराजा ने स्वामी जी का शिष्यत्व ग्रहण किया। पोरबदर में स्वामी जी ने ग्यारह महीने व्यतीत किए और वहाँ के विद्वान पंडित शंकर पाडुरग से महाभाष्य पढ़ा। सयोगवश यहाँ पर पंडितों की एक विचार सभा आयोजित की गयी। इसमें स्वामी विवेकानन्द जी ने भी भाग लिया। इसमें पंडितों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के स्वामी जी ने विवेकपूर्ण एवं पाडित्यपूर्ण उत्तर दिए। इससे समस्त विद्वत् मडली मुग्ध होकर स्वामी जी की तेजस्विता की प्रशंसा करने लगी।

इसी समय इनकी प्रतिभा को देखकर इनके अध्यापक पं० शकर पाण्डुरग जी ने कहा, 'स्वामी जी मैं नहीं समझता कि आप इस देश में धर्म प्रचार करके विशेष कुछ कर सकेंगे। आपके उदार भावों को हमारे देशवासी जल्दी नहीं समझ सकेंगे। व्यर्थ में शक्ति का क्षय न कर आप पाश्चात्य देशों में जाइए। वहाँ के लोग प्रतिभा का सम्मान करना जानते हैं। वहाँ आप अवश्य ही पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता पर सनातन धर्म का अपूर्व ज्ञानालोक फैलाकर एक नवीन युगान्तर लाने में समर्थ होंगे।'

यह थी भारत के भावी युगपुरुष विश्ववंद्य तरुण संन्यासी के लिए भविष्यवाणी। पोरबन्दर से स्वामीजी द्वारका, माण्डवी, पालीटाना आदि स्थानों का दर्शन करते हुए बड़ौदा

के दीवान बहादुर मणिभाई के अतिथि हुए। तदुपरात मध्य भारत के विभिन्न प्रातों के जन समुदायों से परिचय प्राप्त करने के बाद खण्डवा आये। और यहाॅ पर उन्होंने पहली बार सकेत दिया कि वे निकट भविष्य मे शिकागो मे आयोजित होने वाली धर्म महासभा में भाग लेने के इच्छुक हैं। इस समय इन्हे अपने अन्दर एक असीम शक्ति का आभास हो रहा था। बम्बई मे जब इनकी भेंट स्वामी अभेदानन्द से हुई तब उनसे इन्होने कहा था- 'भाई, मेरे अन्दर इतनी शक्ति का विकास हुआ है कि कभी कभी लगता है शरीर ही फट जायेगा।'

खण्डवा से बम्बई गये बम्बई से पूना जाते समय इनकी भेट बाल गंगाधर तिलक जी से हुई। तिलक विवेकानन्द की वाक्पटुता एवं प्रखर प्रतिभा से बहुत आकर्षित हुए। पूना स्टेशन पर उतरकर तिलक स्वामी जी को अपने घर ले गये। स्वामी जी भी तिलक जी की प्रखर प्रतिभा तथा वेदादि शास्त्रों पर अधिकार देखकर आनंदित हुए। इस तरह कुछ दिन तिलक जी के साथ वेदों के गूढार्थ की चर्चा कर स्वामी जी तृप्त हुए और वहाॅ से महाबलेश्वर की ओर प्रस्थान किया। एक दिन राजपथ पर घूमते हुए लिबड़ी के महाराजा ने स्वामी जी को पहचान लिया। और वह आग्रह करने लगे कि आपको (स्वामीजी) मेरे साथ लिबड़ी चलना होगा। परन्तु स्वामी जी ने राजा साहब से कहा, 'ठाकुर साहब, एक अद्भुत शक्ति मुझे जबरदस्ती घुमा रही है। भगवान श्रीरामकृष्ण कृष्ण देव मेरे कधे पर एक महान कार्य का भार सौंप गये है। जब तक वह कार्य समाप्त नहीं होगा तब तक विश्राम करने की आशा व्यर्थ है। यदि जीवन में कभी विश्राम करने का अवसर मिला तो आपके साथ आकर जरूर रहूँगा।'

विवेकानन्द फिर अपने पथ पर निकल पड़े और मार्मागोआ होकर बेलगांव पहुँचे। यहाॅ पर इनकी भेंट हरिपद मित्र से हुई जिन्होंने सपत्नीक स्वामी जी का शिष्यत्व ग्रहण किया। वहाॅ मैसूर राज्य के दीवान आर0के0 शेषाद्रि बहादुर और मैसूर नरेश चामराजेन्द्र वाडियर बहादुर से इनकी भेंट हुई। महाराजा स्वामी जी की अलौकिक प्रतिभा व पांडित्य से विशेष आनंदित हुए। और उन्होंने स्वामी जी से राजभवन का आतिथ्य

ग्रहण करने का आग्रह किया। कुछ दिन मैसूर राजदरबार मे रहे। परन्तु स्वामी जी अपनी स्पष्ट वाक्पटुता से पीछे नहीं हटे। समय समय पर महाराजा के कार्य में किसी प्रकार की त्रुटि देखकर स्वामी जी उनकी तीव्र आलोचना कर देते थे। महाराजा इससे आनन्दित होते थे। एक दिन स्वामी जी की सस्नेह भर्त्सना से बनावटी क्रोध प्रकट हुए महाराजा ने कहा, 'स्वामी जी, मैं इतना बड़ा महाराजा हूँ। मुझसे आपको डरना उचित है, मेरी खुशामद करना उचित है। भविष्य के लिए आप सावधान हो जाइए वरना आपका जीवन सकट में पड सकता है।'

स्वामी जी ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया 'आपके अनुचित कार्य व कथनों का समर्थन करने के लिए तो अनेक सभासद है ही, मैं सन्यासी हूँ- सत्य ही मेरी तपस्या है। मामूली जड देह के अनिष्ट की आंशका से मैं सत्य को छोड़ दूँ? आप हिन्दू राजा होकर क्या एक हिन्दू संन्यासी से भी अनुचित कार्य की आशा करते हैं।'

इस घटना से स्वामी जी की स्पष्टवादिता एव निर्भीकता का परिचय मिलता है। मैसूर नरेश एक ओर स्वामी जी से हास परिहास करते दीख पड़ते थे तथा दूसरी ओर गुरु की तरह श्रद्धा भाव रखते प्रतीत होते है।

बेलग्राम से स्वामी जी हिन्दू राज्य मैसूर की बंगलौर नगरी में प्रविष्ट हुए। वहाँ के राजा दीवान ने स्वामी जी के व्यक्तित्व का इन शब्दों में वर्णन किया-

'इन सन्यासी में ऐसा चित्ताकर्षक व्यक्तित्व तथा दिव्य शक्ति है, जो भारत के इतिहास मे निश्चित रूप से अपना चिन्ह छोड़ जायेगी।'

कुछ दिन महाराजा का आतिथ्य ग्रहण कर स्वामी जी मलाबार (वर्तमान केरल प्रांत) की ओर उन्मुख हुए। ट्रावन्कोर की राजधानी त्रिवेन्द्रम में वे कॉलेज के प्राध्यापकों, राज्य के अधिकारियों तथा नगर के शिक्षित वर्ग के सम्पर्क मे आये। ट्रावन्कोर के एक

शिक्षित व्यक्ति ने उनके चरित्र के बारे मे कहा था- 'उनके चरित्र की विशेषताएं थीं- पवित्र हृदय, तपस्यामय जीवन, खुला मस्तिष्क, उदार दृष्टिकोण तथा सबके प्रति सहानुभूति।

यहॉ से वे रामेश्वर गये। रास्ते मे मदुरै रुके और वहॉ पर इनकी भेंट रामनद के महाराजा भास्कर सेतुपति से हुई, जो बाद मे स्वामी जी के उत्साही शिष्य बन गये। यहॉ स्वामी जी ने आम जनता की शिक्षा तथा कृषि पद्धति मे सुधार के लिए महाराजा को अवगत कराया। महाराजा ने स्वामीजी से शिकागो धर्म महासभा मे भारत के प्रतिनिधि के रूप मे सम्मिलित होने का अनुरोध किया। इस हेतु आर्थिक सहायता देने का वचन भी दिया। रामेश्वरम् के मंदिर मे दर्शन करने के उपरांत स्वामी जी भारत के दक्षिणी छोर पर स्थित कन्याकुमारी गये। यही पर समुद्र के बीच शिला खंड पर बैठे हुए उन्हें अपने भावी कार्य के बारे में गुरु श्री रामकृष्ण की स्मृति एव स्वीकृति प्राप्त हुई । साथ ही मॉ सारदामणि का स्वीकृति पत्र भी प्राप्त हुआ।

यह थी इनकी उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक की महान यात्रा। इस यात्रा के अंतिम छोर पर पहुॅच कर स्वामी जी का मन देश के वर्तमान और भविष्य के गहन ध्यान मे निमग्न हो गया। उन्होंने भारत की अवनति के मूल कारणों का सन्धान किया। उन्होंने जाना कि सैकड़ों वर्षो से शासकों ने गरीबों और पिछड़े लोगों को सताया है। अतः उनका हृदय विशाल जन समुदाय, दीन दलितों के उत्थान के लिए व्यथित हो उठा । वे बंगाल, महाराष्ट्र या पंजाब के बारे में नहीं, बल्कि समूचे भारत और उनके निवासियों के बारे में सोचने लगे। वह सम्पूर्ण भारत को संघटित और संश्लिष्ट रूप से देखते थे। अत अब उनके जीवन का ध्येय आत्ममुक्ति के स्थान पर जगत का हित हो गया। शिकागो मे होने वाली धर्म महासभा में जाने का निश्चय कर इन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि वे जन साधारण की सम्मति लेकर उनके द्वारा दी गयी भिक्षा से धन संग्रह करें। इसके पूर्व उन्हें मद्रासी युवकों ने पॉच सौ रूपये एकत्र कर शिकागो धर्म सभा में सम्मिलित होने के लिए दिए थे। लेकिन उस समय वहॉ जाने का निश्चय न कर पाने एवं जनमत स्वीकृति न होने के कारण धन को अन्य कार्य में प्रयुक्त करने का आदेश दे दिया था।

पाश्चात्य जगत में भारत के योद्धा सन्यासी

31 मई 1893 को स्वामी जी ने अपनी प्रथम विदेश यात्रा प्रारम्भ की। इस यात्रा का प्रमुख उद्देश्य हिन्दू धर्म के सम्बध मे विदेशियों के भ्रमपूर्ण विश्वासों को दूरकर उसके, उदार भावों का आधुनिक वातावरण के अनुकूल वैज्ञानिक युक्तियों द्वारा प्रचार एव आत्म सम्मान विहीन निर्लज्ज हिन्दुओं को विदेशियों के पैरों तले बैठ धर्म की शिक्षा लेने से रोकना था। स्वामी जी ने अपने उद्देश्य मे आशानुरूप सफलता प्राप्त की। लेकिन सफलता प्राप्ति के पूर्व उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। यदि कोई साधारण व्यक्ति होता तो वह इन कष्टों के सम्मुख हार मान लेता। इसीलिए स्वामी जी कहा करते थे- 'दु ख दारिद्रय से बढ़कर दूसरा कोई शिक्षक नहीं।'

उपरोक्त तथ्य की पुष्टि हेतु उनके मार्ग मे आये कष्टों एव मुसीबतों का परिचय उपयुक्त होगा। जब स्वामी जी शिकागो 30 जुलाई को पहुँचे तब उन्हे विदित हुआ कि धर्म सभा सितम्बर माह मे होगी। वह लगभग 2 माह पूर्व ही पहुँच गये थे। पहली समस्या यह आई कि इतने महगे देश में इतने दिनो तक निर्वाह हेतु धन कहाँ से आयेगा? दूसरी समस्या कि धर्म महासभा में जाने के लिए परिचय पत्र नहीं था। साथ ही प्रतिनिधि के रूप मे उपस्थित होने के लिए जो आवेदन पत्र भरा जाना था उसकी अंतिम तिथि भी समाप्त हो चुकी थी। अन्य कष्ट वहाँ के लोगों द्वारा इनकी विचित्र वेषभूषा को देखकर उपहास बनाना आदि थे। परन्तु स्वामी जी ने धैयपूर्वक समस्याओं का सामना किया। मंगलमय प्रभु पर दृढ़ विश्वास ने उन्हें अपने संकल्प को सिद्ध करने में सहायता दी। शिकागो से बोस्टन जाते समय मार्ग मे मिली वृद्ध महिला ने उन्हें अपने घर में आतिथ्य ग्रहण करने का निमंत्रण दिया एवं स्वामी जी के वेदान्त प्रचार कार्य में भी मदद की। इससे दो लाभ हुए एक लाभ उनका दैनिक व्यय एक पौड की बचत हुई और दूसरा लाभ अमेरिकावासियों में वेदांत-विचारों का प्रसार। ईश्वर की जिस पर कृपा होती है वह उसके लिए सब साधन सुलभ कर देता है। ऐसी ही कृपा दृष्टि स्वामी जी के ऊपर भी हुई।

इन्हीं महिला के यहाँ निवास की अवधि मे एक दिन सयोगवश स्वामी जी का परिचय हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रख्यात प्रोफेसर मि0 जे0एच0 राइट महोदय से हुआ।

स्वामी जी के साथ थोडी ही देर वार्तालाप करने पर इन्हे स्वामीजी का यहाँ आने का उद्देश्य विदित हो गया और इन्होंने स्वामी जी को आश्वासन दिलाया कि वे शिकागो धर्म महासभा मे हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में अवश्य जायेंगे। राइट महोदय ने उसी समय उक्त महासभा से सम्बंधित अपने मित्र मि0 बनी के नाम पत्र लिखा जिसमें उन्होंने अन्य बातो के साथ यह भी लिख दिया, 'मेरा विश्वास है कि यह अज्ञात हिन्दू सैंन्यासी हमारे सभी पंडितों को एकत्रित करने पर जो कुछ हो सकता है उससे भी अधिक विद्वान है।'

इतनी सहायता होने के बाद जब स्वामी जी बोस्टन से शिकागो के लिए रवाना हुए तो मि0 बैरोज साहब का पता खो गया। कुछ भद्र लोगों से पूँछताछ करने पर उन्हे नीग्रो समझकर प्रत्युत्तर न मिल सका। एक ओर क्षुधा से पीड़ित दूसरी ओर शीत से ठिठुरते स्वामी जी ने किसी तरह रात्रि व्यतीत की। प्रात. काल नई आशा की किरण लेकर वह द्वार-द्वार भिक्षा मांगने लगे। किसी ने उन्हें गाली दी किसी ने दरवाजे बंद कर लिए। परन्तु स्वामी जी हार मानने वाले नहीं थे। वह थककर राजपथ के किनारे बैठकर शांतिचित्त से गुरुदेव' का स्मरण करने लगे इसी समय सामने के विशाल भवन से एक भद्र महिला निकलीं और स्वामी जी का यहाँ आने का प्रयोजन जान वह उन्हें अपने घर ले गयीं। इन सहृदय महिला का नाम श्रीमती जार्ज डब्ल्यू0 हेल था। यही महिला स्वामी जी के अमेरिका प्रवास के समय उनकी मातृस्थानीया बनीं एवं उनके वेदात के प्रचार व प्रसार कार्य में काफी सहायता की। इन्हीं महिला के सहयोग से स्वामी जी शिकागो की धर्म महासभा के संयोजक से मिलकर हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित होकर विश्ववंद्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए। विश्व मंच पर उपस्थित होकर इतने विशाल जनसमुदाय के सम्मुख व्याख्यान देने का यह उनका प्रथम अवसर था। जिसमे स्वामी जी सर्वोच्च वक्ता के रूप में सम्मानित हुए।

इनके व्याख्यान के आरम्भिक दो शब्दों 'अमेरिका निवासी भगिनी व भ्रातृगण' ने श्रोतावृंद को इतना मुग्ध कर दिया कि दो मिनट तक करतल ध्वनि होती रही। विश्व मानव के मिलन मन्दिर के केन्द्रस्थल मे खड़े होकर इस प्रकार का सम्बोधन करने वाले यह पहले प्रवक्ता थे। अन्तस्तल से उठे इस निर्मल आह्वान ने श्रोतागणों के हृदय मे छिपी हुई प्रेमनिर्झरणी के मुखावरण को उन्मुक्त कर दिया। अमेरिका राष्ट्र विवेकानन्द की प्रशसा से मुखरित हो गया। समाचार पत्र भी दुन्दुभि निनाद से स्वामी जी की विजय की घोषणा करने लगे। 'न्यूयार्क हेरल्ड' समाचार पत्र ने तो यहाँ तक लिखा-

'शिकागो धर्म महासभा में विवेकानन्द ही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। उनका भाषण सुनकर ऐसा लगता है कि धर्म मार्ग मे इस प्रकार के समुन्नत राष्ट्र (भारतवर्ष) में हमारे धर्म प्रचारकों को भेजना निर्बुद्धिता मात्र है।'[12]

विश्व मंच पर उपस्थित होने के प्रथम दिन ही स्वामी जी अपने निर्दिष्ट उद्देश्य में सफल हुए। दिन प्रतिदिन उनके भाषण पाश्चात्य लोगों को मनोहारी एवं ज्ञानदायक लगने लगे। अब स्वामी जी वेदांत प्रचार का उपयुक्त अवसर देख उसमें सलग्न हो गये। वेदान्त प्रचार के कार्य को प्रतिष्ठित करने में उन्हें अनेक असम्भव बातों से युद्ध करना पड़ा। एक तरफ अमेरिका का विख्यात स्वाधीन चिन्तावादी दल (Free Thinkers)और दूसरी ओर ईसाई मिशनरीज। इन दोनों दलो ने पहले तो विवेकानन्द द्वारा प्रचारित धर्ममत का तर्क द्वारा खंडन किया उसमे सफलता न मिलने पर विवेकानन्द के व्यक्तिगत चरित्र की आलोचना करने से न चूके। यहाँ तक कि जब स्वामी जी को किसी परिवार में धर्म के उपदेश के लिए बुलाया जाता तो मिशनरी के लोग उस व्यक्ति से स्वामी जी के प्रतिकूल बात कहकर निमंत्रण वापस करवा लेते या उपदेश के समय घर में ताला बंद करवा देते जिससे स्वामी जी का अपमान हो। इन सब अपमान एवं विषमताओं के बावजूद स्वामीजी अपने प्रचार कार्य में संलग्न रहे। लगभग दो वर्ष के अथक परिश्रम से क्लान्त हो स्वामी जी ने कुछ माह सेंट लारेंस नदी के बीच 'सहस्रद्वीपोद्यान' नामक

द्वीप मे विश्राम से व्यतीत किए। यहाँ पर उन्होंने जो उपदेश दिए वह देववाणी (Inspired talks) नामक ग्रथ में उपलब्ध है। यही पर स्वामी जी ने 'सन्यासी का गीत' नामक अमर कथा लिखी , जो आज आध्यात्मिक पथ पर चलने वालों के लिए सबसे मूल्यवान विरासत है।

सहस्रद्वीपोद्यान से अमेरिका आकर स्वामी जी वेदान्त की अनुरागिणी कुमारी हेनरी एटामुलर द्वारा आमन्त्रित किए जाने पर इग्लैंड गये। स्वदेशाभिमानी स्वामी जी के मन में अंग्रेजों के प्रति प्रतिकूल विचार आ रहे थे। इस प्रकार के विचारों का आना भी स्वाभाविक था। क्योंकि भारत मे अग्रेज शासक व वणिकगण भारतवासियों के साथ घृणा व नीच भाव का व्यवहार करते थे। परन्तु यहाँ भी थोड़े ही समय में स्वामी जी की उक्त धारणा दूर हो गयी। स्वामी जी ने अग्रेजों के चरित्र के बारे मे कहा-

'अंग्रेज जाति के प्रति मुझसे अधिक घृणा के भाव लेकर और किसी व्यक्ति ने ब्रिटिश भूमि पर पदार्पण नही किया है पर आज यहाँ पर ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो अंग्रेज जाति को मुझसे अधिक चाहता हो।'[13]

इस प्रकार इग्लैंड ने स्वामी जी को अमेरिका से भी ज्यादा आकृष्ट किया। यहाँ पर भी न्यूयार्क की तरह स्वामी जी के पास लोगों की भीड़ आने लगी। स्वामी जी ने बड़े उत्साह के साथ ब्रिटिश साम्राज्य की केन्द्रभूमि मे भारत के संदेश का प्रचार किया। स्वामीजी की भाषण पटुता व पाण्डित्य से मुग्घ होकर अनेक शिक्षित स्त्री तथा पुरुष उनका उपदेश सुनने आने लगे तथा कुछ ने तो उनका शिष्यत्व ही स्वीकार कर लिया। इनमें सर्वप्रमुख कुमारी मार्गरेट इ0 नोबल (भगिनी निवेदिता) थीं। जो स्वामी जी के साथ भारत आयीं और भारत की सेवा में अपना जीवन समर्पित कर दिया। इंग्लैण्ड से वह पुनः अमेरिका लौटे। और वेदान्त प्रचार कार्य का विस्तार किया। यहाँ पर उाका परिचय इग्लैंड के कुशल सांकेतिक लिपिविद् श्री जे0जे0 गुडविन से हुआ। थोड़े दिन स्वामी जी के साथ रहने पर उनके भाव परिवर्तित हो गये और उन्होंने स्वामीजी

का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। इन्हीं महोदय के अथक प्रयास के फलस्वरूप आज हमे स्वामी जी के पाश्चात्य देश मे दिए गये व्याख्यान पुस्तकों के रूप मे उपलब्ध है। 'राजयोग' भक्ति योग, ज्ञान योग, व कर्मयोग, इनके द्वारा व्याख्यादित प्रवचनों का सग्रह है।

अब स्वामीजी ने सार्वजनिक भाषण देना बंद कर दिया और एक निश्चित समिति के रूप मे वेदांत आदोलन को गठित कर उन्होंने अपने उपदेशों को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाया। यह कार्य अमेरिका की 'वेदान्त सोसायटी' ने किया। इस सस्था द्वारा वेदांत प्रचार व प्रसार सुगमता पूर्वक होता रहा। स्वामीजी ने न्यूयार्क के प्रभावशाली एवं धनी व्यक्ति श्री फ्रांसिस एच0 लेगेट को इस नव गठित वेदान्त सोसायटी का अध्यक्ष बना दिया। अमेरिका व इंग्लैंड में वेदान्त प्रचार के कार्य से सन्तुष्ट हो स्वामी जी का मन अपनी मातृभूमि के दर्शनार्थ व्यग्र हो उठा। लन्दन में स्वामी जी के निवास की एक अत्यंत स्मरणीय घटना थी- आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के महान प्राच्यविद् प्रो0 मैक्समूलर से भेंट। स्वामीजी के अपने शब्दों में-

'यह भेंट मेरे लिए वास्तव में आलोक देने वाली सिद्ध हुई। छोटा सुन्दर सा घर, चारों ओर बढ़िया सा बगीचा, रजत, धवल केशों से युक्त ऋषि, उनका शांत और सौम्य चेहरा, सत्तर वर्ष की वय के बावजूद बच्चे के समान स्निग्ध ललाट और कहीं पीछे गहराई में अवस्थित आध्यात्मिक खान की सूचना देती हुई उनके मुख मण्डल की हर रेखा.....'

युग प्रर्वतक कार्य भारत में

16 दिसम्बर 1896 को स्वामी जी ने सेवियर दम्पति के साथ लंदन त्यागकर फ्रांस की ओर प्रस्थान किया। इस समय वे यह सोचकर आनन्दमग्न थे कि एक महान उत्तरदायित्व से वे मुक्त हुए क्योंकि पाश्चात्य जगत का कार्य उपयुक्त लोगों के कंधों

पर डाल दिया गया था। अब उनके सामने सिर्फ भारत की ही तस्वीर थी। सेवियर दम्पति से उन्होंने कहा, 'अब मेरे मन मे एक ही विचार है और वह है भारत। अब मै भारत की ओर देख रहा हूँ- केवल भारत की ओर।

विश्वधर्म महासभा मे भारतीय हिन्दू धर्म की पताका फहराने वाले संन्यासी के भारत आगमन पर जनता ने भाव विह्वल हो उनकी सादर अभ्यर्थना की एवं अभिनन्दन पत्र समर्पित किए।

भारत की भूमि पर पदार्पण करने के बाद स्वामी जी रामेश्वर मंदिर दर्शनार्थ गये जहाँ पर लगभग पाँच वर्ष पूर्व इन्होंने अपने परिव्राजक व्रत का उद्यापन किया था। यहाँ इन्होंने जन समूह को 'यत्र जीव तत्र शिवं' शब्दों से अनुप्राणित किया। इस महामत्र द्वारा प्रत्येक नर नारी की सेवा करना ही शिव भक्ति बताया।

भारत के अभ्युत्थान के लिए स्वामी जी के मन में जो योजनाएं आकार ले रही थीं, उनका किंचित आभास उनके इन व्याख्यानों से लग जाता है। पाम्बन पहुँचने पर वहाँ के निवासियों द्वारा भारत के नेतृत्व का अनुग्रह करने पर स्वामी जी ने नवयुग का सन्देश इन शब्दों मे मुखरित किया-

'मुझे लगता है कि प्रत्येक राष्ट्र का अपना अपना एक मुख्य आदर्श होता है। वह आदर्श ही मानो उसके राष्ट्रीय जीवन का मेरुदण्ड है। भारत का मेरुदण्ड राजनीति, युद्ध, वाणिज्य अथवा यंत्र शक्ति नहीं है, धर्म केवल धर्म ही भारत का मेरुदण्ड है।... इस समय सारी दुनिया आध्यात्मिक खाद्य के लिए भारत भूमि की ओर ताक रही है और पृथ्वी के समस्त राष्ट्र के लिए भारत को इसकी व्यवस्था करनी पड़ेगी।'[14]

मद्रास के विक्टोरिया हॉल में उन्होंने 'मेरी समरनीति' वेदान्त का सन्देश' भारत का भविष्य' 'भारतीय महापुरुषगण' 'हमारा वर्तमान कर्तव्य' इन शीर्षकों पर प्रेरणादायक

व्याख्यान दिए। उन्होने भारतवासियो को आगाह किया कि भारत को सामाजिक या राजनीतिक विचारों से प्लावित करने से पूर्व उसे पहले आध्यात्मिक विचारों से सराबोर कर देना चाहिए। पहला कार्य यह होगा कि उपनिषदों, शास्त्रों और पुराणों मे छिपे हुए सत्य को पुस्तकों से , मठ से, अरण्यों से बाहर निकाल कर देश भर में बिखेर देना होगा। अपने देशवासियों को प्रेरणापूर्ण संदेश देते समय स्वामी जी यह नहीं भूले थे कि लाखों करोड़ों लोगों को पतन और घोर जड़ता के बीच से भी उबारना उनका कर्तव्य है। उन्होंने अपने देश के समाज सुधारकों और देश भक्तों को चेतावनी देते हुए देश भक्ति के आदर्श को निम्नलिखित प्रेरणापूर्ण शब्दों मे रक्खा-

' हम ही अपने सारे पतन के लिए उत्तरदायी हैं। हमारे सामन्तवादी पूर्वज देश की साधारण जनता को अपने पैरों तले इतना रौदते गये कि वे असहाय बन गये और अत्याचार के कारण वहाँ के गरीब लगभग भूल ही गये कि वे भी मनुष्य है . . अतएव मेरे भावी सुधारकों, तुम अनुभव करो, तुम हृदयवान बनो। . क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढक लिया है? .... क्या तुम अपने नाम यश, स्त्री पुत्र, धन सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर की सुध विसर गये हो? यदि हाँ, तो जानो तुमने देश भक्त बनने की प्रथम सीढ़ी पर पैर रक्खा है।'

विवेकानन्द अपने पूर्ववर्ती संस्कारकों की दोष-त्रुटियाँ निर्भीकता के साथ दिखाते हुए इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि संस्कारकों का उद्देश्य व्यर्थ हुआ क्योंकि उनमें से बहुत कम व्यक्तियों ने अपने धर्म का भलीभाँति अध्ययन और चर्चा की। एक भी व्यक्ति उस साधना के पथ से नहीं गया है, जो 'सभी धर्मो के उत्पत्ति स्थल' को समझने के लिए आवश्यक है।

स्वामी जी ने केवल ध्वंसमूलक संस्कार आंदोलन से ही अपने को पृथक नहीं कर लिया, वरन् दूसरी ओर यह भी कह दिया कि वे सब प्रकार की सामाजिक उन्नति के विरोधी रक्षण शील समाज के युक्तिहीन कुसंस्कारों के भी पक्षपाती नहीं है। उनकी

गठनमूलक कार्य पद्धति का प्रथम निर्देश है, समाज के सभी स्तरों में क्रम सकोच के स्थान पर संप्रसारण की शक्ति का संचार करना। केन्द्रीभूत सामूहिक शक्ति अपने बल से जातीय जीवन के विकास की बाधाओं को दूर कर उसे आगे बढने में प्रोत्साहित करेगी।

समाज की दुर्गति व व्याधियों के प्रति उनका विचार था कि सिर्फ समाज की कुछ प्रथाओं को परिवर्तन कर देने से रोग का निदान नहीं होगा। समाज रूपी शरीर में कोई रोग प्रविष्ट होने पर वह भिन्न भिन्न अंगों मे , भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट होता है। रोग के लक्षण और रोग दो अलग अलग वस्तुऐं हैं। अत रोग के लक्षणों को दूर करने के बजाए रोग को मूल से नष्ट करना होगा। तभी समाज उन्नति की दिशा मे अग्रसर हो सकता है। समाज की उन्नति ही उनके लिए प्रथम ध्येय था। अत इन्होंने अपने व्याख्यानों द्वारा जनता को सिर्फ समाज रूपी देवता की सेवा करने के लिए इन शब्दों से प्रेरित किया-

'आगामी पचास वर्षो तक तुम लोग एक मात्र 'स्वर्गादपि गरीयसी' जननी जन्मभूमि की आराधना करो। हमारे मन से... शेष सभी व्यर्थ के देवता लुप्त हो जायें। केवल यही, यह हमारी जाति ही ऐसा देवता है, जो जाग रहा है, उसके सभी जगह हाथ हैं, सभी जगह पैर है, सभी जगह ऑखे है, वह सबको व्याप्त करके स्थित है। दूसरे सब देवता सो रहे हैं। व्यर्थ के देवताओं के पीछे जाकर क्या लाभ, जब हम अपने चारों ओर विद्यमान इस ईश्वर की , इस विराट् की पूजा नही कर पाते?.... सबसे पहली उपासना विराट की उपासना है- हमारे चारों ओर जो है, उनकी उपासना है... ये मनुष्य और जीव जन्तु ये ही हमारे देवता हैं, और यदि किसी देवता की हमें सबसे पहले उपासना करनी चाहिए, तो वह हैं हमारे अपने देशवासी।'[15]

विदेश से लौटकर स्वदेश मे आकर स्वामीजी ने अपने गुरु भाइयों की धारणा धार्मिक जीवन के व्यक्तिगत भाव से निकाल कर सार्वजनिक भाव में बदल दी। जिसके अन्तर्गत जनता जनार्दन की सेवा करना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता था। अब तक मठ

के संन्यासी प्राचीन सन्यासी परम्परा का निर्वाह करते हुए आत्म मुक्ति के लिए कठोर तप व ध्यान मे रत रहते थे। अब स्वामी जी ने 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के महामंत्र को अपना कर देश और समूची मानव जाति की सेवा के लिए संन्यासियों को प्रेरित किया।

संन्यासियो के अतिरिक्त बगाली युवको से मातृभूमि के लिए महान् बलिदान की प्रार्थना की। उन्होंने बगाली नव युवकों से पुकार कर कहा, 'हे बंगाली युवकों, मेरे इस कार्यभार को तुम लोग ग्रहण करो। ... वर्तमान युग की जिम्मेदारी व कर्तव्य को समझ लो। अन्य किसी देश के युवकों के कधे पर कभी इतना बड़ा भार नहीं पड़ा था। मैंने लगभग पिछले दस वर्ष से सारे भारत वर्ष का भ्रमण किया है- मेरी यह दृढ भावना है कि बगाल के युवकों के बीच में से ही वह शक्ति प्रकट होगी, जो भारत को उसके योग्य आध्यात्मिक अधिकार में प्रतिष्ठित करेगी।'[16]

इन सब बातों को कहकर ही स्वामीजी शान्त न हुए। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि राष्ट्र की उन्नति एवं चरित्र गठन के लिए एक जीते जागते गुणयुक्त आदर्श पुरुष की आवश्यकता है जिसके झंडे के नीचे खड़े हो हम ऊँचे उठे। श्री रामकृष्ण देव में उन्होंने, ऐसे ही आदर्श को प्राप्त किया। अत. उन्हीं के नाम पर सबको मतवाला बनने की सलाह दी। स्वामी जी ने श्री रामकृष्ण की जीवनी व उपदेश को अपनी प्रतिभा के आलोक में नवीन रूप में प्रकट किया। मंदिर व प्रतिमा की सीमा से भगवान को बाहर लाकर 'यत्र जीव तत्र शिव' के मंत्र से 'विराट' की पूजा के लिए अग्रसर होने का आह्वान किया।

स्वामी जी ने अपने गुरु भाइयों को अपने जीवन का उद्देश्य समझाकर कहा कि भारत के कल्याण की कामना से ऐसे एक नवीन सन्यासी सम्प्रदाय की स्थापना करनी होगी- जो मानव की सेवा के व्रत में अपनी अपनी मुक्ति की कामना का परित्याग तो करेंगे ही, साथ ही आवश्यक हो तो आनन्द के साथ नरक में जाने तक को तैयार होंगे।

'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' ही श्री रामकृष्ण अवतीर्ण हुए थे, उनके शिष्य होकर यदि हम दूसरों के लिए आत्मोसर्ग न कर सकें- उनके द्वारा प्रचारित महान् युगादर्श की उपलब्धि करने में असमर्थ हों तो साधारण व्यक्ति और हममे अन्तर ही क्या है?

सन्यासी तथा गृहस्थ शिष्यों व युवकों को लोक कल्याण के कार्यो में संलग्न करने के बाद उन्हे आवश्यकता महसूस हुई कि आध्यात्मिक व परोपकारिक कार्यो को सुव्यवस्थित एव सगठित किया जाए। अत स्वामी जी ने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सन्यासी व गृहस्थ भक्तों की एक समिति का आयोजन किया। उसमे उपस्थित भक्तों की सर्वसम्मति से एक सघ का गठन । मई 1896 को किया गया जिसका नाम 'रामकृष्ण मिशन', रक्खा गया। इस मिशन का कर्तव्य निर्धारित हुआ- सभी धर्मो को उसी एक शाश्वत धर्म के विभिन्न रूप जानकर उनमे परस्पर भ्रातृत्व की स्थापना करने हेतु सम्यक् भावपूर्वक उस आन्दोलन की गतिविधियों को संचालित करना, जिसका उद्घाटन श्री रामकृष्ण ने किया था।

इस मिशन के प्रधान उद्देश्य इस प्रकार है -

(1) सभी धर्मो को एक ही सनातन धर्म के विकास समझकर विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच एकता और भ्रातृत्व स्थापित करना।

(2) उन्नत चरित्र कर्मी तैयार करना, जो विज्ञान एवं अन्यान्य विषयों में पारगत होकर जनसाधारण की भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए आत्मोत्सर्ग करेंगे।

(3) भारत के शिल्प , साहित्य एवं ललित कला आदि की उन्नति और विस्तार करना।

(4) श्री रामकृष्ण देव की सार्वजनीन शिक्षा के आलोक में जन साधारण में वेदान्त एवं अन्यान्य धर्मो के प्रकृत आदर्श का प्रचार करना।

(5) जाति धर्म का विचार न करते हुए नर नारायण बुद्धि से आर्तो की सेवा में अपने को लगा देना।

इस मठ मे यह भी प्रस्तावित किया गया कि मिशन की गतिविधियाँ भारत के विभिन्न भागों में मठों और आश्रमों की स्थापना हेतु केन्द्रित हों, जिससे सन्यासियों और उन गृहस्थों को प्रशिक्षित किया जा सके, जो दूसरों को शिक्षा प्रदान करने के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग करना चाहते हों। उसके विदेशी विभाग का कार्य हो- सघ के प्रशिक्षित सदस्यों को भारत से बाहर वेदान्त प्रचार के केन्द्र स्थापित करने हेतु भेजना, जिससे भारत और विदेशो मे घनिष्ठ सम्बंध एवं अधिकाधिक मतैक्य हो।

स्वामी जी द्वारा स्थापित इस मिशन के देश में 88 तथा विदेश में 3। केन्द्र हैं। इन मठ तथा मिशन केन्द्रों के माध्यम से एक ओर जिस प्रकार मानव समाज की उन्नति के लिए तरह तरह के कार्य अनुष्ठित हो रहे हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर सघ के सन्यासीगण पूर्व और पश्चिम के बीच एक सयोग सेतु स्थापित कर भारतीय संस्कृति के आदर्श का प्रचार कर रहे है। इस प्रकार मानव के विचार जगत में भी एक विपुल परिवर्तन लाकर विश्वशांति का पथ सुगम बना रहे हैं।

भारतीय नवजागरण के इतिहास मे युवकों एवं जन साधारण को सबसे अधिक प्रोत्साहित स्वामी जी ने ही किया है- इसी प्रकार के विचार पं0 जवाहर लाल नेहरू के भी थे।

'यद्यपि विवेकानन्द अतीत भारत की नींव पर दृढ़ और परम्परा के प्रति गौरवान्वित रहे है, तो भी जीवन की समस्याओं के प्रति उनकी विचारधारा आधुनिक थी।.... अवसादग्रस्त तथा हतोत्साह हिन्दू मन के लिए वे एक संजीवनी शक्ति के रूप में आये थे और उसमें उन्होंने आत्मविश्वास तथा अतीत पर श्रद्धा का भाव भी पैदा किया।...'

यह वह समय था जिसमें इन्होंने युगान्तर कारी कार्य किए। देश के युवकों को उनके पराक्रम ,संयम, सत्यनिष्ठता एवं मानवता के प्रति सचेष्ट किया। फलस्वरूप वे स्वाधीनता की लड़ाई की ओर अग्रसर हुए।

अमेरिका में भारतीय ग्रीष्म

पाश्चात्य देशों का दूसरा दौरा स्वामी जी का अवकाश एव विश्राम का दौरा था। वह 20 जून 1899 को कलकत्ता से लदन के लिए रवाना हुए और 31 जुलाई को लंदन पहुँचे यहाँ उन्होंने बिम्बलडन मे आराम व शांति का जीवन बिताया। यहाँ इन्होंने कोई सार्वजनिक कार्य नही किया। 16 अगस्त को न्यूयार्क पहुँच कर श्री एवं श्रीमती लेगेट के ग्रामीण निवासस्थान पर ठहरे। लगभग 1 महीने बाद भगिनी निवेदिता भी वहाँ आ गयीं और 5 नवम्बर तक उनके साथ रही। स्वास्थ्य में सुधार होते ही स्वामी जी ने न्यूयार्क मे वेदान्तिक सोसाइटी के कक्ष मे 15 दिन नियमित रूप से व्याख्यान दिए। इसके बाद रास्ते में शिकागो रुकते हुए कैलीफोर्निया गए। शिकागो में सर्वधर्म सम्मेलन के पुराने मित्रों से मिले। ˉ। दिसम्बर 1899 को कैलीफोर्निया पहुँचे और 20 जून 1900 तक वहीं रहे।

कैलीफोर्निया मे इनका कार्यक्रम काफी व्यस्त था। फरवरी 1900 तक लास एजेल्स मे रह कर 'होम आफ ट्रुथ' नामक संघ के मुख्यालय पर अनेक कक्षाएं लगायी और अनेक सार्वजनिक भाषण दिए। वहाँ के व्याख्यान का प्रमुख विषय राजयोग था। प्रायोगिक मनोविज्ञान में एक अभ्यास के रूप मे उसके गूढार्थो पर विचार प्रगट किए। 'यूनिटी' पत्रिका ने उनके कार्यो की प्रशंसा इस प्रकार लिखी है-

'स्वामी विवेकानन्द मे विश्वविद्यालय अध्यक्ष की विद्वता, पादरी की भव्यता और एक उन्मुक्त और अल्हड़ बालक की सी शान और खुशदिली का समन्वय है।'

यहाँ से वे सैनफ्रांसिस्को चले गये। यहाँ इन्होंने राजयोग और समाधि विषय पर नियमित कक्षाएं चलाई। गीता, भक्तियोग और वेदान्त दर्शन पर सार्वजनिक भाषण दिए। इन्होंने राज्य के विभिन्न भागों में विशेषकर सैनफ्रांसिस्को में वेदान्त केन्द्र स्थापित किये। यहाँ इन्हें वेदान्त के छात्रों के लिए एक आश्रम की स्थापना हेतु कु0 मिन्नी सी0 बुक शिष्य द्वारा 160 एकड़ भूमि दान स्वरूप मिली। यह स्थान आश्रम

के दृष्टिकोण से अत्युत्तम वनो और पहाडियो से आवृत्त था। इसका नाम 'शांति आश्रम' रखा गया। इस आश्रम का उद्घाटन अगस्त मे स्वामी तुरीयानन्द जी ने किया।

स्वामी जी व्याख्यान एव प्रशिक्षण के कार्यकलापों से पुन क्लान्त हो गए और उन्हे विश्राम तथा चिकित्सीय देख रेख की आवश्यकता महसूस हुई। कैलीफोर्निया में निवास के समय स्वामी जी प्राय पसडेना एव लास ऐन्जल्स के बीचपहाड़ियों में सैर सपाटे के लिए जाते थे। वहाँ पर अपने भारतीय अनुभव और अमरीकी दौरो की स्मृतियाँ सुनाकर अपने साथियों का मन बहलाव व शिक्षा प्रदान करने का प्रयास करते थे।

यद्यपि इस समय उनका कार्य सानन्द एवं सोल्लास पूर्वक चल रहा था परन्तु उन्हे आतरिक शांति और समाधि लगाने की तीव्र इच्छा हो रही थी। इस बात की पुष्टि मिस मैक्लियाड को लिखित 18 अप्रैल 1900 के पत्र द्वारा होती है-

'... ये काम और कार्यकलाप, भलाई करना आदि आदि ये सब फालतू के काम हैं, मैं बहुत पहले ही नेता का अपना स्थान छोड़ चुका हूँ। मुझे अपनी आवाज उठाने का अधिकार नहीं है। इस वर्ष के शुरू से मैंने भारत में किसी भी चीज का आदेश नहीं दिया है। मेरे काम के पीछे मेरी महत्वाकांक्षा थी, मेरे प्रेम के पीछे मेरी शक्ति पिपासा थी। अब वे सब लुप्त हो रही हैं। और मैं निरुद्देश्य घूम रहा हूँ। मै आता हूँ माँ! मै आता हूँ। मै केवल श्रोता हूँ, अब कर्ता नहीं रहा।'[17]

फरवरी 1900 मे स्वामी जी ने ओकलैण्ड के सर्वप्रधान यूनिटेरियन चर्च में धर्माचार्य रे0 डा0 वेन्जामिन के0 मिल्स महोदय के निमंत्रण पर लगातार आठ भाषण दिए। प्रतिदिन लगभग दो सौ श्रोतागण उपस्थित होते थे। समाचार पत्रों में उनके भाषणों का सारांश व उद्देश्य छपने लगा। इसी समय मिल्स महोदय ने एक धर्मसभा (Congress of Religion) आयोजित की। इसमें कैलीफोर्निया के विभिन्न स्थानों से सैकड़ों मिशनरी व धर्माचार्य सम्मिलित हुए। सभी स्वामी जी के उदार धर्ममत तथा धर्म समन्वय

के अपूर्व संदेश को सुनकर मुग्ध हुए और शत मुख से प्रशसा की। डा0 बेन्जामिन के0 मिल्ट नेस्वामी जी के पवित्र चरित्र एव असीम आध्यात्मिक अर्न्तदृष्टि से मुग्ध हो मुक्त कठ से श्रोताओं के सम्मुख स्वामी कापरिचय इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया-

'वास्तव में स्वामी जी ऐसे विशाल बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति है कि उनके सम्मुख हमारे विश्वविद्यालय के बडे से बडे अध्यापकगण भी शिशु जैसे लगते है।'[18]

ओकलैण्ड से स्वामीजी फरवरी मास के अन्त मे कैलीफोर्निया की राजधानी सैन-फ्रांसिस्को पहुँचे। यहाँ स्वामी जी ने 'गोल्डन गेट हॉल' में 'सार्वजनीन धर्म का आदर्श' विषय पर भाषण दिया। जनता ने मत्रमुग्ध हो दो घंटे खडे रहकर उनकी अमृतमय मधुर वाणी का श्रवण किया।

मार्च 1900 मे स्वामी जी ने कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महापुरुषो के सम्बंध मे धारावाहिक भाषण दिये। जनता के आग्रह पर उन्होंने राजयोग पर भाषण दिए। परन्तु उनके शिष्य श्री गुडविन के परलोक सिधारने के कारण अधिकांश भाषण अप्राप्य हो गये हैं।

अप्रैल मास में स्वामी जी के उत्साही शिष्य गण कैलीफोर्निया में 'वेदान्त समिति' व प्रचार केन्द्रों की स्थापना करके वेदान्त प्रचार करने लगे। स्वामी जी की अन्यतम शिष्या श्रीमती हैन्स बोरा लॉस एंजेल्स में नियमित रूप से वेदान्त की कक्षाएं लेने लगीं।

वसन्त ऋतु के प्रारम्भ मे स्वामी जी प्रचार कार्य से अवकाश लेकर 'कैंप टेलर' नामक गांव में विश्राम हेतु चले गये। यद्यपि तीन सप्ताह बाद वह सैनफ्रांसिस्को को लौट गये परन्तु उनका शारीरिक स्वास्थ्य ठीक न था। अत भाषण नहीं दिए। स्वामी जी के प्रति गम्भीर श्रद्धा रखने वाले उनके शिष्य डा0 विलयम फास्टर ने उनकी यथोचित देखभाल की। मई मास में कुछ स्वस्थ हो जाने पर स्वामी जी ने श्रीमत् भगवद्गीता

के सम्बध मे लगातार चार आकर्षक भाषण दिए। मित्रवत्सल, उदार, महाज्ञानी विवेकानन्द की चरित्र चर्चा प्रतिदिन स्थानीय समाचार पत्रों में प्रकाशित होती थीं। यदि इन सब को एकत्र कर लिया जाये तो एक सुवृहत् ग्रंथ बन सकता है। 'पैसिफिक वेदान्तिन्' मे प्रकाशित मन्तव्य इस प्रकार है -

'स्वामी जी ने अपने गम्भीर भावों के द्वारा समग्र पृथ्वी को स्पन्दित किया है, उनके ये भाव तथा विचार प्रलय तक सदा ही प्रतिध्वनित होते रहेंगे। क्या शिशु, क्या भिक्षुक, राजा क्रीतदास और क्या वेश्या- सभी लोग समानाधिकार के साथ उनके साथ वार्तालाप कर सकते है। उनका कथन है, 'ये लोग एक ही परिवार के अन्तर्गत हैं। मैं उन सभी मे अपना 'मै पन' देखता हूँ और अपने मे भी मैं उनेक स्वरूप का अनुभव करता हूँ। यह पृथ्वी एक परिवार जैसी है, युगयुगान्तरों मे व्याप्त होकर सत्यस्वरूप अनन्त ब्रह्म समुद्र ही विराजमान है।'

जुलाई मास में पैरिस प्रदर्शिनी की धर्मेतिहास सभा में बोलने के लिए स्वामी जी को निमंत्रण प्राप्त हुआ अत यह न्यूयार्क अपने पुराने भक्तगणों से मिलने के लिए गये। यहॉ 'वेदान्त समिति' के प्रचार कार्य का निरीक्षण कर संतुष्ट हुए। समिति के सदस्यो के विशेष आग्रह पर इन्होंने 'हिन्दू स्त्री का जीवनादर्श' विषय पर विविध तथ्यपूर्ण भाषण दिया। 20 जुलाई को स्वामी जी पेरिस पहुँचे और लिगेट दम्पति के अतिथि बने। वहॉ पर फ्रास के प्रसिद्ध दार्शनिक व लेखक मॉ0 जूल बोआ से स्वामी जी का परिचय हुआ। इनसे स्वामी जी ने फ्रांसीसी भाषा सीखी। लिगेट दम्पति के घर प्रतिदिन विख्यात दार्शनिक, साहित्यिक, चित्रकार, भास्कर, धर्माचार्य व वैज्ञानिक गण आते थे और स्वामी जी उनके साथ विचारों का आदान प्रदान करते एवं नाना प्रकार के भावों का विकास करते थे। पेरिस में धर्मेतिहास सभा में स्वामी जी को यथोचित सम्मान के साथ लिया गया। वहॉ इन्होंने शिवलिंग व शालिग्राम शिला के सम्बंध में पाश्चात्यों द्वारा प्रस्तुत विचार विहीन मत का खंडम वेदों से प्रमाण देकर किया। स्वामी जी ने कहा कि शिवलिंग की पूजा की उत्पत्ति अथर्ववेद संहिता के यूप स्तम्भ के

प्रसिद्ध स्तोत्र से है। दूसरे भाषण मे हिन्दू व बौद्ध धर्म के प्राचीन ऐतिहासिक तत्वों की चर्चा की। भारतीय सभ्यता, साहित्य, दर्शन ज्योतिष आदि पर ग्रीक प्रभाव के विषय में जो मत प्रचलित था उसका उन्होंने प्रतिवाद किया। इस प्रकार पेरिस धर्मेतिहास सभा में प्राच्य-धर्मो के उद्भव व विकास पर तथ्यपूर्ण विचार प्रस्तुत कर श्रोताओं को अपनी अप्रतिहत प्रतिभा से मुग्ध कर दिया। लगभग तीन मास पेरिस में रहकर स्वामी जी 24 अक्तूबर 1900 को विएना की ओर रवाना हुए। यहॉ से हंगरी, सर्विया, रूमानिया, बल्गेरिया एव कन्स्टेन्टिनोयल पहुँचे। यहॉ स्वामी जी ने कुछ व्यक्तियों के विशेष आग्रह पर वेदान्त चर्चा से सम्बंधित प्रश्नोत्तर सभा मे भाग लिया। एथेन्स नगरी का दर्शन कर स्वामी जी मिश्र पहुँच कर कैरो शहर मे स्थित म्यूजियम देखने गये। पाश्चात्य नगरों के ऐश्वर्य , सौन्दर्य, विलास आदि को देखकर स्वामी जी मन ही मन विरक्त हो उठे। उन्हें पार्थिव सम्पद से गर्वित पाश्चात्य राष्ट्रों का उद्धत अहकार सदैव पीडित करता रहता था। निर्लिप्त सन्यासी का मन शीघ्र ही भारत आने के लिए आतुर होने लगा। इसी समय स्वामी जी को भारत से दु खद समाचार मिला कि मायावती मठ के संस्थापक श्री सेवियर परलोक गामी हो गये हैं अत अब स्वामी जी ने भारत लौटने का निश्चय कर प्रस्थान किया।

द्वितीय पाश्चात्य यात्रा के बाद स्वामी जी की जगत के बारे मे धारणा प्रथम यात्रा के अनुभवों से भिन्न थी। प्रथम यात्रा के दौरान उन्होंने पाश्चात्य देशों में शक्ति, संगठन, समृद्धि, जनतंत्र, स्वाधीनता एवं न्याय का भाव देखा था और वह इन सबके प्रति उत्साही भी थे। परन्तु द्वितीय पाश्चात्य यात्रा के बाद उनका पाश्चात्यों के प्रति मोह पूर्णतः भंग हो गया था। उन्हें अमेरिका के विराट संगठन तथा प्रभुत्व के लिए भीषण संघर्ष के पीछे कुबेर की शक्ति दिखाई पड़ी। उन्होंने देखा कि अमेरिका का वाणिज्यीय उत्साह अधिकांशत. लोभ, स्वार्थ और विशेषाधिकार एवं शक्ति के लिए सघर्ष पर आधारित है। धनी व्यापारियों का अपने बड़े संगठन के माध्यम से छोटे व्यापारियों को निष्ठुरता पूर्वक निगला जाना देखकर स्वामी जी अत्यंत विक्षुब्ध हुए थे। इसे वे अत्याचार मानते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने अमेरिका समाज में व्याप्त अन्य सामाजिक

बुराइयाँ जाति धर्म एव रग का घमण्ड आदि बताई। इन सब बुराइयो से स्वामी जी ने अनुमान लगाया कि प्राच्य एव पाश्चात्य के बीच सामंजस्य करने में अमेरिका सहायक न होगा।

अंतिम पर्व

स्वामी जी 9 दिसम्बर 1900 ई0 की रात को अप्रत्याशित रूप से बेलुड़मठ पहुँचे। मठ का मुख्य द्वार बंद होने के कारण स्वामी जी उत्सुकतावश द्वार खुले बिना ही दीवार फांदकर रसोई घर में पहुँच गये और अपने गुरु भाई से स्वाभाविक उपहास करते हुए जल्दी भोजन परोसने को कहने लगे। अचानक अपने स्वामी को देख मठ के अतेवासियों मे आनन्द की सीमा न रही।

कुछ दिन मठ मे अपने गुरु भाइयों के साथ रहने के बाद उन्होंने मायावती मठ जाने की इच्छा रखी। 26 दिसम्बर को वे मायावती मठ के लिए चल दिए। श्री मान् सेवियर के निधन के उपरात वहाँ के आश्रम के कार्य का निरीक्षण किया तथा स्वामी स्वरूपानन्द को आश्रम प्रचार कार्य व 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के संचालन सम्बंधी अनेक सुझाव व उपदेश दिए। अपने गुरुदेव के अभिप्राय को समझकर स्वामी स्वरूपानन्द परहित के लिए कार्य को ही सर्वश्रेष्ठ साधना मानकर कार्यप्रवाह में प्रवृत्त हो गये। इस समय स्वामी विवेकानन्द का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था अतः स्वयं को घूमकर प्रचार करने में असमर्थ जानकर वह अपने प्रत्येक शिष्य को बड़े उत्साह से 'सेवा व्रत' तथा 'कर्म योग' के प्रचार का उपदेश देने लगे।

प्रबल तुषारपात के कारण स्वामी जी मायावती की ओर शीत सहन न कर सके और उन्हें अधिकांश समय कमरे में ही रहना पड़ता था अत· वह 24 जनवरी 1901 को वह वेलुड़ मठ वापिस आ गये।

बेलुड़ मठ के संन्यासी सम्प्रदाय का त्याग, विवेक, वैराग्य आदि देखकर स्वामी जी विशेष संतुष्ट हुए। कभी कभी समयानुसार आलोचना सभा में उपस्थित होकर शिक्षादान

के साथ साथ अपनी भविष्य कार्य प्रणाली के सम्बध मे अपना मत व्यक्त करते थे। इन्हीं दिनों स्वामी जी के पास ढाका से लगातार निमंत्रण पत्र आ रहे थे। साथ ही अपनी माता की पूर्वी बगाल तथा आसाम के तीर्थ स्थलों के दर्शन की तीव्र अभिलाषा को पूर्ण करने हेतु स्वामी जी अपने कुछ सन्यासी शिष्यों के साथ 18 मार्च 1901 को ढाका के लिए चल दिए।

यहाॅ पर प्रतिदिन अनेक व्यक्ति उनके उपदेश व आर्शीवाद हेतु आते थे। तीसरे पहर वह लगभग दो तीन घंटे तक त्याग, वैराग्य , कर्मयोग , भक्ति और ज्ञान विषयों पर चर्चा करते थे। शिक्षित सम्प्रदाय के विशेष आग्रह पर स्वामी जी ने दो भाषण दिए। एक जगन्नाथ कॉलेज मे 'मैंने क्या सीखा' विषय पर तथा दूसरा पोगज स्कूल में' 'मेरा जन्म प्राप्त धर्म' के सम्बध में भाषण दिए। इन भाषणों में स्वामी जी ने ब्रह्म सस्कारकों द्वारा अवलम्बित कार्यप्रणाली का तीव्र प्रतिवाद किया। ये संस्कारक वैदेशिक भाव को चलाने के विशेष पक्षपाती थे। ये मूर्ति पूजा को नितांत दोषजनक मान कर घोर निन्दा करते थे। और अपने को हिन्दू धर्म से अलग करके नवीन धर्म मत के प्रवक्ता मानते थे।

ढाका से स्वामी जी ने साधु नाग महाशय की जन्म भूमि देवभोग का दर्शन किया। देवभोग में उपस्थित होकर स्वामी जी को उस तपस्वी, जनक तुल्य साधु की अनेक पवित्र स्मृतियों का स्मरण हुआ। यहाॅ के पवित्र वातावरण से स्वामी विवेकानन्द का हृदय श्रद्धा व सभ्रम से आप्लावित हो उठा।

ढाका से स्वामी जी ने कामाख्या पीठ व चन्द्रनाथ के दर्शन किए। आसाम प्रवास काल में स्वास्थ्य सुधार की द्रष्टि से उन्होंने कुछ दिन शिलांग में व्यतीत किए। वहाॅ पर उनकी भेंट आसाम के चीफ कमिश्नर भारत हितैषी सर हेनरी काटन महोदय से हुई। कॉटन महोदय के अनुरोध पर स्वामी जी ने एक भाषण दिया। भाषण सुनकर सभी यूरोपियन एक स्वर से कहने लगे 'भारतीय शिक्षा व सभ्यता की इस प्रकार की सुंदर व युक्तिपूर्ण व्याख्या हमने और कहीं भी नहीं सुनी।'

मई के दूसरे सप्ताह मे स्वामी जी बेलुड मठ वापिस आ गये। मठ मे आने पर उन्होने अपनी ढाका यात्रा के अनुभवों का वर्णन करते हुए बताया कि आसाम के एक विशेष भाग की दृश्यावली अतुल्य है। पूर्वी बगाल के लोगों को पश्चिमी बगाल के लोगों की तुलना मे अधिक मजबूत, मेहनती व दृढ निश्चयी बताया, परन्तु धर्म के बारे मे उन्हें लकीर के फकीर बताया। पूर्वी बंगाल के लोग नकली अवतारों में विश्वास रखते है। अत उन्होंने वहाँ के लोगों को 'पुरुषत्व एव विचार शक्ति का विकास करने का उपदेश दिया।

ढाका के एक भावुक विद्यार्थी से उन्होंने कहा था -'बेटा , यदि मेरी सलाह मानों तो अच्छा भोजन और व्यायाम करके पेशियाँ और मस्तिष्क विकसित करो। उसके बाद ही तुम अपने लिए सोच समझ सकोगे। पुष्टिकर खाद्य के अभाव में तुम्हारा मस्तिष्क थोड़ा सूख सा गया है।'[19]

दुर्बल युवकों का आह्वान करते हुए उन्होने कहा था - 'गीता के अध्ययन की अपेक्षा फुटबाल के द्वारा तुम ईश्वर के अधिक समीप होगे।'[20]

दिन प्रतिदिन स्वामी जी का स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा था। उनके गुरुभाइयों व शिष्यों को चिंता होने लगी। गुरुभाइयों ने स्वामीजी की चिकित्सा हेतु वैद्य को दिखाया। इनकी चिकित्सा से स्वास्थ्य मे कुछ सुधार तो हुआ पर स्वामी जी अपनी इस जड़-देह की सुरक्षा हेतु चिकित्सकों के आज्ञानुवर्ती होकर कठोर नियमों का पालन न कर सके। उन्हे अधिक से अधिक विश्राम की राय दी गयी। परन्तु वे शिष्यों को उपदेश व अध्ययन कार्य छोड़ नहीं सके। विश्वविद्यालय के छात्रों के आगमन पर वे बड़े उत्साह व ओजपूर्ण भाषा में देश के कल्याण की कामना से सेवा करने के लिए युवकों को प्रोत्साहित करते

थे। देश की दुर्दशा व उसके प्रतिकार के उपाय के सम्बध मे घंटों शिक्षित युवकों के साथ चर्चा करते थे।

1901 के अन्तिम भाग मे जापान से बौद्ध धर्म के दो विद्वान, जापान मे प्रस्तावित धर्म महासभा मे भाग लेने के लिए स्वामी जी को बुलाने आये थे। परन्तु स्वास्थ्य ठीक न होने पर स्वामी जी ने अपनी असमर्थता प्रगट की। इन विद्वानों के बोधगया चलने के अनुरोध को स्वामी जी ठुकरा न सके। और अपने अतिम जन्म दिन की प्रात काल मे वे बोध गया पहुँचे। यह उनका प्रथम तीर्थ स्थल था जहॉ से वे एक अज्ञात सन्यासी के रूप मे भ्रमणार्थ निकले थे और उन्होंने कहा था- 'जब तक मै समाज पर वज्र की भॉति न बरस पड़ूँगा, यहॉ लौटकर नहीं आऊँगा।' अपने सकल्प को पूरा कर स्वामी जी पुन बोध गया पहुँचे थे। यह उनके जीवन की अतिम यात्रा थी। यहॉ से वाराणसी पहुँचने पर एक महाराजा ने उन्हे मठ की स्थापना हेतु कुछ धन दिया। जिसे स्वामी जी ने सहर्ष स्वीकार कर 'रामकृष्ण सेवाश्रम' नामक सस्था प्रारम्भ की। परवर्ती काल मे यह सस्था, रामकृष्ण मिशन द्वारा सचालित सस्थाओ मे प्रमुख हो गयी। इस सस्था के माध्यम से शिष्य व युवक असहाय लोगो के लिए आहार, आश्रय व अरोग्य की व्यवस्था करते थे। आज समस्त भारत मे इस प्रकार के सेवाश्रमों द्वारा असहाय व्यक्तियों की सहायता की जा रही है।

वाराणसी से बुलुड़ मठ पहुँचने पर बंगाल की अस्वास्थ्यकर जलवायु के कारण उनकी बीमारी, बढ़ने लगी। अब उनका मधुमेह जलन्धर में परिणत हो गया था। अत उन्हे नमक और पानी का सेवन एक दम बंद करना पड़ा। यद्यपि रोग से उनका शरीर क्षीण हो रहा था पर वे सदा के समान ही उत्साह से परिपूर्ण थे। इस समय वे सद्य प्रकाशित अंग्रेजी विश्वकोश पढ़ रहे थे। और इसके दस खण्ड समाप्त कर ग्यारहवॉ पढ़ना प्रारम्भ किया था स्वामी जी के मन में सदा भारत के पुनरुत्थान का विचार कौंदता रहता था। वह भारत में एक वेद महाविद्यालय और महिलाओं के लिए एक मठ स्थापित करना चाहते थे जिसका निर्देशन श्री मॉ सारदादेवी करें। उनके इस विचार को साकार रूप प्रदान किया भगिनी निवेदिता ने कलकत्ते में महिला विद्यालय की स्थापना करके।

जैसे अस्ताचलगामी सूर्य तेजी से सुनहरी आभा विखेरता हुआ ढलता है उसी प्रकार जीवन के अंतिम दिनों मे स्वामी जी भी अपने देशी व विदेशी शिष्यों मे अपने विचार प्रसारित करने लगे। अब वह अधिकाधिक जिम्मेदारियों को दूसरों को सौंपने लगे। दिन प्रतिदिन के कार्यो मे अपना मत देने से इन्कार कर दिया।

स्वामी जी अधिकांश समय ध्यान में केन्द्रित करने लगे। इससे उनके गुरुभाई व शिष्य चिन्तित हुए । उन्हें श्री रामकृष्ण के वे शब्द स्मरण हो आये कि कार्य समाप्त होने पर नरेन सदा के लिए समाधि मे डूब जायेगा और जब उसे अपने वास्तविक स्वरूप का बोध हो जायेगा, तब वह इस पंच भौतिक शरीर में रहने से इंकार कर देगा।

देह त्याग से एक सप्ताह पूर्व उन्होंने अपने एक शिष्य को पंचांग लाने को कहा। उन्होंने बड़े ध्यानपूर्वक उस पंचाग का अवलोकन किया। ऐसा लगता था मानो वह किसी चीज के बारे में ठीक निर्णय न ले पा रहे हों। महा समाधि से तीन दिन पूर्व उन्होंने अपने गुरु भाई स्वामी प्रेमानन्द को मठभूमि मे एकविशेष दिखाया था जहॉं पर उनके शरीर का दाह किए जाने की इच्छा प्रकट की थी।

जैसे जैसे मृत्यु आसन्न आती जा रही थी स्वामी जी के क्रिया कलाप पुन· उत्साह पूर्वक होने लगे। एकादशी को उन्होंने परम्परागत विधि से उपवास रक्खा। अपनी अन्यतम शिष्या भगिनी निवेदिता को अपने हाथ से भोजन परोसा व हाथ धुलाये। शिष्या द्वारा विरोध करने पर उनका उत्तर था- 'ईसा ने भी तो अपने शिष्यों के पॉंव धोये थे।'

इन दिनों उनके स्वभाव मे शोक या गम्भीरता का लेश तक न था। थकान से दूर रखने हेतु उनसे उनके पालतू पशु पक्षियों, बागवानी के प्रयोग, पुस्तकों तथा अनुपस्थित मित्रों एवं शिष्यों के बारे में हल्की फुल्की बात चीत ही की जाती थी। शिष्यों को उकने सानिध्य में सर्वदा एक ज्योतिर्मय उपस्थिति का आभास मिलता था।

अतिम दिन वह तड़के उठकर मदिर मे जाकर खिड़की दरवाजे बद कर घंटों ध्यान करते रहे। तदुपरात काली का सुन्दर भजन गाया जिससे काली माँ के स्वरूप के चितन का भाव प्रकट होता था। अपने शिष्यो ` वेद मंत्र तथा उसका भाष्य सुना । शिष्यों को वेद मत्रों की मौलिक व्याख्या करनके के लिए उत्साहित किया। मध्याह्न का भोजन मठ के अन्य सदस्यों के साथ आनन्द पूर्वक किया। मधुर हास्य विनोद किया। तदुपरांत ब्रह्मचारियों को तीन घंटे तक संस्कृत व्याकरण पढ़ाई। शाम को स्वामी प्रेमानन्द जी के साथ लगभग दो मील टहने भी गये। मार्ग में वैदिक कॉलेज की स्थापना की योजना पर भी चर्चा की। लौटने पर सभी अन्तेवासियों से स्नेहपूर्वक हाल चाल पूछा। अपने सहयोगियों के साथ राष्ट्रों के उत्थान पतन पर विस्तारपूर्वक चर्चा की। सन्ध्या आरती के समय जप ध्यान किया एक घंटे बाद दिन भर के क्रिया कलापों से चिर शांति की ओर अग्रसर होते हुए शय्या पर लेट गये। कौन जानता था कि उनकी यह शय्या मृत्यु शय्या बन जायेगी?

4 जुलाई ।902ई0शुक्रवार को रात्रि लगभग नौ बजे स्वामी जी का हाथ कॉप उठा और वे निद्रित शिशु की तरह अस्पष्ट स्वर से क्रंदन करने लगे। दो गम्भीर दीर्घ नि श्वास के साथ ही उनकी इहलीला का पटाक्षेप हो गया।

स्वामी विवेकानन्द के कार्य

रामकृष्ण मठ की स्थापना

16 अगस्त 1886 ई0 को श्री रामकृष्ण के तिरोधान के पश्चात् संन्यासी सघ के सम्यक् गठन का गुरु दायित्व नरेन्द्र नाथ के कधों पर आ पड़ा। श्री रामकृष्ण के ब्रह्मलीन होने के कुछ ही समय बाद वराहनगर मे एक टूटाफूटा मकान किराये पर लिया गया ओर वहीं उसी वर्ष बिना किसी आडम्बर के रामकृष्ण संघ का पहला मठ स्थापित हुआ। नरेन्द्र नाथ के असीम धैर्य, उत्साह, विराट व्यक्तित्व और प्रबल आकर्षक शक्ति द्वारा श्री रामकृष्ण के लगभग सभी वैराग्यवान कुमार शिष्यों को इस नवप्रतिष्ठित मठ में सघजीवन बिताने के लिए एकत्र किया । मठ में रहते हुए किसी एक समय त्यागी युवकों ने आचार्य शकर द्वारा प्रवर्तित संन्यासी सम्प्रदाय की परम्परानुसार विधि पूर्वक नाम तथा गैरिक वस्त्र धारण किए तथा तीव्र वैराग्य, कठोर तपस्या, पूजा, जप , ध्यान एवं स्वाध्याय आदि की सहायता से वे अपना अपना आध्यात्मिक जीवन गढने मे सलग्न हो गये।

स्वामी जी ने भारत के आदर्श के सम्बध में कहा- 'त्याग ही भारत की सनातन पताका है। . प्राचीन काल मे इस त्याग ने पूरे भारत पर विजय पायी थी, और आज भी यह त्याग ही पुन भारत पर विजय प्राप्त करेगा। आज भी यह त्याग समस्त भारतीय आदर्शो में श्रेष्ठ और गरिष्ठ है।'[21]

उन्होंने मठ के संन्यासियों एव जन साधारण को त्याग और सेवा धर्म अपनाने का आह्वान किया। क्योंकि त्याग और सेवा धर्म ही भारतीय धर्म और संस्कृति का प्राण है। जाति-धर्म का विचार न करते हुए अपने अपने कर्मक्षेत्र में लगे रहकर सब कोई इस महान सेवाव्रत का पालन कर धन्य और कृतार्थ हो सकते हैं। स्वामी जी ने अपने जीवन में इस सेवादर्श को जीवन्त बनाकर, युग की आवश्यकता को देखते हुए अरण्य के वेदान्त को घर में प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने इसी आदर्श के अनुरूप रामकृष्ण संघ की तत्परिकल्पित मुहर (Monogram) बनाई है। जो अग्रांकित है:-

सघ की ऊपर चित्रित मुहर के आदर्श की स्वामी जी ने इस प्रकार व्याख्या की है -

'चित्र मे तरगायित जल राशि कर्म का प्रतीक है, कमल भक्ति का तथा उगता हुआ सूर्य ज्ञान का । चित्र मे दर्शायी हुई सर्प की आकृति योग एव जागृत कुण्डलिनी शक्ति की परिचायक है, और चित्र के बीच मे जो हस की छवि है, उसका अर्थ है परमात्मा। अतएव कर्म, भक्ति और ज्ञान इन तीनो का योग के साथ सम्मिलन होने पर ही परमात्मा की प्राप्ति होती है- यही चित्र का अर्थ है।'

'रामकृष्ण मठ' व 'रामकृष्ण मिशन' को रामकृष्ण मिशन सघ के नाम से मई 1909 में भारतीय गर्वनर जनरल के सन् 1861 के अधिनियम क्रमांक 21 के अन्तर्गत पजीकृत कर दिया गया। जिसके निम्नलिखित उद्देश्य हैं -

(अ) श्री रामकृष्ण द्वारा प्रतिपादित तथा उनके जीवन मे प्रत्यक्षीकृत वेदान्त और उसके सिद्धान्तों के अध्ययन का प्रचार एवं प्रसार करना, साथ ही तुलनात्मक धर्मशास्त्र का सबसे व्यापक रूप से प्रस्तुत करना।

(आ) कला, विज्ञान और उद्योग व्यवसाय के अध्ययन का प्रचार एवं प्रसार करना।

(इ) उपरिनिर्दिष्ट ज्ञान की समस्त शाखाओं के अध्यापकों को प्रशिक्षित करना और उन्हें जनसमूह तक पहुँचने के योग्य बनाना।

(ई) जन समूह में शिक्षा कार्य का परिचालन करना।

(उ) विद्यालयों, महाविद्यालयों, अनाथालयों, कर्मशालाओं, प्रयोगशालाओं, निःशुल्क

अस्पतालों व औषधालयों , अशक्तों अपगों और पीड़ितों के आश्रय गृहों, अकाल निवारण कार्यो तथा उसी प्रकार के अन्य शैक्षिणिक एंव धमार्थ कार्यो और संस्थाओं की प्रतिष्ठा करना, उनका निर्वाह और परिचालन करना तथा उनको सहायता करना।

(ऊ) संघ के उद्देश्यो की पूर्ति मे सहायक होने वाले वृत्तपत्तो और नियतकालिक पत्र पत्रिकाओं तथा पुस्तकों और पत्रकों का मुद्रण और प्रकाशन करना, एवं उनका नि शुल्क अथवा अन्य प्रकार से वितरण या विक्रय करना।

(ए) संघ द्वारा सम्पादित हो सकने वाले ऐसे किसी भी कार्य का परिचालन करना, जो उपर्युक्त किसी भी उद्देश्य से सम्बंधित है तथा अपरोक्ष या परोक्ष रूप से उसकी पूर्ति में सहायक हो सकता है।

रामकृष्ण मठ और मिशन द्वारा भारत तथा भारतेतर देशों मे अनुष्ठित प्रमुख कार्यो का विवरण निम्नवत् है -

1- <u>शैक्षणिक और सांस्कृतिक कार्य</u>

संस्था का रूप:

अ- कालेज

आ- हायर सेकेण्डरी एवं सेकेण्डरी स्कूल

इ- लोअर ग्रेड स्कूल

ई- इंजीनियरिंग स्कूल (लाइसंशियेट स्कूल)

उ- शिक्षकों के लिए ट्रेनिग कालेज

ऊ- ग्रामीण महाविद्यालय

ए- कृषि महाविद्यालय

ऐ- शारीरिक प्रशिक्षण केन्द्र

ओ- नर्स एवं दाई (मिडवाइफ) के लिए प्रशिक्षण संस्थान

औ- छात्रावास

प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार के लिए मिशन द्वारा देश भर मे स्थान स्थान पर कई प्रकार के समाज शिक्षा केन्द्र तथा रात्रिशालाए भी सचालित की जा रही है।

2- **प्रकाशन और प्रचार:**

रामकृष्ण मठ व मिशन के केन्द्र श्री रामकृष्ण के उपदेशों के आलोक मे एक सार्वजनिक भित्ति पर आधारित, आध्यात्मिक एव सास्कृतिक विचारों और आदर्शो के प्रचार पर विशेष बल देते हैं। ये केन्द्र सार्वजनिक उत्सवो, सभाओं, प्रवचनों, और प्रकाशनों आदि के द्वारा विभिन्न जाति एव सम्प्रदाय वाले मनुष्यों के बीच वास्तविक सम्बध सूत्र स्थापित करते है।

अ- प्रमुख प्रकाशन केन्द्र - 10

आ- नियत कालीन पत्र-पत्रिकाए- 9 (मासिक पत्र पत्रिकाए विभिन्न भाषाओं मे)

इ- पुस्तकलाय (क्षेत्र वाचनालय एवं चल वाचनालय सहित) - 100 से अधिक - लगभग 8 लाख ग्रथ

3- **साधारण सेवा कार्य**

अ- रुग्णालय ... .

आ- औषधालय ....

4- **सामाजिक आपत सेवा कार्य**

अ- पूर्वी बंगाल के निर्वासितों की सेवा

आ- बाढ़ पीडितों की सेवा

इ- तूफान पीड़ितों की सेवा

ई- बंगाल में देश पुनर्वसन का कार्य

रामकृष्ण मिशन की स्थापना

पाश्चात्य भूमि मे वेदान्त धर्म का बीज बोकर 15 जनवरी 1897 ई0 को स्वामी विवेकानन्द स्वदेश लौटे और शीघ्र ही नये मठ मे गुरुभाइयों के साथ आकर फिर से मिल गये। इसी वर्ष यानी 1 मई 1897 ई0 मे स्वामी विवेकानन्द ने श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी एव गृही शिष्यों को एकत्र किया और उनकी सम्मिलित सहायता से 'रामकृष्ण मिशन' के नाम से एक प्रचार समिति की स्थापना की। इस समिति के प्रधान उद्देश्य ये थे -

1- सभी धर्मो को एक ही सनातन धर्म के विकास समझकर विभिन्न धर्मावलम्बियो के बीच एकता और भ्रातृत्व स्थापित करना।

2- उन्नत चरित्र कर्मी तैयार करना, जो विज्ञान एवं अन्यान्य विषयों मे पारंगत जनसाधारण की भौति तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए आत्मोत्सर्ग करेंगे।

3- भारत के शिल्प, साहित्य एव ललित कला आदि की उन्नति और विस्तार करना।

4- श्री रामकृष्ण देव की सार्वजनिक शिक्षा के आलोक मे जनसाधारण में वेदान्त एवं अन्यान्य धर्मो के प्रकृत आदर्श का प्रचार करना।

5- जाति धर्म का विचार न करते हुए नर-नारायण बुद्धि से आर्तो की सेवा में अपने को लगा देना।

वैसे तो स्वामी विवेकानन्द ने स्वय पुस्तके नहीं लिखी है। परन्तु भारत तथा विदेशों में उन्होंने जो प्रवचन, भाषण, कक्षालाप, वार्तालाप व सलाप किए है उन्हीं को उनके परम भक्त श्री जे0जे0 गुडविन द्वारा आशुलिपि बद्ध करके पुस्तकों के रूप से प्रकाशित किया गया है। विवेकानन्द साहित्य के दस खण्डों मे इनके समस्त व्याख्यानो व कक्षालापों तथा इनके द्वारा रचित कविताओं का सग्रह अनुदित है। इसमे उनके द्वारा अपने मित्रों व भक्तों को लिखे गये पत्रों का विवरण भी दिया गया है। जो पत्र स्वय ज्ञान के भण्डार है तथा उनकी भावनाओं व उद्गारों का सग्रह है।

इस प्रकार उनके विचारों एव कथनानुसार निम्नलिखित पुस्तके प्रकाशित की जा चुकी है-

(1) विवेकानन्द संचयन - इसमें उनके चुने हुए व्याख्यान, सभाषण, पत्र , कविताओं आदि का प्रतिनिधिक संचयन है।

(2) राजयोग- पातंजल योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्या सहित

(3) ज्ञान योग

(4) भक्ति योग

(5) प्रेम योग

(6) कर्म योग

(7) सरल राजयोग

(8) पत्रावली (2 भाग)

(9) देववाणी

(10) स्वामी विवेकानन्द जी से वार्तालाप

(11) धर्म विज्ञान

(12) धर्म तत्व

(13) वेदान्त

(14) कवितावली

(15) हिन्दू धर्म

(16) आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग

(17) विवेकानन्द जी की कथाए

(18) भगवान श्री कृष्ण और भगवद्गीता

(19) भगवान बुद्ध का ससार को संदेश एव अन्य व्याख्यान और प्रवचन

(20) महापुरुषो की जीवन गाथाए

(21) परिव्राजक (मेरी भ्रमण कहानी)

(22) भगवान रामकृष्ण, धर्म तथा संघ

(23) स्वाधीन भारत। जय हो।

(24) भारतीय नारी

(25) सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार

(26) आत्मतत्व

(27) भारत का ऐतिहासिक क्रम विकास एव अन्य व्याख्यान और प्रवचन

(28) चिन्तनीय बातें

(29) प्राच्य और पाश्चात्य

(30) जाति , संस्कृति और समाजवाद

(31) धर्म रहस्य

(32) व्यावहारिक जीवन में वेदान्त

(33) विविध प्रसंग

(34) मेरे गुरुदेव

(35) विवेकानन्द जी के सानिध्य में

(36) नारद भक्ति सूत्र एवं भक्ति विषयक प्रवचन और आख्यान

(37) शिक्षा

(38) हिन्दू धर्म के पक्ष में

(39) हमारा भारत

(40) शिकागो वक्तृता

(41) पवहरी बाबा

(42) वर्तमान भारत

(43) मरणोत्तर जीवन

(44) मन की शक्तितयाँ तथा जीवन गठन की साधनाए

(45) ईशदूत ईसा

(46) सूक्तियाॅ एवं सुभाषित

(47) मेरा जीवन तथा ध्येय

(48) श्री रामकृष्ण उपदेश

(49) विवेकानन्द जी के उद्‌गार

(50) शक्तिदायी विचार

(51) मेरी समर नीति

(52) साधु नाग महाशय का जीवन चरित

*****

सन्दर्भ

1- विवेकानन्द चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, रामकृष्ण मठ, नागपुर, एकादश संस्करण, 1989 पृ0 10

2- वही पृ0 15

3-

4- प्रबुद्ध भारत, ब्रजेन्द्र नाथ शील, 1907, पृ0 12

5- विवेकानन्द चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, रामकृष्ण मठ, नागपुर, एकादश संस्करण, 1989, पृष्ठ 78

6- वही, पृ0 83

7- वही, पृ0 99

8- श्री राम कृष्ण लीला प्रसग, सारदानंद

9- विवेकानन्द चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1989, पृ0 90

10- रामकृष्ण रोमां रोला, पृ0 214

11- योद्धा संन्यासी, हसराज रहवर, पृ0 45

12- विवेकानन्द चरित, सत्येन्द्र नाथ मजूमदार, रामकृष्ण मठ, नागपुर, एकादश सस्करण, 1989, पृ0 231

13- वही, पृ0 269

14- विवेकानन्द साहित्य, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता 1989, पृष्ठ 36-37

15- विवेकानन्द साहित्य संचयन, राम कृष्ण मठ, नागपुर, पंचम संस्करण 1993, पृष्ठ 132-33

16- वही, पृ0 144

17- विवेकानन्द साहित्य, अद्वैत आश्रम, 5 डिही एण्टाली रोड, कलकत्ता, खण्ड 8, पृष्ठ 333 संस्करण 1989

18- विवेकानन्द चरित, श्री सत्येन्द्र नाथ मजूमदार, पृष्ठ 462

19- विवेकानन्द, एक जीवनी, स्वामी निखिलानन्द, पृष्ठ 348

20- वही।

डा0 एनीबेसेण्ट

जीवन वृत्त एवं कार्य

डा0 एनी बेसेण्ट ने एक अक्टूबर सन् 1847 को इग्लैण्ड के लदन नगर मे साय पॉच बजकर उन्तालीस मिनट पर शरीर ग्रहण किया। उनकी माता श्रीमती एमिली शुद्ध आर्यारश वश की तथा पिता डा0 विलियम वुड डेवनशायर के निवासी थे। पिता अपनी माता की ओर से तो आयशिर थे, लेकिन पिता की ओर से इग्लैण्डवासी थे। श्री वुड के एक पूर्वज लदन के मेयर और उनके परिवार के एक व्यक्ति लार्ड हेदर्ले इग्लैण्ड के लार्ड चासलर रह चुके थे। कुलीन वंश परम्परा के प्रभाव से एनी के स्वभाव मे दो विशेषताएं आ गयी थीं- एक शात चित्त और दूसरा सम्मान तथा प्रतिष्ठा का गौरव। अपने इस स्वभाव के कारण उन्हे जीवन में अनेक सघर्षो का सामना करना पडा। उन्हीं के शब्दों मे-

'एक ऐसे तूफानी सार्वजनिक जीवन की अजीब तैयारी थी जिसे बुरी तरह बदनाम और कलंकित किया गया, जिस पर तरह-तरह के आक्षेप और आक्रमण किए गये। इसी आत्म सम्मान तथा आत्म गौरव के भाव ने आगे चलकर अपमान और आक्षेप के लिए ढाल का काम किया- मेरी सार्वजनिक प्रसिद्धि कितनी ही गिर जाए, लेकिन मै यह कभी नहीं सहन कर सकती कि मैं स्वयं अपनी ही नजर में गिर जाऊँ।'[1]

कु0 एनी पर अपनी माता तथा उनके देश का प्रभाव अधिक पड़ा था। इसी कारण श्रीमती एनी आयरिश भाषा व आयरिश रहन सहन अधिक पसंद करती थीं- उन्होंने स्वयं कहा है-

'मेरे कानों को आयरी बोली सुरीली लगती है और उनका स्वभाव मेरे दिल को भाता है।'[2]

स्नेही दिल वालों को वे हृदय से चाहती थीं। एक स्थल पर उन्होंने कहा...

'भगवान उनका भला करे, जिनकी जुबान तेज और दिल स्नेही होते है, जिनका नेतृत्व बड़ी आसानी से किया जा सकता है, लेकिन उन्हें हाकना बड़ा कठिन होता है।[3]

एनी जब पॉच वर्ष की थी, तभी उनके पिता की क्षयरोग से मृत्यु हो गयी थी। इनके पिता बड़े प्रखर बुद्धिमान, विचारक और विद्वान थे। गणितज्ञ तथा प्राचीन शास्त्रीय साहित्य के विद्वान होने के साथ साथ वे फ्रासीसी, इटालवी, जर्मन, स्पेनी और पुर्तगाली भाषाओ मे निपुण थे और थोड़ा बहुत यहूदियों की हेब्रू तथा स्काटलैण्ड के प्राचीन केल्ट लोगो की भाषा भी जानते थे। दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी होने पर भी ये पक्के संशय वादी थे। वे अपने समय की रूढिवादी तथा दकियानूसी विश्वासों से मुक्त थे। एनी की माता बड़ी धार्मिक महिला थी फिर भी बाइबिल की अटलता, किसी एक के बदले किसी दूसरे द्वारा प्रायश्चित किए जाने और नित्य दंड के सिद्वान्तों को वह गल्त समझती थीं।

बाल्यावस्था में एनी का स्वभाव अत्यत कल्पनाशील था अधिकतर वह स्वप्नलोक मे ही रहती थीं। परियों और भूत-प्रेतों की कथाएं उनके लिए पूर्णत· वास्तविक थीं। बाल्य काल में ही एनी को पितृ स्नेह से वंचित होना पड़ा। पिता के असामयिक निधन के कारण एनी की माता को आर्थिक कठिनाइयों के कारंण काफी संघर्ष करना पडा। एनी के एक भाई था जिसे उनकी माता हैरो के पब्लिक स्कूल में पढ़ाना चाहती थीं। एक ओर आर्थिक संकट और दूसरी ओर बच्चों को अच्छे स्कूल में पढ़ाने की तीव्र अभिलाषा। पढ़ाने की तीव्र अभिलाषा ने आर्थिक संकट दूर करने के लिए विचार किया। आर्थिक सकट दूर करने का उपाय सोच श्रीमती वुड ने अपने पुत्र को हैरो में शिक्षा दिलाई। उन्होंने एक बोर्डिंग हाउस चलाकर अपनी अभिलाषा पूर्ण की। एनी की देखभाल का दायित्व प्रसिद्ध उपन्यासकार कैप्टेन मेरियट 'की बहन कुमारी मैरियट ने वहन किया। कुमारी मैरियट पैदायशी शिक्षक थीं। और बच्चों को मन लगाकर तथा कम से कम कष्ट देकर शिक्षा प्रदान करती थीं। इनकी प्रणाली मैडम मान्टेसरी की शिक्षा प्रणाली से मिलती जुलती थी।

कुमारी मैरियट ने फर्नहिल नामक एक सुन्दर जगह ले रक्खी थी और वहीं पर रविवासरीय स्कूल तथा बाइबिल की कक्षाएं चलाती थीं। इन दिनों इग्लैंड मे भौतिकवादी विचार धारा फैली हुई थी। कुछ इने गिने लोग दार्शनिक भौतिकवादी विचारधारा मे प्रवाहित थे। साधारण लोग धार्मिक भौतिकवाद मे विश्वास करते थे। एनी की शिक्षा पर धार्मिक प्रभाव अधिक था। 'द पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' और मिल्टन की 'पैराडाइज लास्ट' उनकी प्रिय पुस्तके थीं।

जब एनी चौदह साल की थीं तो उनकी शिक्षिका उन्हे जर्मन भाषा सिखाकर जर्मनी ले गयीं। यहाँ पर एनी की चाची इन पर कड़ी निगरानी रखती थीं। क्योंकि इनका मानना था कि सभी युवक भेडिया होते हैं अत वह अपने बढ़ते हुए मेमनो से भेडियों को दूर रखती थीं। अर्थात् एनी को लड़कों से दूर रक्खा जाता था। जर्मनी मे कुछ दिन रहने के बाद कुमारी मैरियट एनी के साथ पेरिस गयीं। इस समय फ्रासीसी साम्राज्य वैभव व समृद्धि से परिपूर्ण था। एनी पर नोत्र देम, ला मेदलैन और सेण्ट राशि की दिव्य सुंदरता का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। प्रार्थना सभाओं में तरह तरह की रंग बिरंगी आकृतियाँ, वेषभूषा , सुगन्ध और ठाट-बाट और सेन्टों तथा मैरी की मूर्तियों से भरी लूबैर की चित्र दीर्घाओं ने एनी की धार्मिक प्रवृत्ति को उत्तेजित कर दिया। इनकी शिक्षिका इन्हे प्रेम की कथाएं तथा कविताएं पढ़ने नहीं देती थीं। अतः इनका अधिकतर समय उन दिनों के ध्यान में लीन रहते बीतता था जब बालिका हुतात्माओं को ईसामसीह के दर्शन का वरदान मिला था, जब सेन्ट ऐग्नीज ने अपने दिव्य वर के दर्शन किए थे और देवदूतों ने रूक कर सेन्ट से सिलिया के हर्षोन्मत्त कानों में सुरीले गीत गुनगुनाए थे।

कुछ वर्ष पेरिस व जर्मनी में रहने के बाद एनी इंग्लैण्ड अपनी माता के पास लौट आईं। माँ के पास आकर इन्होंने संगीत की शिक्षा ली। जब एनी अपनी शिक्षिका के साथ फ्रांस व जर्मनी में थीं तब इनकी माता कई मुसीबतों में फंसी रहीं। परन्तु श्रीमती वुड ने सब परेशानियाँ अपने तक ही रक्खीं। अपने जीवन के कटु अनुभवों को भी

छिपाए रक्खा। एनी ने इस समय ईसाई धर्म के आरम्भिक गुरुजनों की रचनाओं का अध्ययन किया। एनी इन दिनों की याद करके अत्यंत प्रभावशाली ढंग से निरुपण करती हैं- 'जिंदगी भर मैने चाहे जो भी भूलें, गल्तियाँ या थोडी से थोड़ी मूर्खता क्यों न की हो, परन्तु मेरी इच्छा और आकाक्षा हमेशा स्वार्थ के विरुद्ध त्याग के लिए रही है।' बाद मे एनी ने इसे अपने पूर्वजन्म से प्राप्त तथा इस जन्म की सबसे प्रधान प्रवृत्ति माना है।

तूफानी वैवाहिक जीवन

सन् 1866 मे एनी का परिचय कैम्ब्रिज के एक अध्यापक पादरी रेवेनेन्टु फ्रैंक बेसेन्ट से हुआ, जिनके साथ कुछ दिनों की कोर्टशिप के पश्चात उनका विवाह हो गया। फ्रैंक बेसेन्ट से मुलाकात के समय एनी के मन मे ईसाई धर्म के उपदेशों के बारे में बहुत सी शंकाएं उठने लगी थीं। इन शंकाओं को उन्होने अपनी डायरी मे लिख रक्खा था। इनके आन्तरिक जीवन में अभी भी अत्यंत तीव्र उत्साह और एक ऐसा दर्शन भरा था जो उनके मतानुसार एक उच्च्व आदर्श में परिवर्तित प्रेम की वास्तविक मानवीय भावना होती है। धर्म को इस रूप में मानकर उन्होंने उस पादरी महाशय को ईश्वर के एक सेवक और विशेष दूत के आदर्श रूप में स्वीकार किया। फ्रैंक बेसेन्ट से उनकी सगाई तो हो गयी परन्तु एनी उनसे प्रेम का ढोंग नहीं कर सकीं। इस समय एनी के मन में दाम्पत्य जीवन के लिए वही धारणा थी जो किसी चार वर्षीय बच्ची में होती है। फ्रैंक बेसेन्ट से विवाह न करने की इच्छा होते हुए भी माता के आग्रह पर विवाह करना पड़ा। विवाह के कुछ दिनों के बाद से ही एनी बेसेण्ट के दुखी विवाहित जीवन में संकट का आरम्भ हो गया। एनी बेसेण्ट के शब्दों में-

—मैं और मेरे पति, हम दोनों शुरू से ही बहुत गलत तरीके से जोड़ दिए गये थे, उनके तो पति की सत्ता और पत्नी के आज्ञाकारिता के बारे में बड़े ऊँचे-ऊँचे विचार थे, वह अत्यंत दृढ थे, उनका हर काम बड़े विधिपूर्वक होता था, वह बहुत जल्दी जरा सी बात पर गुस्सा हो जाते थे और फिर बड़ी मुश्किल से मानते थे, और

मै, स्वतत्रता की अभ्यस्त , घरबार के रोजमर्रा के मामलों के प्रति उदासीन थी, स्वभव तेज और भावुक तथा अत्यधिक गर्वीला था।'[4]

श्रीमती एनी बेसेण्ट ने स्वय अपने लिए कहा है कि अगर उनके साथ कुछ भिन्न व्यवहार किया गया होता तो शायद वह एक उचित परम्परानुकूल पत्नी बन गयी होंती। परिणाम स्वरूप वह एक ऐसी चहारदीवारी से घिरी रहने लगीं जिसके भीतर रहकर उन्हे घोर मानसिक संघर्ष करना पडा जिससे उनकी मानसिक रूप से हत्या ही हो गयी। अपने इस एकाकीपन को कुछ राहत देने के विचार से उन्होंने लघु कथाए और धार्मिक सिद्धों की जीवनियाँ लिखना शुरू कर दीं। उनकी कहानियाँ प्रकाशित हुई और उन्हे धन भी मिला और नाम भी। जिससे उन्हे बडी प्रसन्नता हुई उन्हें पहली बार गर्व का अनुभव हुआ कि वे लेखिका बन गयी और साथ ही धनोपार्जन भी कर सकती है इससे उनका आत्म-विश्वास भी दृढ़ हुआ।

उनके दाम्पत्य जीवन में आनन्द का अवसर तब आया जब वह सन् 1870 में एक पुत्र की माँ बनीं। एक वर्ष बाद कन्या के आगमन ने उनके नीरस जीवन मे सरसता ला दी। बच्चो के आने से श्रीमती बेसेण्ट में नई रुचि तथा उत्साह जाग्रत हुआ। वह बच्चों का लालन पालन स्वय ही करती थीं। सन् 1871 में इनके दोनों बच्चों को कुकरखांसी हो गयी । इन्होंने अपने बच्चों को मौत के मुँह से बचाया। ज्यों ही बच्चों की हालत खतरे से दूर हुई त्यों ही एनी बेसेण्ट का स्वास्थ्य खराब हो गया। जब इनके स्वास्थ्य में सुधार आया तो तीन वर्ष दो मास तक इन्हें जर्बदस्त संघर्ष का सामना करना पड़ा। यह वह संघर्ष था जिसने इन्हें ईसाई से नास्तिक बना दिया। जिसने इस प्रकार के मानसिक संघर्ष का अनुभव किया है वही समझ सकता है कि एक सच्चे ईमानदार धर्मनिष्ठ व्यक्ति के मन मे जब शंका की दरार पड़ जाती है तो उसे कितने और कैसे गहरे संताप की पीड़ा होती है। अपने इन दिनों की मार्मिक स्थिति का वर्णन एनी बेसेण्ट ने इस प्रकार किया है:-

' पीडा और कष्ट मे बीतने वाले इन्हीं महीनों मे जबकि मेरे निर्दोष छोटे से बच्चे को निरर्थक घोर यातना सहनी पडी, दुनियाभर के दयालु पिता माने जाने वाले ईश्वर के प्रति मेरे मन मे जो विश्वास था उसे सबसे पहली और गहरी ठेस लगी। स्वय मेरी अच्छी खासी जिंदगी मुसीबतों से लाद दी गयी और परवशता की असह्य भावना द्वारा मुझे अपमानित किया गया, और अब दैनिक यातना के कारण मेरा नि.सहाय और निष्पाप बच्च बीमार रहकर दुर्बल और पीड़ित हो गया था। इससे मेरा विश्वास हिल गया।.... मेरा धार्मिक अतीत ही मेरे दुखी और वेदनापूर्ण वर्तमान का सबसे कड़ा शत्रु हो गया। ईसा पर मेरे व्यक्तिगत विश्वास, विश्वभर की तमाम घटनाओं के पीछे निरन्तर ईश्वरीय निर्देशन सचालन पर मेरा अटूट विश्वास, हर समय और हर जगह ईश्वर की उपस्थिति अनुभव करने और बराबर उसकी प्रार्थना करते रहने की मेरी आदत- ये सभी अब मेरे विरुद्ध हो गये। और जब मेरे विश्वास ने ही मेरा साथ छोड़ दिया तो मुझे उतना ही गहरा धक्का लगा जितना गहरा मेरा विश्वास था।' [5]

इन्हीं दिनों एनी बेसेण्ट गरीब लोगों के पास भी प्राय जाती रहती थीं और इन्होंने देखा कि ये लोग अपनी यातनाओं को बड़े संयम से सहन करते हैं। इससे इन लोगों के प्रति एनी बेसेण्ट की सहानुभूति हो गयी। समाज के मक्कार लोगों की हरकतें देखकर इन्हे बहुत दु ख हुआ। इनकी देवी तुल्य माँ को एक वकील ने ठगा जिस पर वह विश्वास करती थीं। इनकी माँ वकील के द्वारा अन्य किसी व्यक्ति का कर्ज भिजवाती थीं। वकील महोदय वह रूपया स्वयं रख लेते थे। सम्बधित व्यक्ति को पहुँचाते नहीं थे। इससे इनकी माता कर्जो के बोझ से दब गयीं। एक तरफ अपने घर की परेशानियाँ दूसरी तरफ माँ की विपत्तियाँ। इन सब परिस्थितियों ने एनी बेसेण्ट का धार्मिक विश्वास तोड़ दिया। अब सान्त्वना और प्रार्थना की परम्परागत विधियों से एनी बेसेण्ट कीं अपनी मानसिक पीड़ा और बढ़ती हुई लगी। अत· इन्होंने इन सब परम्परागत विधियों से मुँह मोड़ लिया। परिणाम पति-पत्नी में परस्पर कलह होने लगे। पति की धार्मिक कट्टरता ने पारिवारिक जीवन को और दुखी बना दिया। लेकिन अपने अनेकों प्रकट कष्टों के बावजूद एनी बेसेण्ट ने ईसाई धर्म और उसके एक एक करके तमाम सिद्धान्तों को जाँचने का निश्चय कर लिया ताकि बाद मे वह कभी प्रमाण के अभाव में भी यह न कह सके कि 'मैं विश्वास करती हूँ।'

इस समय एनी बेसेण्ट के मन में चार प्रकार की समस्याएं उथल पुथल मचा रही थीं-[6]

(1) मृत्यु के पश्चात् ताकयामत दण्ड और पीडा।

(2) ईश्वर को 'मंगलमय' और 'प्रेम' स्वरूप कहते है, तो उसने तमाम पापों और कष्टों सहित यह दुनिया क्यो बनाई है?

(3) ईसा के बलिदान का स्वरूप/ न्यायी ईश्वर ने ईसा को संसार के पाप के लिए पीड़ा क्यो सहने दी और पापियों को पाप से मुक्ति क्यों देता है?

(4) बाइबिल के सन्दर्भ में 'प्रेरणा' का अर्थ। यदि बाइबिल ईश्वर रचित है तो इसमे असगत और नैतिकता के विरुद्ध स्थल क्यों है?

यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि इन दिनों एनी बेसेण्ट संशयवादी बन गयी थीं। इन्होंने राबर्टसन स्टापफोर्ड बूक, ग्रेग, मेथ्यू अर्नल्ड, स्टेनली, लिडन, मैन्सेल आदि संशय वादियों की पुस्तक का अध्ययन शुरू कर दिया था। अब अपने मानसिक तनाव को दूर करने के लिए इन्हेंने समाज कल्याण कार्य यथा रोगियों की सेवा सुश्रुषा करना, दीन दुखियों की सहायता करना भी शुरू कर दिया। साथ ही खेतिहर मजदूरों की बहुत सी जानकारी प्राप्त की। खेतिहर मजदूर यूनियनों के कार्यो का अध्ययन किया जिनका उन दिनों किसान लोग विरोध कर रहे थे और यूनियन के सदस्यों को काम नहीं देते थे।

इसी बीचव् श्रीमती एनी बेसेण्ट की मुलाकात एक आस्तिक उपदेशक रेवरेण्ड चार्ल्स पूसे से हुई। कुछ समय तक इन्होंने डा0 पूसे से पत्र व्यवहार किया लेकिन यह उनके विचार से संतुष्ट न हो सकीं। अब यह ईसा के दैवत्य को छोडकर उनकी मानवीयता पर महत्व देने लगीं। अब पुनः समस्या आई कि अगर ईसा को ईश्वर के रूप में मानना छोड़ दिया जाए तो फिर ईसाइयत को भी एक धर्म के रूप में मानना छोड़ना होगा।

इसी समय इनका परिचय श्री और श्रीमती स्काट से हो गया जिन्होने अपने घर को विधर्मी विचारों का अड्डा बना रक्खा था। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने 'फ्री थॉट' निबंध थामस स्काट के लिए लिखा था। इसमे उन्होंने स्वय स्वीकार किया किस इस निबंध की लेखिका एक पादरी की पत्नी है। अब श्रीमती बेसेण्ट का ईसाई मत के प्रति विश्वास खत्म हो गया और उन्होंने ईसामसीह के स्मरणार्थ पवित्र भोज में शामिल होने से इन्कार कर दिया और जब किसी से उनसे भोज मे शामिल न होने का कारण पूछा तो उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया कि भोज मे भाग लेने वाले को जिस मत विश्वास की प्रतिज्ञा करनी पडती है, वह प्रतिज्ञा वह ईमानदारी से नहीं कर सकती।

इन घटनाओं से यह पता चलता है कि इस समय बेसेण्ट का धार्मिक मत-परिवर्तन हो रहा था। धर्म के जिन सिद्धान्तों को वह पढती थीं व्यवहार मे उससे भिन्न आचरण देख कर उन्हे क्षोभ होता था। वे चाहती थीं कि जो कुछ हम दूसरों को कहते है उन्हें कार्य में परिणत भी करें। उनका मन सामाजिक कल्याण के कार्यो के लिए व्यग्र रहता था परन्तु इनके पतिदेव उन्हे सिर्फ घर की चहार दीवारी मे ही रखना पसंद करते थे। स्वतन्त्रता प्रेमी श्रीमती बेसेण्ट अपनी शंकाओं से परेशान और अप्रिय घरेलू जीवन से दुखी होने के बावजूद सिब्से नामक गांव में भयंकर महामारी से पीड़ित रोगियों की सेवा सुश्रूषा में लग गयीं। और इन्हीं दिनों वह सिब्से के गिरजाघर भी गयीं। वहाँ पहुँचकर अचानक उनके मन में विचार आया कि वह उपदेश दें। आन्तरिक शक्ति ने उन्हे विश्वास दिलाया कि अगर अवसर मिले तो वह धारा प्रवाह बोलभी सकती है।

गिरजे के अन्दर जाकर उन्होंने उपदेशक के मंच पर चढ़कर 'बाइबिल की प्रेरणा' विषय पर सबसे पहला भाषण दिया। ज्योंही उनकी पतली पतली सुरीली झनकारती हुई आवाज दूर पार्श्वो तक पहुँची त्योंही उन्होंने महसूस किया कि वह उनका भीतर का आवेग नपे तुले शब्दों में धारा प्रवाह से फूट निकला। अब उन्हें विश्वास हो गया कि उनमें बोलने का ऐसा गुण हो आगे चलकर उनके लिए सर्वाधिक कल्याणप्रद सिद्ध हुआ होगा।

सामाजिक कार्यो मे भाग लेना श्रीमान् बेसेण्ट को पसद न था। अत उन्होंने अपनी पत्नी से कठोर शब्दों मे कह दिया कि या तो वह उनकी आज्ञा का पालन करे या घर छोडकर चली जाएं अर्थात् स्वय उनकी भाषा मे, पाखंड ढोंग का पालन या घर से निष्कासन। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने दूसरा विकल्प चुना। फलस्वरूप सन् 1873 मे उनका वैवाहिक सम्बध टूट गया। श्रीमती बेसेण्ट की माँ इस घटना से बहुत दुखी हुईं परन्तु अपनी पुत्री की समस्या की गम्भीरता भी समझती थीं। इस घटना को देखकर श्रीमती वुड ने कहा- 'उस समय तक वह नही जानती थीं कि लोग -स्त्री पुरुष दोनों ही - कितने निर्दयी हो सकते हैं, उनकी जुबाने कितनी विषैली हो सकती हैं।'

स्वावलम्बी जीवन का प्रारम्भ

कुछ दिन श्रीमती बेसेण्ट ने कढाई बुनाई का काम सीखा और एक घर मे अध्यापिका का कार्य करके जीवन यापन किया। इसी बीच इनके बच्चों की तबियत बिगड गयी। और श्रीमती एनी ने अपनी माता के साथ मिलकर घर गृहस्थी संभाली। इसके कुछ दिनों बाद इनकी माता ऐसी बीमार पड़ीं कि उनके बचने की कोई आशा न रही। मरने से पहले उन्होंने होली कम्यूनियम की इच्छा प्रकट की लेकिन साथ ही यह भी इच्छा प्रकट की कि उनकी पुत्री भी उसमें भाग ले। बहुत से पादरी बेसेयट को इसकी अनुमति देने के लिए तैयार नहीं थे। अंतत एक गिरजे के अध्यक्ष डीन स्टेनली ने, जिनसे वह स्वय जाकर मिली थीं, इसकी अनुमति दे दी। श्रीमती बेसेण्ट के जीवन में यह अंतिम अवसर था जब उन्होंने किसी ईसाई धर्म विधि में भाग लिया था। इस समय डीन स्टेनली और एनी बेसेण्ट के बीच जो विचार विनिमय हुआ, उसमें डीन महोदय ने स्पष्ट कहा कि सिद्धान्तों की अपेक्षा आचरण व्यवहार कही अधिक महत्वपूर्ण होते हैं और मैं उन सभी लोगों को ईसाई समझता है जो ईसामसीह के नैतिक नियमों को मानते हैं और व्यवहार में उनका उपयोग करते हैं। अंतत. डीन स्टेनली ने उनकी माता की अंतिम इच्छा होली कम्यूनियन एनी की उपस्थिति में पूरी की।

सन् 1874 में माता का देहान्त हो जाने पर श्रीमती बेसेण्ट को दो-तीन माह तक काफी परेशानियों से मुकाबला करना पड़ा। अब उनके जीवन का नया अध्याय शुरू

हुआ। जीवन-यापन हेतु श्रीमती एनी बेसेण्ट श्री स्काट के लिए छोटी-छोटी पुस्तिकाए लिखने लगीं। इससे उन्हे जो थोड़े रूपये मिल जाते थे उससे उनका आर्थिक संकट कम हुआ। श्री स्काट ने अपने पुस्तकालय का उपयोग करने की उन्हे पूरी छूट दी थी। इसी बीच उन्होंने मोन्क्योर डी कान्वे के कुछ धार्मिक व्याख्यान सुने। इन्होंने श्रीमती एनी बेसेण्ट से अनुरोध किया कि वह 'होल ऑफ साइन्स' जाकर चार्ल्स बैडला का भाषण सुनें। चार्ल्स ब्रेडला उस समय अग्रेजी भाषा के जॉन ब्राइट के बाद अच्छे वक्ता थे जो बड़ी से बड़ी भीड़ को अपने वश मे आश्चर्यजनक ढग से कर लेते थे। इसी समय श्रीमती बेसेण्ट ने डीन मैन्सेल के 'बपतिस्मा भाषण ' को पुन पढ़ा। इनको पढ़ने के बाद इनका झुकाव नास्तिकता की ओर हुआ। अब श्रीमती बेसेण्ट ने मिल की 'सर विलियम हैमिल्टन के दर्शनशास्त्र की परीक्षा ' पुस्तक का पुन· अवलोकन किया'। साथ ही कॉम्टे के 'सकारात्मक दर्शनशास्त्र' का सावधानी पूर्वक अध्ययन किया। शनै· शनै इन्होंने मानव बुद्धि की सीमाओं को पहचाना तथा यह जाना कि ईश्वर के निरपेक्ष स्वरूप को समझना सामर्थ्य के बाहर है।

स्वतंत्र विचार एवं उग्रवादी

सन् 1874 को श्रीमती बेसेण्ट 'फ्री थॉट सोसायटी' में सम्मिलित हुई। तब 'हाल ऑफ साइन्स' में जाकर चार्ल्स ब्रेडला का व्याख्यान सुना।

चार्ल्स ब्रेडला का भाषण सुनकर श्रीमती बेसेण्ट बहुत प्रभावित हुई। उनसे प्रथम भेंट मे श्रीमती बेसेण्ट को जो अनुभव हुआ उसे उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया -

'गम्भीर, शात, मजबूत चेहरा, बड़ा सा सिर, प्रखर ऑखें, शानदार चौड़ा और ऊँचा माथा- क्या यही वह आदमी था जिसके बारे में मैंने लोगों को यह कहते सुन रखा था कि व एक उजड्ड आंदोलनकारी और धूर्त बकवासी व्यक्ति है? उसने बड़े शांत एवं सहज भाव से बोलना शुरू किया, कृष्ण और क्राइस्ट की पौराणिक समानताओं का चित्रण करते हुए और एक एक चीज को लेकर वह जैसे जैसे आगे बढ़ता जाता था, वैसे वैसे उसकी आवाज की तेजी और गूँज भी बढ़ती जाती थी और वह तब तक

बढ़ती रही जब तक पूरे का पूरा हाल एक तुरही की आवाज की तरह गूजने नहीं लगा। . .. उसके तर्क और भाषा दोनों ही समान रूप से जोरदार और महत्वपूर्ण थे। और मैंने पाया कि उसका ज्ञान भी उतना ही गहरा और स्वस्थ था जितनी शानदार उसकी भाषा। उसने अपने वक्तृत्व, कटाक्ष, करुणा, संवेग द्वारा ईसाई अंधविश्वासों के विरुद्ध बड़े जोश से भाषण दिया। वक्ता के प्रवाह मे बहकर उपस्थित भीड़ बिल्कुल शात हो गयी, ज्यों ही उसने अपने पूरे भाषण का अति उत्तम उपसहार किया त्यों ही पूरा हाल हर्ष ध्वनि और प्रशसा के एक तूफानी कोलाहल से गूँज उठा।'[7]

'हॉल आफ साइन्स' की इस प्रथम भेंट में श्रीमती एनी की चार्ल्स ब्रेडला के साथ मित्रता प्रारम्भ हो गयी और यह मित्रता मृत्युपर्यन्त बनी रही। श्रीमती बेसेण्ट का विचार था कि मृत्यु के बाद भी यह स्नेह सूत्र बना रहता है। श्रीमती बेसेण्ट ने ब्रेडला के सम्पर्क से वक्तृता शक्ति, विषय का गूढ अध्ययन तथा स्व आलोचना सुनने की क्षमता जैसे गुणों का विकास किया। ब्रेडला ने बेसेण्ट को बताया कि जब तक किसी विषय पर, जिस पर उनका झुकाव हो, उसके विरुद्ध कही गयी आलोचनाओं का अध्ययन न कर लिया जाये, तब तक यह नहीं कहना चाहिए कि हमारी इस विषय पर अमुक राय है। किसी विषय पर अधिकार हासिल करने के लिए यह आवश्यक है कि उस विषय पर दुनिया के श्रेष्ठतर विद्वानों ने जो कुछ कहा है पहले उस सब का अध्ययन करें । तब ही वह यह कह सकता है कि मै अमुक विषय को जानता हूँ। सार्वजनिक क्षेत्र मे भी कोई सीधा सही काम तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कार्यकर्ता जितनी बातें बाहर करता है उतनी से कहीं अधिक का घर मे अध्ययन न कर लें। श्री ब्रेडला ने श्रीमती बेसेण्ट को सार्वजनिक जीवन के लिए खूब दृढ व कुशल बनाया। इनका विचार था कि नेता को आत्म निरीक्षण करने वाला होना चाहिए। उसे अपना कड़े से कड़ा परीक्षक होना चाहिए, अपना भाषण स्वयं सुने तथा उसकी आलोचना करे। अपने बारे में गालियाँ सुने और देखे कि उनमें कितनी सत्यता है।

श्री ब्रेडला की इस मित्रता तथा बातचीत से एनी बेसेण्ट को अपूर्व बल मिला और उन्होंने एक के बाद एक अनेक अवस्थाओं को पार किया। अब वह ईश्वर के

बारे मे भी उसी आधार पर विचार करने लगीं। जिस प्रकार श्री ब्रेडला ने सुझाया था। अपनी 'आत्मकथा' के एक अध्याय 'नास्तिकता जैसे मैने जानी और सिखाई' मे वह कहती है

'ईश्वर के बारे में जितने भी विचार हैं, उनमे से कोई प्राप्य भी हैं या नहीं, इसकी खोज करते करते मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची कि किसी चेतन 'शक्ति' के अस्तित्व के प्रमाण का अभाव है, जो साधारण प्रमाण दिए जाते है वे अधूरे है और इस पूरी स्थिति, प्रपंच को हम बस केवल हृदयगम कर सकते है और इससे अधिक कुछ नहीं।'[8]

इस प्रकार दिन पर दिन श्रीमती बेसेण्ट के विचार नास्तिकता की ओर अग्रसर होते गए। नास्तिक व्यक्ति किन बातों को स्वीकार करता है और किन में विश्वास करता है इस पर श्रीमती बेसेण्ट ने इन शब्दों में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं:-

'सामान्य मानवी अनुभव जिस स्थिति अथवा व्यापार को मानता है उससे भिन्न भी कोई अन्य स्थिति अथवा व्यापार होता है या नहीं, नास्तिक इसका उत्तर न तो हाँ में और न तो 'ना' मे देता है. चूँकि पूरे ब्रह्माण्ड के बारे मे उसका ज्ञान बहुत ही सीमित और बहुत अपूर्ण है, इसलिए अस्तित्व के जिन रूपों के बारे में वह कुछ नहीं जानता, उनके बारे मे नास्तिक न तो कोई स्वीकार करता है औन न इन्कार। इसके अतिरिक्त जिन चीजों के बारे में वह कुछ नहीं जानता उनके बारे में कहीं जाने वाली किसी भी बात पर विश्वास करने से भी इन्कार करता है और उसका कहना है कि जो चीज कभी भी ज्ञान का विषय नहीं बन सकती, उसे विश्वास या आस्था का विषय भी कभी नहीं बनाया जाना चाहिए।'[9]

नास्तिक प्रमाण के अभाव में किसी बात अथवा मत मे विश्वास नहीं करता। उनके विचार में हममें से बहुतों के लिए विश्वास से पहले प्रमाण देना चाहिए। मैं बड़ी खुशी से सबके लिए अमरता में उसी तरह विश्वास कर लूँगी जिस तरह इसमें

कि सन् 1885 मे इस तमाम दुर्गति, अपराध और गरीबी का अत हो जाएग बशर्ते कि मै ऐसा कर सकती। लेकिन उसके समर्थन में जब तक कोई विश्वसनीय और निश्चित प्रमाण मेरे सामने नहीं लाया जाता तब तक मै किसी असम्भव प्रतिज्ञा पर विश्वास करने में असमर्थ हूँ। अमरता नितात असम्भव है, इसके पक्ष मे कोई भी प्रमाण सामने नही लाया जाता है। मै किसी बात पर केवल इसलिए विश्वास नहीं कर सकती क्योंकि मैं ऐसा चाहती हूँ।'

श्रीमती बेसेण्ट के विचार नास्तिकता की ओर तो बढ रहे थे परन्तु उनके दिल में मानवता के उत्थान और दुनिया की दशा सुधारने की तीव्र लालसा थी। यही कारण था कि उनके लिए ब्रह्माण्ड की एक सुसंगत बौद्धिक धारणा की अपेक्षा नैतिकता का एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त कहीं अधिक महत्व रखता था। उनकी भाषा मे-

'जब एक पवित्र न्यायी ईश्वर पर मेरी आस्था पूर्णत खत्म हो गयी, तो आचरण के प्रबल महत्व और कर्तव्य की बाध्यकारी प्रकृति का मै बडे उत्साह से आग्रह करने लगी।

श्रीमती बेसेण मनुष्य के जन्मजात महत्व के बारे मे पूर्ण रूप से निश्चित थी। उनका मानना था कि यह मानव महत्व ही उनकी तमाम चिंतन क्रियाओं पर शासन करता है - यद्यपि उनकी यह निश्चितत उनके मानव की पशु-वंश परम्परा के विश्वास से बिल्कुल असंगत थी। श्रीमती बेसेण्ट ने 'द टू बेसिस ऑफ मोरेलिटी' में मनुष्य के लिए नैतिकता का विकास धर्म से अधिक महत्वपूर्ण बताया है। नैतिक विकास किस प्रकार किया जाये इसके सम्बध में उनके विचार इस प्रकार हैं·

'मनुष्य के नैतिक विकास को बढ़ाने के लिए मुझे दो चीजें आवश्यक लगती हैं- एक लक्ष्य या आदर्श जो उसकी भावनाओं में आन्दोलन पैदा कर सके और कुछ करने के लिए मजबूर कर सके और दूसरी बात यह कि बुराइयों के स्रोतों को खत्म करने के तरीकों का उसे स्पष्ट तथा पूर्ण ज्ञान होना चाहिए । पहली आवश्यकता की पूर्ति के लिए मैंने आदर्श को ऐसे रंग से रंगने की कोशिश में अपने अपने स्वभाव में तमाम संवेगों को जुझा दिया, जिनमे दूसरों को मोहित करने और लुभाने की शक्ति हो, ताकि उस आदर्श को प्राप्त करने की लालसा और प्रेम मनुष्य को कोशिश करने के लिए

झकझोर सके। अगर 'संवेग स्पर्शित नैतिकता' धर्म हो तो अपने आदर्शो पर ध्यान लगाए हुए और उसकी शोभा बढ़ाते हुए अपने ऊँचे से ऊँचे भावों को सतुष्ट करके , तमाम के तमाम नास्तिकों मे मै सच्ची धार्मिक हूँ।'[11]

इसी समय इन्होंने 'गास्पेल ऑफ एथीज्म' तथा 'गास्पेल ऑफ क्रिश्चियनिटी एण्ड फ्री थॉट' नामक पुस्तके लिखीं। इस सस्था में आने पर श्रीमती बेसेण्ट का समय अध्ययन, प्रवचन तथा रचनाए लिखने मे व्यतीत होने लगा। इन्होंने डार्विन, हर्बटस्पेसर हक्सले, बुशनर और हैकेल के साहित्य पढ़ना शुरू किया। उन्हें मनुष्य की सामाजिक सहज प्रवृत्ति मे ही अन्तर्विवेक और उसके मानसिक एव नैतिक स्वभाव की मजबूती की व्याख्या मिलने लगी थी। इसको उन्होने निम्नलिखित शब्दो मे स्पष्ट किया है-

'नास्तिक व्यक्तिगत दक्षता चाहता है सिर्फ इसलिए नहीं कि उसे इसमें आनन्द मिलता हे जैसे वह स्वयं सुन्दर हो, बल्कि इसलिए भी कि विज्ञान ने उसे सम्पूर्ण मनुष्य जाति की एकता सिखला दी है और वह जानता है कि वह जब अपने स्वभाव के एक एक करके तमाम तुच्छ, तामसिक तत्वों पर विजय पाता है और जिसके फलस्वरूप उसके ऊँचे के राजसिक तत्व मजबूत होते जाते हैं, तो इससे केवल उसका निजी लाभ नहीं बल्कि सबका लाभ होता है।'[12]

ये थे इनके नैतिकता और आचरण के बारे में 1874ई. तक के विचार। इनके इन विचारों में बाद में परिवर्तन आया। इन्होंने घोषणा की कि वे स्वतंत्र विचार आन्दोलन के प्रति सबसे अधिक इसलिए कृतज्ञ थीं कि उसने नए नए सत्यों के लिए उनके मस्तिष्क को खुला छोड़ रखा था और साधारण प्रश्नों से भी जूझने के लिए उत्साहित किया था। वह चार्ल्स ब्रेडला के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करती थीं, और धीरे धीरे लेकिन निश्चित रूप से, उनके विरुद्ध सार्वजनिक विरोध बढ़ता गया। कुछ लोगों का मानना था कि नास्तिकतावाद में पतित नैतिकता निहित होती है। श्रीमती बेसेण्ट के विरुद्ध व्यक्तिगत अनैतिकता के आरोप भी लगाए गए। जैसा कि स्वयं एनी बेसेण्ट

ने अपनी आत्मकथा मे वर्णित किया है- उनके अति उग्र राजनैतिक विचारों के साथ उनकी नास्तिकता को जोडकर उनके विरुद्ध घृणा की एक व्यापक भावना फैल गयी थी। उन्होंने सार्वजनिक रूप से भूमि के प्रश्न, शाही परिवार पर देश के खर्च, लार्ड सभा की अडगावादी शक्ति आदि पर भाषण देना शुरू कर दिया। इसके अतिरिक्त पराधीन उपनिवेशों के लिए 'होम रूल' (स्वशासन) की माग की। आयरलैण्ड, ट्रांसवाल, वर्मा, मिस्र और बाद मे भारत मे अपनाई जाने वाली सरकारी नीति के विरुद्ध भी भाषण दिए। श्री ब्रेडला के साथ मिलकर इन्होंने फाँसी की सज़ा और अपराधियों को कोड़े मारने की सजा के विरुद्ध आन्दोलन किया। तथा शिक्षा और सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए एक राष्ट्रीय प्रणाली की माग की। भाषणों के साथ साथ इन्होंने पत्रकारिता का काम भी करना शुरू कर दिया। इन्होने 'नेशनल रिफार्मर' नामक समाचार पत्र मे 21 शिलिग प्रति सप्ताह वेतन के आधार पर कार्य करना स्वीकार कर लिया। इसमे इन्होंने 'ऐजक्स' के कल्पित नाम से लिखना प्रारम्भ किया। इन्हे सार्वजनिक रूप से बोलने का प्रथम अनुभव गार्डन पार्टी में हुए एक अनौपचारिक गोष्ठी के वाद-विवाद मे हुआ। सन् 1874 मे 'कोआपरेटिव इन्स्टीट्यूट' में इन्होंने 'महिलाओं की राजनीतिक स्थिति' पर सर्वप्रथम सार्वजनिक भाषण बोला। यद्यपि शुरू में वह थोडा घबराई परन्तु थोड़ी ही देर में अपने ऊपर विश्वास हो गया। अब उन्हें अपने सामने बैठे लोगों को देखकर और दृढता महसूस हुई। उन्हे लगा कि उनके नीचे की जमीन हिल नहीं रही है उनकी तमाम घबराहट खत्म हो गयी। और ज्यों ही उन्हें अपनी गूँजती हुई आवाज सुनाई दी, त्योंही उनमें अपनी सामर्थ्य और शक्ति के चेतना जाग उठी और वह चेतना भय की नहीं, आनन्द की थी। भाषण देते देते वह इतनी अभ्यस्त व प्रभावशाली हो गयी थीं कि भाषण देने के लिए खड़े होने पर वह एकदम सरल और स्वाभाविक होकर भाषण देती थीं। स्वयं उन्हीं के शब्दों में- 'भीड़ की शासक और स्वयं अपनी स्वामिनी'।[13]

भाषण देते समय उनकी एक विशेषता यह थी कि वह भाव-प्रदर्शन नहीं करती थीं। उनके प्रभाव का असली आधार था उनकी वाणी; बोलते समय उनमें अपने

सामर्थ्य का जो संयत भाव रहता था या उनकी आवाज मे जो गूँज थी, उसमे उनका कोई दूसरा मुकाबला नहीं कर सकता था। सार्वजनिक सभाओं में' जब वह भाषण देती थीं तो पूर्वनिश्चित समय मे एक मिनट की भी देरी किए बिना वह मच पर पहुँच जाती थीं और सामान्यत वह अपना भाषण ठीक एक घण्टे बाद समाप्त कर देती थीं। आरम्भ मे वह बडी धीमी आवाज से बोलना शुरू करती थीं लेकिन धीरे धीरे आवाज ऊँची होती जाती थी और इस ऊँचे स्वर से जो गूज होती थी वह बडी आकर्षक एवं कर्णप्रिय लगती थी। इनकी आवाज की इस गूँज के लिए श्री ग्लैडस्टन ने कहा था कि इनकी आवाज का मुकाबला अगर कोई कर सकता है तो स्पेन के श्री केस्टेलर। इनके शब्दों की शहनाई की तरह की गूँज ऐसी थी कि उस जमाने में भी जब कि लाउडस्पीकर और माइक्रोफोन आदि का नामोनिशान भी नहीं था, 5000 से भी अधिक भीड़ आसानी से उन्हे सुन सकती थी और फिर भी स्वयं उन्हे अपनी आवाज पर बल देने की कोई जरूरत नहीं पड़ती थी। तालमय और गूँजती हुई होने के कारण वह काफी बडे हाल के हर भाग तक छा जाती थीं। उनके भाषण देने की एक विशेषता यह भी थी कि वह भाषण प्रारम्भ करने के ठीक 52-53 मिनट बाद अपने भाषण का उपसंहार शुरू करती थीं जिसकी वक्तृता और सामग्री दोनों बड़े ऊँचे स्तर की होती थी। भाषण की समाप्ति पर वह उतनी ही शांति पूर्वक बैठ जाती थी, जितनी शांतिपूर्वक उन्होंने हॉल मे प्रवेश किया था। जिन दिनों वह इंग्लैण्ड तथा भारत की अदालतों में अपने मुकदमों की स्वय पैरवी करती थीं या जब वह राजनीतिक अथवा धार्मिक विषयों पर बोलती थीं तो उनकी बातों की सामग्री और उन्हें प्रस्तुत करने के ढंग दोनों में श्रोतागण को पूर्णरूप से आकृष्ट करने की जो शक्ति थी उसकी समानता किसी अन्य से नहीं की जा सकती। सार्वजनिक स्थान पर बोलते समय उनके चेहरे और व्यवहार दोनों में एक विशेष प्रकार की निमग्नता और अनिवार्यता रहती थी।

सामाजिक जीवन में उनका भिन्न व्यवहार दृष्टिगत होता था। जब वह अपने मित्रों या अपने अनुयायियों के बीच बैठती थी तो वह हमेशा एक प्रसन्न आतिथेय का काम करती थीं। छोटी-मोटी बैठकों में जहाँ पर परस्पर निकटता का वातावरण होता,

वहाँ उनका बिल्कुल भिन्न व्यक्तित्व देखने को मिलता- गतिशील गंभीर सार्वजनिक नेता एक बिल्कुल सरल-सहज और उत्साही कामरेड हो जाता, जो दूसरों को अधिकाधिक प्रसनन करने के लिए व्याकुल रहता और स्वय बडी आसानी से प्रसन्न हो जाता। सार्वजनिक अवसरों पर उनके चेहरे और विशेषत आँखों मे जो दृढ़ता रहती वह गायब हो जाती और उसकी जगह एक आकर्षक कोमलता ले लेती। लेकिन उन्हे कोई आसानी से हँसा नहीं सकता था और न ही उनके स्वभाव मे हँसी मजाक के लिए कोई खास स्थान ही था। उनके एक सम-सामयिक आलोचक ने उनके स्वभाव के बारे मे इस प्रकार कहा-

' वह बडी गम्भीर और गर्वीली हो सकती है और प्रसन्न एव विनीत भी, लेकिन वह हँस नहीं सकती थीं, उन्हे हँसना आता ही नहीं था और न वह सामाजिक अथवा सामूहिक बातचीत के हल्के फुल्के पक्षों को समझ ही सकती थीं।'

सन् 1875 से श्रीमती बेसेण्ट ने 'स्वतत्र विचार' पर भाषण देने शुरू किए और अनेक जगह दौरे भी किए। श्रीमती बेसेण्ट का कहना था कि भाषण देना उन पर शक्तिशाली औषधि का काम करता था। एक बार उन्होंने काफी देर-देर तक खड़े रहने और भाषण देने के बारे मे एक डॉक्टर से राय ली थी। उन्होंने इनसे कहा था 'यह आपको स्वस्थ कर देगा या मार डालेगा'। श्रीमती बेसेण्ट ने अपने भाषण देने के लिए कहा था कि उसने उन्हे स्वस्थ, मजबूत व शक्तिप्रद बना दिया। अपने भाषणों के दौरों में उन्हें यश के साथ साथ आक्रमणों का भी मुकाबला करना पड़ा। लेकिन वह धीर व साहसी महिला थीं। इन सब आलोचनाओं से वह दिन प्रतिदिन और मजबूत होती गयीं। कुछ लोगों ने उन पर यह गलत आरोप लगाया कि वह विवाह संस्था के उन्मूलन का समर्थन करती हैं। उन पर यह भी आक्षेप लगाया कि उन्होंने ' द बायबिल ऑफ सेक्यूलरिस्ट्स' नामक पुस्तक लिखी है। श्रीमती बेसेण्ट ने इस पुस्तक के एक भाग जिसमें जनसंख्या नियंत्रण के कुछ नियमों का वर्णन था, के अध्ययन तथा उसमें वर्णित नियमों का पालन करने के लिए श्रमिकों से सिफारिश की थी। इसी बात

पर उनके शत्रुओं ने यह आरोप लगाया कि वह विवाह-सम्बध के स्थायित्व पर लेखक के विचारों से सहमत है।

इसी बीच स्वतत्र विचार के समर्थकों ने 'नेशनल सेक्यूलर सोसायटी' नामक सस्था की स्थापना की। श्री ब्रेडला इसके अध्यक्ष और श्रीमती बेसेण्ट इसकी उपाध्यक्ष बनीं। जब तक श्रीमती बेसेण्ट थियोसाफिकल सोसायटी मे शामिल नहीं हो गयीं, तब तक वह इस पद को सभाले रहीं। इस सोसायटी का वर्ष मे एक बार सम्मेलन होता था, उसमे समस्त देश के दूर दूर बिखरे हुए पुराने से पुराने मित्रगण शामिल होते थे। ये वे स्त्री पुरुष थे जो बार-बार ब्रेडला को चुनाव लडने के लिए उकसाते और चुनाव का खर्च वहन करते थे। जब ब्रेडला का संसदीय संघर्ष शुरू हुआ तो हजारों की सख्या में इन लोगों ने उनके समर्थन में प्रदर्शन भी किया। श्री ग्लैड्स्टन के बाद किसी के भी व्यक्तिगत अनुयायियों की इतनी संख्या हुई हो। इनकी मित्र मण्डली मे खदान मजदूर, जुलाहे , मोची, तरह तरह के व्यापार उद्योग में काम करने वाले हजारों हृष्ट पुष्ट हट्टे कट्टे और आत्म विश्वस्त लोग थे जो बड़े उत्साह से श्री ब्रेडला व उनकी सहयोगी श्रीमती बेसेण्ट के पीछे चलते थे।

इन्हीं दिनों रेवरेण्ड श्री मैल्थस के अनुयायी डॉ0 चार्ल्स नोल्टन द्वारा लिखित परिवार नियोजन से सम्बंधित पुस्तक प्रकाशित हुई थी। यद्यपि इस पुस्तक का प्रकाशन 40 वर्ष पूर्व से हो रहा था और यह बाजार में बिक रही थी। परन्तु इस समय ब्रिस्टल के एक पुस्तक - विक्रेता ने पृष्ठों के बीच में कुछ गंदे व अश्लील चित्र जोड़ दिए थे। इससे इस पुस्तक का काफी विरोध हुआ। पुस्तक विक्रेता पर मुकदमा चलाया गया और उसके अपराध स्वीकार कर लेने पर उसे सजा भी दी गयी। इस पर श्री ब्रेडला और श्रीमती बेसेण्ट ने काफी विचार विमर्श करके निश्चय किया कि जनसंख्या के प्रश्न पर स्वतंत्रता पूर्वक विचार विनिमय करने के अधिकार की परीक्षा के लिए इस पुस्तिका को प्रकाशित किया जाए। ये लोग जानते थे कि इस पुस्तिका को प्रकाशित करने पर उन्हें अपार अपयश मिलेगा। श्रीमती बेसेण्ट भी जानती थीं कि इसका परिणाम

भयकर निंदा व समाज मे बदनामी होगी। लेकिन इन सब की परवाह किए बिना श्रीमती बेसेण्ट ने वह पुस्तिका प्रकाशित करते हुए लिखा था -

'हम यह पुस्तिका पुन प्रकाशित कर रहे हैं, ईमानदारी से यह विश्वास करके कि ऐसे सब प्रश्नों पर जिनका लोगों के सुख पर प्रभाव पड़ता है- चाहे वे धार्मिक हो, चाहे राजनीतिक या सामाजिक हो- उन पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार विनिमय करने का पूरा-पूरा अधिकार होना चाहिए- इसके लिए किसी भी खतरे का सामना क्यों न करना पडे। डॉ0 नोल्टेन ने जो कुछ कहा है हम उस सबसे सहमत नहीं है, उनकी 'दार्शनिक कविता' मे, हमारे विचार से, दार्शनिक गल्तियों की भरमार है, और - चूँकि हममे से कोई भी डॉक्टर नहीं है- हम उनके चिकित्सा सम्बधी विचारों की पुष्टि करने के लिए तैयार नही है। लेकिन चूँकि प्रगति के लिए विचार विनिमय अत्यावश्यक है, और जहाँ विरोधी मतों का दमन किया जाए वहाँ कोई भी विचार विनिमय सम्भव नहीं होता, इसलिए हमे सभी मत प्रकाशित करने का अधिकार है, ताकि किसी भी प्रश्न के हर पहलू को देख सकने मे समर्थ होकर जनता उस पर अपनी सही राय बनाने के योग्य हो सके।'[14]

उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीमती बेसेण्ट और श्री ब्रेडला स्वतंत्र विचार विनिमय में विश्वास करते थे और किसी भी समस्या के हर पहलू पर विचार करने के पक्षधर थे। जैसा कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में होता है। श्रीमती बेसेण्ट का विशेष गुण था स्पष्टवादिता उसी के अनुरूप इन्होंने पुस्तिका छपकर बाजार में आने के एक दिन पूर्व पुस्तिका की प्रतियाँ 'गिल्ड हॉल' और नगर पुलिस अधिकारियों को भेज दी। पुस्तक के प्रकाशन के तुरंत बाद उनके पास जूजप्पा गारीबाल्दी और फ्रांस के एक सवैधानिक वकील' और यहाँ तक कि कुछ पादरियों की पत्नियों से भी प्रशंसा के पत्र आए। लेकिन कानून की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी, फलस्वरूप श्री ब्रेडला तथा श्रीमी एनी बेसेण्ट को गिरफ्तार कर लिया गया। उनका मुकदमा इग्लैंड के प्रधान न्यायाधीश, एक विशेष जूरी के सम्मुख शुरू हुआ। दोनों ने अपनी पैरवी स्वयं

की। प्रधान न्यायाधीश ने अपनी राय देते हुए उनकी रिहाई पर जोर दिया और दोनो की स्पष्टवादिता तथा साहस की प्रशसा मे वक्तव्य दिए। अदालत मे उपस्थित लोग यह सोच रहे थे कि मुकदमा फतेह हो गया लेकिन उनके विरुद्ध फैली धार्मिक और राजनीतिक घृणा के कारण जूरी का यह निष्कर्ष था कि इस पुस्तिका से सार्वजनिक नैतिकता का पतन होगा। जूरी ने यह भी स्वीकार किया कि अभियुक्तो का इरादा बुरा नहीं था। फलत दोनों को 6-6 महीने की कैद और दो-दो सौ पौण्ड जुर्माने की सजा सुनाई गयी। दोनो ने निर्णय की गल्ती के प्रश्न पर रिट दायर की और इसके फलस्वरूप उनकी सजा खत्म कर दी गयी। इसके उपरात श्रीमती बेसेण्ट ने स्वय 'जनसख्या के कानून' पर एक पुस्तिका लिखी जिसका नाम था 'द ला ऑफ पापुलेशन'।

इस पुस्तक के प्रकाशित होने पर सन् 1879 मे चान्सरी हाईकोर्ट मे श्रीमती एनी बेसेण्ट को बच्चों की संरक्षता से वंचित करने के सम्बध में याचिका पेश की गयी। याचिका की सुनवाई सर जार्ज जेसेल एम0आर0 की अदालत मे पड़ी। श्रीमती बेसेण्ट जानती थीं कि वह जज हेब्रू कट्टरता के प्रेमी थे अत· वह उनके खिलाफ निर्णय देगे। जैसा कि उनके बारे मे श्रीमती बेसेण्ट ने लिखा है·-

'उन्हें हेब्रू कट्टरता की प्राचीन भावनाओं से प्रेरणा मिलती थी, जिसमें उन्होंने एक दुनियादार आदमी की काम चलाऊ नैतिकता जोड़ दी है, ईमानदारी और सच्चाई के प्रति शंकालु और सार्वजनिक रूप से किसी भी अप्रिय आदर्श या सिद्धांत के प्रति लगन एवं निष्ठा को वह बड़ी नीची निगाह से देखते थे।' [15]

जज साहब का निर्णय श्रीमती बेसेण्ट के अनुमानानुसार अपने बच्चों के सरक्षण से वंचित कर देना हुआ। इस निर्णय के प्रभावस्वरूप श्रीमती बेसेण्ट के ऊपर मानसिक आघात हुआ । उनका स्वास्थ्य गिरने लगा परन्तु फिर भी उन्होंने इस फैसले के विरुद्ध अपील की। सन् 1879 में ही अपील न्यायालय ने बच्चों को अपने पिता के पास रखने के अटल अधिकार को उचित ठहराया लेकिन साथ साथ यह भी अधिकार दिया कि

श्रीमती बेसेण्ट अपने बच्चो से मिल सकती थीं। श्रीमती बेसेण्ट ने विवाहिता माताओं को अपने बच्चों के अधिकार की अवहेलना को कलक और महान गल्ती बताया। यद्यपि इस अधिकार को बाद में ससद मे ठीक कर दिया गया।

इधर घरेलू दुर्घटनाओं से जूझने के कारण श्रीमती बेसेण्ट का स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरता जा रहा था। जब उनका स्वास्थ्य कुछ ठीक हुआ तब वह पुन 'स्वतत्र-विचार' प्रकाशनों और डिज़रैली सरकार की नीतियों के विरुद्ध सघर्ष मे जुट गयी। 1878 मे उन्होंने एक ऐसी पुस्तक लिखी जिसे आम तौर पर लोग इतना नहीं जानते हैं जितना जानना चाहिए। इस पुस्तक का नाम था 'इग्लैंड, भारत और अफगानिस्तान'। इस पुस्तक में इन्होने भारत के लिए 'होम रूल' के पक्ष मे और साम्राज्यवादी प्रसार के विरोध में विचार लिखे थे।

इन्हीं दिनों श्रीमती बेसेण्ट ने 'नेशनल रिफार्मर' के लोकप्रिय वैज्ञानिक लेखों के प्रसिद्ध लेखक डॉ0 ऐवलिंग के सहयोग से विज्ञान का गहन अध्ययन शुरू किया। विज्ञान की छात्र की हैसियत से यह लंदन विश्वविद्यालय मे भरती हो गयीं इन्होंने बीजगणित, ज्यामिति और भौतिकी का भी अध्ययन किया। बाद मे विज्ञान शिक्षक की योग्यता भी हासिल की। लंदन विश्वविद्यालय की बी0एस0सी0 परीक्षा भी दी और आनर्स की उपाधि प्राप्त की। इनके कुछ विरोधियों ने कोशिशें भी की कि वह विश्वविद्यालय मे अध्ययन न करे। उन्हें रीजेन्ट पार्क के वनस्पति उद्यान में प्रवेश करने से रोका गया। इन तमाम परेशानियों के बावजूद इन्होंने श्री अर्बर्ट बरोज के साथ मिलकर भूमि कानून सुधार पर लंदन में एक सम्मेलन की व्यवस्था की।

इन्हीं तमाम कार्यो और हलचलों के बीच श्री ब्रेडला का संसदीय संघर्ष शुरू हो गया जो काफी साल तक चला। ब्रेडला के संसद सदस्य निर्वाचित होने पर उन्हे संसद में बैठने से रोकने की कोशिश की गयी। जब वह कामन सभा में गए तो उन्होंने प्रार्थना की कि उन्हें शपथ की बजाय गम्भीर अभिवचन करने दिया जाये। इस प्रश्न

पर विचार करने के लिए समिति नियुक्त की गयी और सदन के 'बार' मे उनकी सुनवाई हुई। वहॉ पर श्री ब्रेडला ने जो भाषण दिया वह श्रीमती एनी बेसेण्ट के शब्दों मे इतना सयत, उत्कृष्ट और सम्मान जनक था कि सदन ने चिल्लाकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। परन्तु सदन ने उन्हे अभिवचन करने की अनुमति नहीं दी। श्री ब्रेडला ने इस आदेश को आदर पूर्वक मानने से अस्वीकार कर दिया। श्री ब्रेडला को सदन से बाहर निकाल दिया गया। इस घटना के सम्बंध मे श्रीमती बेसेण्ट ने एक पैम्फलेट लिखा जिसका शीर्षक था' ला मेकर्स एण्ड ला ब्रेकर्स'। यह पैम्पलेट काफी संख्या मे वितरित किए गये। एक सप्ताह के अन्दर लगभग 200 सभाए हुईं जिसमें श्री ब्रेडला के प्रति किए गये व्यवहार के प्रति विरोध एवं रोष प्रकट किया गया। बाद मे सदन ने तो अपना निर्णय वापिस ले लिया लेकिन टोरियो और कट्टर पंथियों ने इस मामले को अदालतों तक पहुँचा दिया। फलत अपील न्यायालय ने श्री ब्रेडला के विरुद्ध फैसला दिया और उनके चुनाव को रद्द कर दिया गया। श्री ब्रेडला चुनाव होने पर पुन निर्वाचित हो गए। श्री ब्रेडला ने निश्चय किया कि वह अपने अधिकारों पर दृढतापूर्वक अमल करने के लिए सदन के सम्मुख जाएंगे। सदन के चारों ओर पुलिस का कड़ा पहरा लगा दिया गया। बड़े फाटक बद कर दिए गये।. देश भर मे जगह - जगह बड़ी बड़ी सभाएं की गयीं जिसमें इंग्लैण्ड और स्काटलैंडसे आए प्रतिनिधियों ने भाग लिया। 3 अगस्त 1880 के दिन श्री ब्रेडला श्रीमती बेसेण्ट के साथ कामन सभा में प्रवेश के लिए बढे। श्रीमती बेसेण्ट को श्री ब्रेडला ने यह आदेश दिया कि कुछ भी क्यो न हो जाए परन्तु कोई भी हिंसात्मक कार्य नहीं करेगा। काफी साल बाद इसी प्रकार का आदेश श्रीमती बेसेण्ट ने भारत में असहयोग आदोलन के सम्बध में दोहराया था। ब्रेडला जब सदन में चले गए बाहर एकत्रित भीड़ ने फाटक तोड़कर सदन में न्याय के लिए घुसने का असफल प्रयास किया। जब पुलिस इस बढ़ती हुई भीड़ को रोकने के लिए फाटक पर मुस्तैदी से डट गयी तो श्रीमती बेसेण्ट पुलिस और क्रुद्ध भीड़ दोनों के बीच में आई और भीड़ से निवेदन किया कि वह रुक जाए। लोग पीछे हट गए। सदन में ब्रेडला के पहुँचने पर सदन के अध्यक्ष महोदय ने दस आदमियों द्वारा उन्हें सदन से बाहर कर दिया। श्री ब्रेडला को काफी चोट आयी। लेकिन फिर

भी वह अपने अनुयायियो से अपील करते रहे कि वे दगा फसाद न करे। देश भर मे आदोलन चलता रहा। ढाई लाख हस्ताक्षर से युक्त एक याचिका सदन के सम्मुख पेश की गयी। श्रीमती बेसेण्ट ने श्री ब्रेडला के साहस की प्रशसा करते हुए लिखा था कि श्री ब्रेडला एक ऐसे आदमी थे जो अपने ऊपर इतना बडा अन्याय होने से एक महान सिद्धान्त के अवतार बन गए थे। इस आन्दोलन की उग्रता बढ़ती गयी और श्री ब्रेडला अगले आम चुनाव मे पुन ससद सदस्य निर्वाचित हो गए। उन्होंने वहाॅ एक 'शपथ विधेयक' पेश और उसे पारित भी कराया जिसने सदस्यों को केवल अभिवचन का ही अधिकार नहीं दिलाया, बल्कि स्वतंत्र विचारको को अदालतों में जूरी बनने और गवाही देने का भी अधिकारी बना दिया।

जब यह संघर्ष समाप्त हुआ तब श्रीमती बेसेण्ट ने आयरलैण्ड मे 'बल प्रयोग कानून' और किसानों की बेदखली के विरुद्ध लड़ाई शुरू की। दूर वासी जमीदारो के चंगुल में फॅसे किसानों की दुर्दशा पर उन्होंने लम्बे लम्बे बहुत से लेख लिखे। इस समय तक श्री ब्रेडला और श्रीमती बेसेण्ट दोनों की प्रसिद्धि यूरोप महाद्वीप तक पहुँच चुकी थी। ऐम्सटर्डम में हुए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और वेनिस मे हुई एक अन्य सभा ने श्रीमती बेसेण्ट के मन में समाजवाद के प्रति दिलचप्पी पैदा कर दी। वह श्री हिन्डमैन से मिलीं, जिन्हे उन्होंने समाजवाद का सबसे अधिक आत्म त्यागी समर्थक बताया। आश्चर्य की बात है कि शुरू के समाजवादी लोग श्री ब्रेडला के सख्त विरोधी थे और श्री हिम्डमैन ने ही उनमें मेल कराया था। उन्हीं दिनों श्रीमती बेसेण्ट जार्ज बर्नार्ड शा से भी मिली, जिनके बारे में उनका कहना था कि समाजवादी लेखकों में वह सबसे अधिक तेजस्वी हैं और अत्यंत उत्तेजक व्यक्ति है। सन् 1947 में प्रकाशित 'एनी बेसेण्ट सेन्टीनरी बुक' में अपने एक लेख में बर्नार्ड ने श्रीमती बेसेण्ट के व्यक्तित्व को इन शब्दों में टिप्पणी की-

'श्रीमती बेसेण्ट किसी भी प्रश्न पर तुरंत निर्णय लेने वाली महिला थीं। अंतिम रूप से अपने को पहचान पाने से पहले वह बहुत से आन्दोलनों और संस्थाओं के

नमूने देख चुकी थीं, उनके ये परिवर्तन क्रमिक नहीं थे वह किसी नए आन्दोलन में हमेशा उछाल मार कर जाती थीं।'

बर्नार्ड शा के कथनानुसार जिस समय श्रीमती बेसेण्ट ने समाजवाद मे प्रवेश किया था, उस समय वह इग्लैण्ड मे, और हो सकता है यूरोप मे, सर्वश्रेष्ठ वक्ता थीं, और वह कहते हैं कि, उन्होने कभी उनसे अच्छे बोलने वाले को नहीं सुना है, तब तक किसी ने उनका मुकाबला नहीं किया था।

अब धीरे-धीरे उन्होंने समाज सुधार के कामों मे अपने को व्यस्त रखना शुरू किया। साधारण लोगों की सामाजिक दशा सुधारने की ओर ध्यान किया। सामाजिक सुधार के काम का श्रीगणेश सर जॉन लबक के उस बिल के विरोध मे हुआ, जिसमे युवक कर्मचारियों के लिए काम का बारह घंटों का दिन निश्चित किया गया था। उन्होंने स्कूल बोर्ड के बच्चों को नि शुल्क भोजन देने की भी माग की जिस पर श्री डब्लू0 पी0 बाल से काफी वाद-विवाद चला। राजनीतिक शक्ति के पुनर्वितरण, समाज के विकास और आधुनिक समाजवाद पर कई लेखमालाएं प्रकाशित कीं। उन्होंने व्यक्तिगत अध्ययन करके एडिनबरा की गंदी बस्तियों का भी अपने लेखों मे वर्णन किया। उन्होंने गरीबों के दु.खदर्दो की पुकार उन लोगों के कानों तक पहुँचाई जो न तो उनके लिए सोचते हैं और न ही परवाह करते हैं।

उन्होंने गंदी बस्तियों के नारकीय जीवन तथा शहरों की सुंदरता को देख इनके बीच स्थित भयानक अंतर पर क्षोभ प्रकट किया। आदमियों और आदमियों के बीच इतना भयानक अंतर, इतने स्पष्ट एवं तीव्र रूप में उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था। अविलम्बता का दबाव लिए हुए यह प्रश्न उनके कानों में गूँजने लगा। उन्होंने सोचा- 'क्या इसका कोई इलाज नहीं है?[16] क्या अमीर और गरीब हमेशा ही होने चाहिए?' कुछ लोगों का जवाब था ऐसा ही होना चाहिए, महल और झोपड़ियाँ सदा वैसे ही रहेंगी जैसे प्रकाश के साथ छाया रहती है। परन्तु श्रीमती बेसेण्ट का उत्तर था- 'नहीं, मैं

ऐसा विश्वास नहीं करती। मेरा विश्वास है कि गरीबी अज्ञान तथा गलत और खराब सामाजिक व्यवस्थाओ का परिणाम है और इसलिए ज्ञान 'और सामाजिक परिवर्तन द्वारा इसे दूर किया जा सकता है।'[17] इस सम्बन्ध में उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य था सरकारी विभाग मे मजदूरो के काम के घंटे निश्चित करना। इन दिनों स्कूल बोर्ड में सार्वजनिक कार्यो के सार्वजनिक ठेको मे पुराने मन्चेस्टरी सिद्धात पर अमल होता था। सरकारी विभाग स्वय अपनी मर्जी के अनुसार अथवा किसी की मार्फत मजदूरों को काम पर रखते थे, और उनसे बड़ी बडी देर तक काम कराते थे तथा वेतन बहुत कम देते थे। जिस कारखानो से इन विभागो के अधिकारी माल खरीदते थे वहाँ काम करने की हालतें भी बहुत खराब थीं । श्रीमती बेसेण्ट ने इस प्रकार के सभी गलत व्यवहारों की जड़ पर चोट की और लदन स्कूल बोर्ड को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह अपने ठेकों की शर्तो में यह धारा जोड दे कि उनका जितना भी सामान पैदा किया जायेगा उसके उत्पादन मे वेतन दरों और काम के घंटों में मजदूर यूनियनों की शर्तो का पूरा पूरा पालन किया जाएगा। इसा प्रस्ताव का प्रभाव सम्पूर्ण मजदूर जगत में बिजली की तरह फैल गया। यद्यपि इस आंदोलन को आशानुरूप सफलता नहीं मिली, फिर भी सरकार और देश की सभी बड़ी यूनिसिपेल्टियों ने वेतन की एक मानक दर तथा काम के एक मानक समय को स्वीकार कर लिया।

श्रीमती बेसेण्ट सन् 1885 में फेबियन सोसायटी में शामिल हो गयी और उसकी ओर से जगह जगह भाषण देती थीं। इस भाषण अभियान में सिडनी लेब, जार्ज बर्नार्ड शा, श्री और श्रीमती ब्लैण्ड और ग्रैहम वल्लास उनके विशेष सहयोगी थी। ये लोग कर्मचारियों के क्लबों में राजनीतिक सुधारों की अपेक्षा सामाजिक सुधारों की ओर ध्यान और शक्ति मोड़ने से सम्बंधित भाषण देते तथा अर्थशास्त्र के विचारों का प्रचार-प्रसार करते थे। श्रीमती एनी बेसेण्ट के शब्दों में:

'आज लंदन के मजदूर वर्ग में समाजवाद की ओर जो इतना रुझान है, काफी हद तक उसका श्रेय वर्षो तक उनके बीच फेबियन सोसायटी के सदस्यों द्वारा की गयी

मेहनत और विशेषत श्री विलियम मारिस की पवित्र, उदार और अद्भुत प्रतिभा को है।'[18]

इसी वर्ष श्रीमती बेसेण्ट ने रूसी राजनीतिक बंदियों के कष्टों की ओर ध्यान आकर्षित किया। सन् 1895 मे लदन में उनके घर पर रूप से निष्कासित लोगों की सहायतार्थ एक संस्था 'सोसायटी ऑफ फ्रैन्ड्स ऑफ रशिया' बनाने के लिए एक सभा हुई। सभा में क्रोपाटकिन और स्टेप्नियाक भी उपस्थित थे। कुछ समय बाद डॉ0 स्पेन्स वैट्सन के नेतृत्व में इसी सोसायटी से एक नई संस्था का उदय हुआ। जिसका नाम था 'सोसायटी ऑफ फ्रेन्ड्स ऑफ रशियन फ्रीडम'। अंत में जब रूसी जनता अपने लक्ष्य के बिल्कुल निकट पहुँच गयी तो अन्य बहुत से ब्रिटिश समाजवादियों की तरह श्रीमती बेसेण्ट ने भी विजय के नारे लगाए और उन्होंने आशा व्यक्त की कि जब आयरलैण्ड तथा भारत राष्ट्रों के रूप मे विश्व के अन्य राष्ट्रों के साथ अपना स्थान ग्रहण करेंगे, तब भी वह विजय मनायेगी क्योंकि उनका स्वातंत्र्य युद्ध विश्वव्यापी रहा है। उन्होंने खुलकर आह्वान किया कि स्वतंत्रता किसी एक जाति तक सीमित नहीं की जा सकती।

श्रीमती बेसेण्ट ने समाजवादी प्रवक्ताओं के सार्वजनिक भाषणों पर पुलिस अधिकारियों के विरोध के लिए विशुद्ध संघर्ष किया और बाद में धीरे धीरे जनमत में परिवर्तन आ गया। सन् 1888 मे श्रीमती स्वयं स्कूल बोर्ड के लिए चुन ली गयी। इतिहास में पहली बार, प्रचलित व्यवसाय प्रणाली, और राष्ट्रीय धन के समाज के लाभार्थ उपयोग पर विचार करने के लिए एक बहुत बड़ा सम्मेलन आयोजित किया गया। एडवर्ड कार्पेन्टर, विलियम मारिस, सिडनी वेब और जॉन, राबर्ट्स ऐसे लोगों ने इस संघर्ष में भाग लिया । जैसा स्वतत्र विचार आंदोलन के समय हुआ था, वैसा ही समाजवाद के बारे में भी श्रीमती बेसेण्ट की कड़ी आलोचना की गयी । उन्हें स्त्री के रूप में सैन्टएथनेजस* कहा गया।

---

* सेन्ट एथनेजस चौथी शताब्दी में सिकन्द्रिया के मठाधीश पादरी और एक महत्वपूर्ण सिद्धांत शास्त्री थे। इन्होंने बाइबिल से भिन्न तत्कालीन ऐरयनवादी सृष्टिसिद्धांत का डटकर विरोध किया था और इन्हें पाँच बार देश निकाला दिया गया था। अंत में यह भागकर रोम गए और पोप ने इनकी मदद की। वहीं इन्होंने कैथोलिक सिद्धांतों को एक संगीतपूर्ण रूप देकर पूरे मत का प्रतिपादन किया।

सन् 1887 में श्रीमती बेसेण्ट मे बेरोजगारी के विरुद्ध और काम करने के लिए आठ घंटे के दिन की माग के पक्ष मे जोरदार आदोलन चलाए और इन आंदोलनों में वह तब तक जुटी रहीं जब तक अपने जीवन के एक अन्य मानसिक सकट से उन्हें सामना नहीं करना पडा।

कुछ समय बाद उन्होंने जिन सिद्धातो का प्रचार-प्रसार किया, उन सबके पूर्व सकेत रूप मे उन्होंने एक 'चारिंग क्रास पार्लियामेट' शुरू की जिसमे समाजवादी बहसें होती थीं। इसी बीच 'नेशनल रिफ्कार्यर' पत्र के लए एक कठिन समस्या पैदा हो गयी, उसकी सह सम्पादिका होने के साथ-साथ उसके स्वामित्व में भी इनका साझा था। पत्र की नीति अब विभाजित हो गयी थी। समाजवाद के प्रश्न पर पत्र की सम्पादकीय नीति दोहरी हो गयी थी। अत अपनी जगह कायम रहने के बजाय उन्होंने सम्पादकीय पद से 23 अप्रैल 1888 को त्यागपत्र दे दिया। पत्र से उनके सम्बध विच्छेद करने पर श्री चार्ल्स ब्रैडला ने हार्दिक दु ख प्रकट किया क्योंकि आखिर उन्होंने 'स्वतंत्र विचार' और उग्र आदर्शो के लिए बहुत बड़ी सेवा की थी। इस सम्बध विच्छेद के लिए श्रीमती बेसेण्ट ने कहा- जिस सम्बंध या दोस्ती के लिए तेरह वर्ष पूर्व उन्हें एक बहुत भारी कीमत चुकानी पडी थी, उसका यह टूटना ऐसा था जैसे किसी ने बड़ी जोर से रिंच घुमाकर मरोड़ दिया हो। इसके बाद वह पूरी तौर से समाजवाद के काम में जुट गयीं। बाद में धीरे धीरे ब्रैडला से भी उनके सम्बंध टूट गए जब इनके सम्बंध श्री ब्रैडला से कम होने लगे तथा उदारपंथी, जो अभी तक इनसे दूर रहते थे, इनके निकट आने लगे और श्रीमती बेसेण्ट ने देखा कि जनमत बड़ी तेजी से उनकी तरफ मुड़ रहा है। यह जन समूह चाहता था कि वह ब्रैडला से जितनी जल्दी अलग हो जायेगी उतना ही उनका मार्ग अधिक साफ और यात्रा अधिक सरल हो जाएगी। अतः अब श्रीमती बेसेण्ट ने श्री ब्रैडला के साथ सार्वजनिक सभाओं मे जाना छोड़ दिया।

श्रीमती एनी बेसेण्ट के नेतृत्व में बेरोजगार लोगों के जुलूस निकलने लगे। पुलिस की सख्ती के कारण कई जगह दंगे भी हुए और तब ट्रैफालगर स्क्वायर बंद

कर दिया गया। श्रीमती बेसेण्ट ने स्क्वायर तक एक जुलूस ले जाने का निश्चय किया और पुलिस द्वारा रोके जाने पर औपचारिक रूप से अपना विरोध प्रकट करने के बाद जुलूस भंग हो गया। इसके बाद जुलूस ज्यो ही फिर चला पुलिस डंडे उठाए हुए उसकी ओर दौड़ी। श्रीमती एनी बेसेण्ट , कनिंघम ग्रैहम और जानबर्न्स जो बाद में सरकार के मत्री भी हुए पर हमला किया गया। कई लोग घायल हो गए जैसा कि श्रीमती बेसेण्ट ने कहा है- 'शांतिप्रिय , कानून पसंद कर्मचारियों का, जिन्होंने दगा करने का कभी स्वप्न भी नहीं देखा था, टांगें टूट गयी, हाथ टूट गया और उन्हे तरह तरह की अन्य चोटे आईं।'[19]

इतना होने पर भी जनता का असन्तोष बढ़ता गया और जब तक नीति में परिवर्तन नहीं हुआ, तब तक जनता द्वारा पुलिस का बहिष्कार चलता रहा।

सन् 1888 तक श्री स्टेड और श्रीमती बेसेण्ट काफी निकट के मित्र हो गए थे। श्री स्टेड ईसाई थे और वह थी नास्तिक, लेकिन दोनों के दिल मानव के प्रति प्रेम और दमन के विरुद्ध घृणा केलिए समान रूप से, खौल रहे थे। श्री स्टेड समाचार पत्र 'पाल माल गजट' के सम्पादक थे और उनके तथा रेवरेंड एस0डी0 हेडेलाम के प्रभाव के कारण श्रीमती बेसेण्ट ने एक नई संस्था 'ब्रदर हुड' स्थापित करने के पक्ष में लेख लिखे, जिसमें ईश्वर की सेवा के बजाए मानव की सेवा को महत्व दिया गया। इन कार्यो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीमती एनी बेसेण्ट अचेतन रूप से अपने जीवन की एक अगली अवस्था की ओर अग्रसर हो रही थीं। अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए उन्होंने 'लिंक' नामक साप्ताहिक पत्र निकालने की योजना बनाई। उसका आदर्श था· 'लोग मौन हैं। मैं मौन लोगों की वकालत करूंगी। मैं गूँगों के लिए बोलूँगी। मैं बड़ों से छोटों की और शक्तिशाली से दुर्बलों की बात कहूँगी।'[20] हर सप्ताह गरीब दुखिया लोगों द्वारा भोगे अन्यायों को पत्र द्वारा प्रचारित किया जाता। श्रमिकों के शोषण का भंडाफोड़ किया जाता। गरीब जनता के लिए चलाए गये इस जिहाद के दौरान में श्रीमती एनी बेसेण्ट ने गोदी कर्मचारियों के लिए काम किया बच्चों को मुफ्त भोजन दिलाने तथा गंदी बस्तियों

मे 'शहीद' होने वाले बच्चो के लिए बहुत काम किए। फेबियन सोसायटी की एक सभा मे कुमारी ब्लैक ने उपभोक्ताओं का सगठन बनाने के सम्बध मे प्रभावशाली भाषण दिया। अनुचित वेतन तथा मजदूरों के वेतन से गैर कानूनी कटौतियो का विरोध किया। दिया-सलाई कर्मचारियों की एक यूनियन बनाई गयी और श्रीमती बेसेण्ट, सिडनी वेब और अन्य लोग दियासलाई कर्मचारियों का जुलूस कामन सभा ले गए। 'लदन व्यापार परिषद्' इस मामले में पंच होने पर राजी हो गयी। अनेक वर्ष तक श्रीमती बेसेण्ट इस यूनियन की सचिव रहीं। बहुत सालों तक यह यूनियन इग्लैण्ड की तमाम महिला यूनियनो में सबसे मजबूत रही। इसी तरह का महिलाओं का क्लब लगभग 2 वर्ष बाद मैडम ब्लावेट्स्की ने लंदन में महिला कर्मचारियों के लिए स्थापित किया।

इन तमाम सामाजिक कार्यो को करने पर भी श्रीमती एनी बेसेण्ट को आतरिक सतोष नहीं मिला। उनके मानसिक दृष्टिकोण एवं मनोवैज्ञानिक उपागम में एक जबर्दस्त परिवर्तन आ गया। सन् 1886 से वह लगातार अनुभव कर रही थीं कि उनका दर्शन पर्याप्त नहीं है। इस समय मनोवैज्ञानिक तेजी से आगे बढ रहा था, सम्मोहन के प्रयोगों से मानवीय चेतना की ऐसी ऐसी गुत्थियॉ प्रकाश में आ रही थीं जिनकी कभी किसी ने कोई खोज नहीं की थी। सबसे आश्चर्यजनक खोज थी मानसिक क्रियाओं की स्पष्ट तीव्रगति, जबकि मस्तिष्क की दशा, जिसे वास्तव मे विचारों का चालक होना चाहिए, पूर्णत· निश्चेतन हो गयी। श्रीमती बेसेण्ट ने चेतना के अनेक अस्पष्ट पक्षों, स्वप्न, भ्रांति , भ्रम तथा पागलपन का अध्ययन किया। अंतत अंधकार मे उन्हें आशा की एक किरण दिखाई दी- ए0पी0 सिनेट की पुस्तक 'ओकल्ट वर्ल्ड' (गुह्य जगत)। जिसमें न केवल अतिप्राकृतिक घटनाओं का बल्कि नियमों पर आधारित प्रकृति का प्रतिपादन किया गया था। अनुभव मे आने वाली घटनाओं को असन्दिग्ध लेकिन उसकी आध्यात्मिक व्याख्या को अविश्वसनीय मानकर श्रीमती बेसेण्ट ने स्वयं निजी तौर पर प्रयोग किए। अर्थात् अब उन्होंने अपने अध्ययन मे अध्यात्मवाद को भी शामिल कर लिया अध्ययन के परिणाम स्वरूप उन्हेंाने पाया कि अतीन्द्रिय दृष्टि, अतीन्द्रिय श्रवण, परिचित ज्ञान ये सभी घटनाएं वास्तविक हैं। अब वह निश्चित हो गयी कि प्रकृति के परे कोई न कोई छिपी चीज या छिपी शक्ति है अवश्य।

अत इस शक्ति का पता लगाने का दृढ़ निश्चय कर कड़े से कड़े खतरे का सामना करने को तैयार हो गयीं। अत मे, एक दिन सूर्यास्त के बाद जीवन और मन की पहेली हल करने के उद्देश्य से श्रीमती बेसेण्ट निराशापूर्ण उत्सुकतायुक्त अकेली बैठी चिन्तन कर रही थीं। कि अचानक उन्हे एक ऐसी मधुर आवाज सुनाई दी जो बाद मे उनके लिए इस पृथ्वी पर सबसे पवित्र आवाज हुई, इस आवाज ने उन्हे आदेश दिया कि वह साहस से काम लें क्योंकि उन्हे शीघ्र ही प्रकाश मिलने वाला है। एक पखवारा बीतने पर एक दिन श्री स्टेड ने इन्हे दो बड़े बड़े ग्रंथ दिए और उनसे उन ग्रंथों की समालोचना करने को कहा। श्री स्टेड ने बताया कि यह ग्रंथ उनके लिए उपयोगी हो सकते है क्योंकि वह इन विषयों के प्रति विशेष दीवानी रहती हैं। पुस्तक का अवलोकन करने पर देखा कि वे एच0पी0 ब्लैवट्स्की द्वारा रचित 'द सीक्रेट डाक्ट्रीन' के दो खण्ड थे। पुस्तक को पढ़ने पर उन्हे कैसा लगा इसका वर्णन उनकी आत्मकथा में इस प्रकार वर्णित है -

'मै ज्यों-ज्यों उसे पढती गयी, त्यों-त्यो उसमें मेरी दिलचस्पी गहरी होती गयी, लेकिन वह कितनी परिचित सी लगती थी, पहले से ही उसके निष्कर्ष जान लेने के लिए मेरा मन कैसी छलांगें मार रहा था, वह कितनी स्वाभाविक थी, उसमे कैसी संगति थी, कैसी सम्बद्धता थी, कितनी सूक्ष्म लेकिन फिर भी कितनी बुद्धिगम्य थी। मेरी आंखों को एकदम चकाचौंध कर देने वाले उसके प्रकाश में विभिन्न अलग अलग तथ्य ऐसे दिख रहे थे जैसे वे सब किसी एक विशाल 'पूर्ण' के अंग हो, और मुझे ऐसा लगा कि मेरी तमाम पहेलियों, समस्याओं, जटिल से जटिल प्रश्नों का अंत हो गया।'[21]

इस पुस्तक को पढ़ने पर उन्हे महसूस हुआ कि जिस 'सत्य' की वह अब तक खोज कर रही थी वह असली सत्य उन्होंने पा लिया। श्रीमती बेसेण्ट ने पुस्तक की समालोचना लिख कर देने के बाद श्री स्टेड से कहा कि वह लेखिका से उनका परिचय करा दें। 10 फरवरी 1889 को श्रीमती एनी बेसेण्ट मैडम ब्लावेट्स्की के यहाँ गयी। श्रीमती बेसेण्ट को देखकर मैडम ब्लावेट्स्की ने प्रभावशाली लेकिन कंपकपाती

आवाज मे कहा, 'मेरी प्रिय श्रीमती बेसेण्ट, मै इतने दिनो से तुमसे मिलना चाहती थी, और मै, उनके हाथों मे अपना हाथ पकडाए और इस जीवन मे प्रथम बार उनके दर्शन करते हुए सीधे एच0पी0बी0 की आखो मे ऑखे डाले हुए खडी थीं।' [22]

अब श्रीमती एनी बेसेण्ट के मन मे थियोसाफिकल सोसायटी , के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ साथ ही अपने पूर्व के कार्यो की सफलता को देखकर यह भी विचार आया कि क्या वह भौतिकवाद से मुह मोड़कर अपने को एक नए संघर्ष के बवडर में झोक दे तथा दूसरो के उपहास का पात्र बनें। क्या वह उन सभी मित्रों को छोड़ दें जिन्होंने सामाजिक बहिष्कार की तमाम कठोरताए सहकर उनके प्रति प्रेम व निष्ठा दिखाई? अत मे श्रीमती बेसेण्ट थियोसाफिकल सोसायटी के बारे में पूँछतांछ करने के लिए लैन्सडाउन रोड गयी। एच0पी0 ब्लैवट्स्की ने श्रीमती बेसेण्ट को देखकर कहा, 'तुमने सोसायटी फॉर साइफिकल रिसर्च की मेरे बारे में रिपोर्ट देखी है?' श्रीमती बेसेण्ट का नकारात्मक प्रत्युत्तर सुनकर मैडेम ब्लावैट्स्की ने उसे पढ़ कर आने के लिए कहा।

श्रीमती बेसेण्ट ने उसकी एक प्रति माग कर पढ़ी और फिर उसे दुहराया भी। शीघ्र ही उन्होंने जान लिया कि बहुत कमजोर बुनियाद पर इतनी बड़ी इमारत खड़ी की गयी थी। मैडम ब्लैवट्स्की और उनके साथियों के विरुद्ध जो भी आरोप लगाए गये हैं वे सब कूलाम बंधुओ की सच्चाई पर निर्भर करते थे, जो कि स्वयं तथाकथित जाल साजियों में साझीदार थे। मैंडम ब्लावेट्स्की की प्रथम झलक में जो कुछ श्रीमती बेसेण्ट ने देखा और जो कुछ इस रिपोर्ट में पढ़ा , इन दोनों में विपरीत साहचर्य देखने पर श्रीमती एनी बेसेण्ट ने रिपोर्ट को एक पवित्र घृणा के साथ दूर फेंक दिया जैसा कि कोई भी ईमानदार व्यक्ति करता जो अपनों को मिलते ही पहचान जाता है और झूठ की नीचता और गंदगी से बचने की कोशिश करता है। अगले दिन श्रीमती बेसेण्ट 7-ड्यूक स्ट्रीट, ऐडेल्फी में स्थित थियोसोफिकल पब्लिशिंग कम्पनी के कार्यालय गई जहाँ मैडम ब्लैवट्स्की की सबसे नई मित्र काउन्टेस वाच्टमीस्टर काम कर रही थीं। वहाँ पहुँचकर श्रीमती एनी बेसेण्ट ने थियोसोफिकल सोसायटी की फेलो के रूप में प्रार्थनापत्र पर हस्ताक्षर कर अपने

जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ किया। यह वह अध्याय था जो जीवन के साथ समाप्त हुआ।

मैडम ब्लावैट्स्की के साथ इनका सम्बध गुरू -शिष्य का था और इन पर श्रीमती बेसेण्ट की निष्ठा कभी डिगी नहीं, जब तक मैडम ब्लावैट्स्की जीवित रहीं उन पर से श्रीमती बेसेण्ट का विश्वास हिला नहीं। एक अत्यत उच्च अत प्रज्ञा के अन्तर्गत उन्हें अपनी निष्ठा अर्पित की। उनके साथ अत्यत निकट रहकर वह बराबर दिन पर दिन उनके प्रति सच्ची साबित होती गयीं।

सनद मिल जाने पर श्रीमती बेसेण्ट लैन्सडाउन रोड गयीं जहाँ एच0पी0वी0 अकेली बैठी थीं। श्रीमती बेसेण्ट ने अपनी संस्कृति के अनुसार उनका अभिवादन किया और उनसे अनुरोध किया कि वह उन्हे अपनी शिष्या स्वीकार करें। मैडम ब्लावैट्स्की का दृढ़ चेहरा नरम पड़ गया और उनकी आखों मे आंसुओं की बिल्कुल अपरिचित चमक फूट पडी, तब उन्होंने राजसी से भी अधिक प्रतिष्ठा के साथ अपना हाथ मेरे सिर पर रख कर स्वीकार किया और कहा, 'तुम एक पवित्र स्त्री हो। ईश्वर तुम्हारा भला करे।'

'द सीक्रेट डाक्ट्रीन' की उनकी समालोचना और थियोसॉफिकल सोसायटी में उनके शामिल होने की सार्वजनिक घोषणा ने केवल धार्मिक वृत्ति वाले ईसाइयों में ही नहीं बल्कि उन लोगों में भी आलोचना का एक तूफान पैदा कर दिया जिनके साथ मिलकर उन्होंने स्वतंत्र विचारों और नास्तिकता के पक्ष में काम किया था। उनके पूर्व के सहयोगी, जिनके साथ इन्होंने लगभग 15 वर्ष तक समाज कार्य किए थे, चार्ल्स ब्रैडला ने श्रीमती बेसेण्ट के थियोसाफिस्ट होने पर अपने उद्‌गार इन शब्दों में व्यक्त किए:

'मुझे और भी अधिक खेद है क्योंकि मैं यह जानता हूँ कि जिस किसी भी रास्ते को श्रीमती बेसेण्ट ठीक और सच्चा मान लेती हैं उसके लिए वह कितनी लगन

और ईमानदारी से काम करती है। मुझे उनके थियोसाफिक विचारों की प्रगति और उनके सम्भव परिणामों के बारे में अत्यत गम्भीर आशंकाएं और अविश्वास है।'

थियोसॉफिस्ट बनने पर श्रीमती बेसेण्ट की चार्ल्स ब्रैडला से वैचारिक साम्यता टूट गयी क्योंकि दोनों के मार्ग नितांत भिन्न थे। एक का मार्ग निरा नास्तिकवादी और दूसरे का आध्यात्मवादी। थियोसॉफिस्ट होने के बाद भी श्रीमती बेसेण्ट सामाजिक व राजनीतिक कार्यो में भग लेती रहीं। पेरिस में एक विशाल मजदूर सम्मेलन मे भाग लेने के बाद उन्होंने लदन में आकर 'मैं थियोसॉफिस्ट क्यों हो गयी?' विषय पर एक सार्वजनिक भाषण दिया जिसे बाद में पुस्तिका के रूप में प्रकाशित भी किया गया। इस पुस्तक का अत इन शब्दों में किया-

'मेरे स्वाभिमान की आवश्यकता मुझे मजबूर करती है कि मैं जो कुछ सत्य समझती हूँ वह कह दूँ, चाहे मेरे इस भाषण से लोग खुश हों या नाखुश, उससे चाहे मुझे प्रशंसा मिले चाहे निन्दा। मेरे चाहे जो मित्र मुझसे अलग हो जाएं, चाहे जो मानवीय सम्बंध टूट जाये, मैं सत्य के प्रति अपनी निष्ठा पर दाग नहीं लगने दूँगी। यह सत्य निष्ठा चाहे मुझे सुनसान जंगल में ले जाकर डाल दे, लेकिन मैं इसका साथ नहीं छोडूँगी, यह चाहे मुझे सारे प्रेम से वंचित कर दे, लेकिन मैं उसी के पीछे-पीछे चलूँगी, यह चाहे मुझे मार भी डाले, फिर भी मैं इस पर विश्वास किए जाऊँगी और अपनी कब्र ऊपर लगे पत्थर पर सिर्फ यही लिखा चाहूँगी, 'इसने सत्य का अनुकरण करने का प्रयत्न किया।'[23]

श्रीमती बेसेण्ट के थियोसॉफिस्ट हो जाने पर बड़ा वाद-विवाद हुआ। कुद गुमनाम मित्रों ने ड़ेढ सौ पौण्ड प्रति वर्ष की सहायता की। इन सब के साथ साथ उन्होंने अपना समाजवादी काम और लंदन स्कूल बोर्ड का काम बराबर जारी रखा।

उन्होंने दक्षिण लन्दन के फर उद्योग के कर्मचारियों की एक यूनियन सगठित की। ट्रामों और बसों में काम करने वालों के काम के घंटे कम कराने का आंदोलन

शुरू किया। रेलो, ट्रामों और बसो मे सफर करते हुए भी वह अपना अध्ययन करती रहती थीं। श्रीमती बेसेण्ट के थियोसॉफिस्ट बनने के बाद भी चार्ल्स ब्रैडला के साथ निकट मित्रता बनी रही। सन् 1890 मे चार्ल्स ब्रैडला राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन मे भाग लेने के लिए भारत आए जहॉं उन्हें बड़े उत्साह से ब्रिटिश संसद में 'भारत के सदस्य ' के नाम से घोषित किया गया।

सन् 1890 में मैडम ब्लैवट्स्की ने पूर्वी लन्दन में काम करने वाली महिलाओं के लिए एक क्लब स्थापित करने का निश्चय किया सौ पौण्ड की दानस्वरूप प्राप्त धन राशि से। उन्होंने स्वय इस क्लब का 15 अगस्त 1890 मे उद्घाटन किया और उसे 'अल्प आय पाने वाले श्रमिकों के कष्ट निवारणार्थ समर्पित किया। इसी वर्ष 'ब्लैवट्स्की-जाल' के नाम से यूरोप मे थियोसाफिकल सोसायटी का प्रधान कार्यालय खोला गया, उसमें बिल्कुल शुरू में काम करने वालों मे बर्टरेम कीटले, काउन्टेस बाच्ट्मीस्टर, जार्जमीड, क्लाड राइट, वाल्टर ओल्ड, एविली किंस्लिंगवरी, आइजावेल, कूपर ओकले, कुमारी कूपर, हर्बट बरोज और श्रीमती बेसेण्ट थे। सन् 1891 में चार्ल्स ब्रैडला का देहान्त हो गया। इस सम्बंध में श्रीमती बेसेण्ट ने 'आत्म-जीवनी मे इस प्रकार लिखा है-

'और इस प्रकार एक तूफान से गुजरकर मुझे शांति मिली, इस बाह्य जीवन के किसी स्थिर सागर की शांति नहीं जिसे कोई भी शक्तिशाली आत्मा नहीं चाहती है, बल्कि एक आतरिक शांति जिसमें इन बाह्य समस्याओं को कोई गड़बड़ी पैदा करने का अवसर ही नहीं मिले- वह शांति जो शाश्वत_में होती है अस्थायी में नहीं, जो जीवन की छिछलाइयों मे नहीं, गहराइयों में होती है। यही वह शांति थी जिसके बल पर मै 1891 की उस भयंकर बसंत को पारकर कई जब कि मृत्यु ने चार्ल्स ब्रैडला पर कुठाराघात कर दिया और एच0पी0 ब्लैवट्स्की के लिए विश्रामगृह के द्वार खोल दिए।'[24]

श्रीमती बेसेण्ट के जीवन में एक के बाद एक कठिनाइयॉं आती गयी और इन कठिनाइयों को शांति की बदौलत सहन करती गयी। हर कठिनाई ने उन्हें मजबूत

बना दिया। हर मुसीबत के प्रहार से उनमे एक नई चमक आती गयी। अब उनके मन मे शंका का स्थान शांत विश्वास ने लिया और व्याकुल भय का मजबूत सुरक्षा ने।

सन् 1890 मे ए0पी0 सिनेट के लदन स्थित निवास स्थान मे श्रीमती बेसेण्ट की सी0डब्ल्यू0 लेडवीटर से भेंट हुई। 1891 में वह ब्लैवट्स्की लॉज की अध्यक्षा बनाई गयीं। कर्नल ओल्काट का लॉज मे स्वागत करते हुए उन्होने इन शब्दों का प्रयोग किया था -

'गुरुओ द्वारा थियोसाफिकल सोसायटी की आजीवन अध्यक्षा चुनी जाने, उनके पैगम्बर एच0पी0 बी0 के निकट सम्पर्क में रहने और आपस में हर सम्भव सम्बंध से बधे होने के कारण, हम न तो कोई ऐसा शब्द बोल सकते है और न कोई ऐसा विचार कर सकते है जिससे उस निष्ठा मे कोई भी वृद्धि हो सके, जिसका अनुभव हर सदस्य को हमारे अध्यक्ष के प्रति होना चाहिए।'

मैडम ब्लैवट्सकी ने कर्नल ओल्काट और डब्लू0 क्यू0 जज के साथ मिलकर 1873 ई0 से अमेरिका में आध्यात्मिक अनुसंधान का कार्य किया था। उन्होंने भारत को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर 1879 में थियोसॉफिकल सोसायटी संगठित की थी। इस सोसायटी के उद्देश्य इस प्रकार थे

(1) विश्व भातृ के लिए उसके आधार की स्थापना

(2) आर्य तथा अन्य पूर्वी साहित्य, धर्मो तथा विज्ञानों के अध्ययन को बढ़ावा देना।

(3) मनुष्य के भीतर छिपी शक्तियों तथा प्रकृति के अज्ञात्त अपरिचित नियमों की छान बीन करना।

'दि सीक्रेट डाक्ट्रीन' मैडम ब्लैवट्स्की द्वारा लिखित वह ग्रथ है जिसमे थियोसॉफिकल सिद्धान्तों की विशद व्याख्या की गयी है। इसी को पढकर श्रीमती बेसेण्ट का मन और हृदय इसकी लेखिका से मिलने के लिए विभोर हो उठा था । पुस्तक का प्रारम्भ मिस्र, फारस, बैबीलोन, चीन, यहूदियों तथा भारतीयों के पवित्र साहित्य से छाट-छांटकर प्राचीन एवं अद्भुत ज्ञान और विद्याओ से किया गया है। इसका मुख्य विषय प्रतीकवाद और ब्रह्माण्ड का विकास है। इस पुस्तक मे दावा किया गया है कि यह विकास 'पूर्व के बुद्धिमानो' कुछ अर्हतो की वशागति और गुणधर्म है और मैडम ब्लैवट्स्की इन्हीं अर्हतों की शिष्या होने का दावा करती थीं। अर्हत प्राचीन रहस्यों के अभिभावक है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे तिब्बत के कुछ मठों मे रहते है, श्रीमती बेसेण्ट ने भी स्वयं दावा किया है कि उन्होंने तिब्बत जाकर कूटहूमि, मौर्य तथा अन्य महात्माओं से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित किया था।

थियोसॉफिकल सोसायटी में डब्लू0क्यू0 जज, ए0पी0 सिनेट और कर्नल ओल्काट ऐसे व्यक्ति थे जिनका दावा था कि वे हिमालय में रहने वाले इन मुनि महात्माओं से बराबर सम्पर्क रखते थे। सी0 डब्लू0 लेडवीटर का कहना था कि उन्हें स्वप्न में तथा चलते फिरते काल्पनिक दृष्टि में और अनेक अन्य गुह्य विधियों से इन महात्माओं तथा उनके उपदेशों का साक्षात्कार हुआ। यद्यपि श्रीमती बेसेण्ट ने 'एलस्योंन' और 'मैन वहेन्स एण्ड हिदर' (मनुष्य , कहाँ से और कहाँ को) नामक पुस्तक के लिखने में श्री लेडबीटर से सहयोग किया था लेकि उन्होने स्वयं अतिबुद्धिमान या सिद्ध होने का दावा कभी नहीं किया और न उन्होंने अति प्राकृतिक ढंग की किसी प्रकट घटना अथवा स्थिति की अपने ऊपर जिम्मेदारी ही ली।

श्रीमती बेसेण्ट ने सन् 1892 में भारतीय थियोसाफिस्टों से सबसे पहली बार वायदा किया कि वह भारत आएंगी। उन दिनों भारत में सोसाइटी के अध्यक्ष संस्थापक कर्नल ओल्काट ही नहीं, बल्कि उसके महासचिव बर्टरम कीटले और श्री एज भी रह रहे थे। सन् 1893 में सोसायटी के उपाध्यक्ष श्री डब्लू0 क्यू0 जज के साथ श्रीमती बेसेण्ट

भी शिकागो धर्म सभा मे सोसायटी का प्रतिनिधित्व करने के लिए नियुक्त की गयी थीं, उस सम्मेलन में श्रीमती बेसेण्ट और प्रोफेसर ज्ञानेन्द्र नाथ चक्रवर्ती दोनों बोले थे। वहाँ श्रीमती बेसेण्ट ने अपनी वक्तृता शक्ति का असाधारण उदाहरण पेश किया था।

भारत में पदार्पण

16 नवम्बर 1893 को दिन के 10 बजकर 24 मिनट पर श्रीमती बेसेण्ट ने भारत की भूमि पर पैर रखते ही झुककर भूमि को अपने सिर से लगाया। फिर कैण्डी दो जगहो पर भाषण देकर अपना भारत भ्रमण प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् ट्यूटीकोरन, बगलौर, बेजवाड़ा और अनेक अन्य स्थानों पर भी भाषण दिए। भाषणों के इस दौर का अंत हुआ अडयार में, जहाँ एक महासम्मेलन में उन्होंने 'द बिल्डिंग ऑफ कासमास' (ब्रह्माण्ड की रचना) पर भाषण दिया। बाद में यही अडयार सोसायटी का प्रधान केन्द्र बन गया। भारत आने पर इन्होंने भारत के जिन क्षेत्रो मे विशेष उल्लेखनीय कार्य किए वे थे - शैक्षिक, सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक। सन् 1894 में इनके भाषणों के मुख्य केन्द्र थे- बनारस, आगरा , लाहौर और बम्बई। भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करने के पश्चात् सन् 1895 में उन्होंने काशी में अपना निवास स्थान बनाया जिसका नाम 'शांति कुंज ' रखा। इनको काशी पृथ्वी पर सबसे प्यारा एवं सुन्दर नगर लगा। उन्होनें भारतीय वस्त्र धारण किए। भारतीय खान-पान एवं रहन सहन को अपनाया। वे पीढ़े पर पद्मासन में बैठती तथा पूजा करती थीं। उन्होंने हिन्दू तीर्थ स्थानों का भ्रमण किया, सस्कृत सीखी तथा हिन्दू धर्म शास्त्रों का अध्ययन किया। उन्होंने गीता का एक उत्कृष्ट अनुवाद किया जिसे गांधी जी दक्षिणी अफ्रीका में और नेहरू जी जेल में पढ़ते थे।

भारत के साथ उनका तादात्म्य संसार के महान आश्चर्यो में से एक है। बौद्धिक रूप से विकसित पाश्चात्य देश की शिक्षित महिला का भारत आना, भारत को अपनी मातृभूमि के रूप में अपनाना, भारत की सारी संस्कृति एवं विचार का मूर्तरूप बनकर हिन्दुओं को हिन्दुत्व तथा भारतीयों को भारतीयता का पाठ पढ़ाना- विश्वइतिहास मे यह एक अनोखी घटना है। पर सबसे आश्चर्य की बात डा0 बेसेण्ट का भारत आगमन

से वर्षो पहले भारतीय होना है। भारत के प्रति उनका पहला वक्तव्य सन् 1875 में मिलता है, जिसमे उन्होंने भारतीय आत्मा की आवाज बनकर ब्रिटिश शासकों के भारत भ्रमण का विरोध भारतीय गरीबी के सन्दर्भ मे किया है। सन् 1879 में तो भारत के साथ उनका पूर्ण तादात्म्य हो गया था। जिसका प्रमाण सन् 1878 में उनके द्वारा लिखित पुस्तक 'इंग्लैण्ड इंडिया तथा अफगानिस्तान' है, जिसमें उन्होंने कठोर शब्दों में भारत में ब्रिटिश शासन की निदा की थी। यह पुस्तक ही वास्तव मे भारतीय सांस्कृतिक जागरण एव स्वतंत्रता सग्राम का प्रारम्भिक रूप है। उनका मानना था कि जो लोग ब्रिटिश द्वारा भारतीयों को सभ्य करने के सिद्धात के समर्थक हैं वे अज्ञानी हैं क्योंकि भारत उस समय विश्व सभ्यता का केन्द्र था जब पाश्चात्य देशों के लोग 'नग्न जंगली के समान आपस में लड़ते थे।' उन्होंने भारत पर ब्रिटिश शासन को सभ्य देश पर असभ्य एवं व्यापारियों का शासन कहा। उन्होंने ब्रिटिश को 'भारत का लुटेरा' कहा। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश अपने 'पाखण्ड का मुखौटा उतार फेंके।' और वह यह स्वीकार करे कि वह अति घृणित लोभ एवं नीच स्वार्थ के लिए भारत पर शासन कर रहा है। अपने इस घृणित कार्य के पश्चातापस्वरूप वह भारत को स्वतंत्रता प्रदान करे, भारतीय को उच्च पदों पर नियुक्त करें। न्यायालयों में भारतीय न्यायाधीश नियुक्त करें। इन भावों व विचारों वाली पुस्तक निश्चित ही भरतीयता का प्रतीक एवं प्रमाण है। व्यक्ति के समान राष्ट्र के जीवन के लिए उन्होंने आत्मा विचार, भावना व शरीर का विकास आवश्यक बताया। उन्होंने धर्म को राष्ट्र की आत्मा, शिक्षा को राष्ट्र का विचार, समाज को राष्ट्र की भावना एवं राजनीति को राष्ट्र का शरीर बताया। और राष्ट्र के निर्माण के लिए इन चारों क्षेत्रों में कार्य किए।

शैक्षिक कार्य

भारत में कदम रखते ही श्रीमती बेसेण्ट ने देश के पुनरुत्थान के लिए परिश्रम करना आरम्भ कर दिया था। उन्होंने देखा कि अंग्रेजों द्वारा जो शिक्षा पद्धति प्रचलित थी वह यहाँ के नवयुवकों को अपनी प्राचीन संस्कृति व धर्म से विमुख बना रही थी और उस शिक्षा की उपयोगिता सिर्फ नौकरी प्राप्त करना मात्र थी। अतः सबसे पहला कार्य जो उन्होंने किया वह था शैक्षिक पुनरुत्थान, विकास.- भारतीय संस्कृति के अनुरूप उन्होंने भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक भ्रमण कर व्याख्यानों द्वारा भारतीयों को

उनके अतीत के गौरवमय धर्म, दर्शन व सस्कृति के प्रति विश्वास व आस्था जगाई। उन्होने भारत के आध्यात्मिक जागरण के लिए 5 वर्षो तक अनवरत एव अथक प्रयास के बाद अनेक भारतीय साथियों के सहयोग तथा सहायता से सन् 1898 मे बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज स्थापित किया। उनका विश्वास था कि भारत में शिक्षा का संचालन भारतीयों के हाथ मे होना चाहिए और इन्हीं लोगों को शैक्षिक संस्थाएं खोलने और चलाने की आर्थिक तथा प्रशासनिक जिम्मेदारियाँ लेनी चाहिए। उनका आग्रह था कि भारतीय शिक्षा का मूल निर्देशक सिद्धात देशभक्ति का दृष्टिकोण होना चाहिए, उसे धर्म के मूल तत्व से भिन्न नहीं होना चाहिए और उसे पाश्चात्य विज्ञान तथा शिल्पमंत्र का अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहिए। इस विषय में उन्होंने कुछ मौलिक मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक विचार विकसित किए थे और उनका आग्रह था कि कम से कम शुल्क लेकर अधिक से अधिक छात्रों की आवश्यकताएं पूरी की जाएं। उनका इस बात पर भी जोर था कि बौद्धिक शारीरिक एवं भावनात्मक विकास के लिए युवक-युवतियाँ को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अवश्य करना चाहिए। सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज में उन्होंने यह नियम रक्खा था कि हाई स्कूल मे विवाहित छात्रों को प्रवेश नहीं दिया जायेगा। इस कॉलेज की शिक्षा का आधार स्तम्भ धर्म था, इसके साथ साथ छात्रों को सामाजिक कार्यो का भी प्रशिक्षण दिया जाता था। इस कॉलेज की स्थापना के कुछ वर्षो बाद उन्होंने मद्रास के नवयुवकों का, अपनी संस्कृति के प्रति आदर करने एवं अपनी सामाजिक समस्याएं सुलझाने के लिए 'भारत जाग्रत हो' शीर्षक व्याख्यानों द्वारा आह्वान किया। भारत की सामाजिक बुराइयो को दूर करने में उन्होंने विशेष रुचि नहीं दिखाई। वह चाहती थीं कि नवयुवक शिक्षित होकर स्वयं अपने समाज की कुरीतियों एवं अंधविश्वासों को दूर करने का बीडा उठाएं।

इसके अतिरिक्त, 'सन्स एण्ड डाटर्स आफ इण्डिया' 'स्काउट्स एण्ड गाइड्स ऑफ आनर' जैसी संस्थायें खोली। इन संस्थाओं के इर्द-गिर्द न केवल भारत के अपितु पश्चिमी देशों के भी बहुत से लोग जमा रहते थे। जिन्हें केवल पारिश्रमिक के बदले या इसके बिना भी शिक्षण कार्य और उनके आदर्शो से प्रेम था। प्रायः इन

सस्था मे हुए वित्तीय घाटों की पूर्ति स्वय श्रीमती बेसेण्ट करती थीं।

उन्होंने शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के अन्दर छिपी शक्तियों को बाहर निकालना तथा उनका परीक्षण करना बताया। अंग्रेजी शिक्षा के सम्बंध में उन्होने घोषणा की कि वह एक किरानी तथा मुन्सिफ बनाने और भारत पर सदा के लिए शासन करने का एक षडयत्र है। यह सिर्फ रोजी-रोटी का साधन मात्र है, जबकि शिक्षा का सम्बंध मनुष्य के स्र्वागीण विकास से है। शिक्षा और जीवन का उद्देश्य एक होना चाहिए। अत अंग्रेजी शिक्षा भारतीय आध्यात्मिकता एव राष्ट्रीयता की पोषक नहीं शोषक हैं। यह शिक्षा अपूर्ण है, क्योंकि वह मुनष्य का सर्वांगीण विकास नहीं करती। इतिहास और भूगोल भारत का नहीं यूरोप का पढ़ाती है तथा यूरोपीय महापुरुषों का अनुकरण करने की शिक्षा देती है। और इस तरह पूर्ण रूप से भारतीयों का पाश्चात्यीकरण करने का साधन है।

तत्कालीन शिक्षा की इन कमियों को दूर करने के लिए श्रीमती बेसेण्ट ने भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली पर जोर दिया। उन्होंने पूरे देश के विभिन्न वर्गो के लिए एक वृहत शिक्षा प्रणाली तैयार की तथा उसका पाठ्यक्रम बनाया। महिला तथा हरिजनों की शिक्षा पर विशेष जोर दिया। क्योंकि वह समझती थी कि महिलाएं ही यहॉ की संस्कृति की कुशल संवाहक हैं। उन्हेंाने यहॉ की महिलाओं को भारतीय महिलाओं के आदर्श चरित्र के अनुकरण पर विशेष बल दिया न कि पाश्चात्य संस्कृति व आदर्श का। उनके अनुसार मनुष्य के सर्वांगीण विकास से तात्पर्य मनुष्य के जीवन के चार भागो- आत्मा, विचार, भावना एवं शरीर के विकास से है। अर्थात् आत्मा का विकास आध्यात्मिक ज्ञान से, विचार का बौद्धिक ज्ञान से, भावना का विकास संवेगात्मक ज्ञान से तथा शरीर का विकास शारीरिक क्रिया कलापों से किया जाए।

राष्ट्रीय शिक्षा के विकास हेतु उन्होंने लगभग 40 विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालय की स्थापना की जहॉ पर उनके सिद्धान्तों एवं आदर्शो के अनुरूप

शिक्षा दी जाती थी। वे समय समय पर सेट्रल हिन्दू कॉलेज के छात्रों को , श्रीरामचन्द्र तथा महाभारत की कहानियों के उत्कृष्ट उदाहरणों द्वारा प्रेरणाप्रद व्याख्यान देती रहती थीं। इस कॉलेज की ख्याति पूरे देश मे फैल गयी, और देश के विभिन्न भागो पजाब, पूर्वीबगाल, और ट्यूटीकोरिन से युवक इस विद्यालय में प्रवेश लेने आने लगे। सेंट्रल हिन्दू कॉलेज के साथ साथ अन्य जिन सस्थाओं से यह जुड़ी हुई थी , वहाँ के शिष्य व गुरु दोनों के लिए यह प्रेरणा की प्रतीक थीं। प्रत्ये बच्चा उनके प्रति प्रेम भाव एव मातृभाव रखता था। वह हमेशा अपने प्रशसकों एवं सहयोगियो से घिरी रहती थीं जो अपना सर्वस्व इनको समर्पित करने को तैयार रहते थे जिस हेतु वह कार्य करती थीं।

उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य था भारत के सभी भागो मे राष्ट्रीय शिक्षा पर व्याख्यान देना। यहाँ तक कि छोटे-छोटे कस्बो तथा गावों, जहाँ पर यातायात की सुविधा भी सुलभ नहीं थी, मे जाकर वहाँ के लोगों को शिक्षित किया जिससे वे अपनी शिक्षा का दायित्व स्वय वहन करने योग्य बनें। जब वह अडयार मे थीं तब उन्होंने पिछड़ी जातियो के लिए एक स्कूल स्थापित करने के लिए कोशिशें कर दी थीं और इसी के साथ साथ राष्ट्रीय शिक्षा के अभियान मे जुट गयी। अडयार के इस स्कूल का नाम था 'ओल्काट पंचम स्कूल'। डा0 बेसेण्ट का एक विशेष गुण था नवयुवकों को प्रोत्साहित करना। 'यंग मेनस इंडियन एसोसिएशन' मद्रास नवयुवकों के लिए एक देन थी। शैक्षिक सस्थाओं की सहायता यह खुले दिन से करती थीं। इस बात की पुष्टि इस घटना से होती है , जब मद्रास के पाचायप्पा कॉलेज में लड़कों के रहने के लिए आवास की समस्या आई तो इन्होंने हास्टल निर्माण हेतु दानस्वरूप काफी धनराशि दी। इससे बहुत से नवयुवकों को मद्रास में रहकर विद्यार्जन का स्वर्णिम अवसर मिला। जब कभी श्रीमती बेसेण्ट को मालुम होता था कि गरीबी के कारण छात्र अपनी शुल्क नही दे पा रहे तो श्रीमती बेसेण्ट उनकी शुल्क जमा कर देती थीं। उनके इसी गुण के कारण सभी छात्र उन्हें 'माँ' कहकर सम्बोधित करते थे।

उनकी शिक्षा के दो पहलू थे, एक का आधार धार्मिक और दूसरे का मातृभूमि के प्रति देशभक्ति या प्रेम। धर्म से उनका तात्पर्य अत्यंत विस्तृत था। उन्होंने छात्रों

के धार्मिक उन्नयन हेतु हिन्दू धर्म एव नीति की पुस्तकों, जिन्हे 'सनातन धर्म सीरीज' कहते थे, के विशिष्ट भाग को पाठ्यक्रम मे शामिल किया। हिन्दू धर्म के अंध विश्वासो को छोडकर उन्होने धर्म के आवश्यक तत्वो को ग्रहण करने पर बल दिया, उनके धर्म मे सत्य को प्रमुखता दी गयी तथा साथ ही सभी धर्मो के सत्यों को भी। उनकी देशभक्ति घृणा व सकीर्ण भाव की नही थी बल्कि प्रेमयुक्त देशभक्ति थी जिसने प्रत्येक रचनात्मक प्रयास मे अपूर्व सहयोग दिया तथा जो भूतकाल की महानता पर आधारित थीं और भविष्य के लिए प्रेरणा। इस प्रकार उन्होने भारतीयों तथा विदेशियों को हिन्दू धर्म, दर्शन व सस्कृति के प्रति आस्थावान बनने के लिए प्रेरित किया। भारतीय अपने प्राचीन ग्रथ वेद तथा उपनिषद की भाषा तो दूर रही, मातृभाषा सीखना भी भूल रहे थे ऐसे समय मे श्रीमती बेसेण्ट ने उनमें मातृभाषा व देवनागरी भाषा को सीखने के लिए उत्साहित किया। आग्ल भाषा का ज्ञान द्वितीय भाषा के रूप मे सीखना उपयुक्त बताया क्योंकि इस भाषा की उपयोगिता सम्प्रेषण एवं अन्य विषयों विज्ञान व तकनीकी के सीखने के लिए आवश्यक है । साथ ही प्राचीन भाषाओं मे सस्कृत एव अरबी की उपयोगिता को भी स्वीकार किया। उन्हेंने बालक बालिकाओं के लिए आर्य श्रेष्ठता की कहानियों की छोटी-छोटी पुस्तिकाएं भी संकलित कीं। उन्होंने धर्म और नैतिकता की एक सार्वदेशिक पाठ्यपुस्तक भी तैयार की जो सभी श्रेष्ठ धर्मो के मौलिक तत्वों का एक संक्षिप्त संग्रह है।

श्रीमती बेसेण्ट द्वारा संस्थापित सेंट्रल हिन्दू कॉलेज उस समय का भारतीय धर्म व सस्कृति का प्रतीक आदर्श कॉलेज था। इसमें उन सब बातों को व्यवहृत किया जाता था जिनकी सिफारिश श्रीमती बेसेण्ट अपने व्यक्तव्यों द्वारा की थीं। इस कॉलेज के संचालन में उन्हें श्री जी0एस0 आरूण्डेल , श्री सी0एस0 त्रिलोककर , डा0 भगवान दास तथा अन्य शिक्षाविदों का सहयोग प्राप्त था। इस विद्यालय में इन्होंने किशोरवय छात्रों के सुगठित शरीर गठन हेतु उचित भोजन , स्वास्थ्य व शारीरिक खेलकूद को पाठ्यक्रम में स्थान दिया। इसमें छात्रों को विभिन्न कौशलों की शिक्षा तथा उनकी रूचि अनुसार खेलों में विशेषा योग्यता का प्रशिक्षण दिया जाता था। उन्होंने छात्रों के चरित्र

निर्माण हेतु भारत स्काउट आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसके द्वारा छात्रों को सेवा, त्याग व प्रेम के प्रदर्शन के लिए तैयार किया जाता था। इनके ही प्रयत्न से सेंट्रल हिन्दू कॉलेज में एक कैडेट-दल बनाया गया। इस दल के छात्र भारतीय वेषभूषा में सैनिकों की भाँति परेड करते तथा एक दूसरे के प्रति निष्ठा व समूह भाव का अभ्यास करते थे। इन्होंने ही भारतीय शिक्षा मे प्रथम बार 'प्रिफेट-सिस्टम' का प्रारम्भ किया। इन सब बातों से यह प्रतीत होता है कि श्रीमती एनी बेसेण्ट के निर्देशनयुक्त कॉलेज मे छात्रो के चरित्र निर्माण व सेवा भाव पर विशेष बल दिया जाता था। और यही कारण था कि इन स्कूलों में अनुशासन हीनता के लिए दड की जरूरत नहीं पडती थी। उनका कहना था कि अनुशासन का आधार प्रेम व आदर हो भय नहीं। लगभग 15-16 वर्षो तक इस कॉलेज का सचालन करने वाली शिक्षा विद् श्रीमती बेसेण्ट ने पं० मदन मोहन मालवीय जी द्वारा खोले जाने वाले हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए इस कॉलेज को सहर्ष समर्पित कर दिया। साथ ही पचास हजार रूपये भी दिए। यह थी उनकी भारत के प्रति प्रेम व त्याग की भावना। कॉलेज विश्वविद्यालय को दे देने के बाद इनका उस पर से नियत्रण व प्रशासन खत्म हो गया। अत इन्होने एक 'थियोसॉफिकल शिक्षा न्यास' की स्थापना की, जिसके तहत पूरे देश के विभिन्न भागों में स्कूल और कॉलेजो की स्थापना की, जिनमें श्रीमती बेसेण्ट द्वारा समर्पित सिद्धान्तों के अनुरूप शिक्षा दी जाती थी। उनका मानना था कि शिक्षा बालक के प्राकृतिक गुणो का विकास करे। शिक्षा सिर्फ जीविकोपार्जन का ही साधन न हो, बल्कि जीवन की समस्याओं को सुलझाने मे नेतृत्व प्रदान करने वाली हो।

धार्मिक कार्य

डा० बेसेण्ट ने कहा कि वर्तमान युग (19वीं सदी) में जबकि आध्यात्मिक जीवन प्रायः लुप्त हो गया है, भारत अन्य देशो की तुलना में सबसे ज्यादा धार्मिक है। अभी भी यही एक ऐसा देश है जिसकी हवा में भी आध्यात्मिकता है, जिस देश मे धार्मिक जीवन बिताना अन्य देशों की अपेक्षा अधिक आसान है। उन्होंने कहा जिस दिन भारत से धर्म लुप्त हो जायेगा उसी दिन संसार से भी धर्म लुप्त हो जायेगा।' उन्होंने सम्पूर्ण विश्व में यह संदेश प्रसारित किया कि भारत को वे राष्ट्र के ही रूप

मे न देखे अपितु भारत को विश्व की आध्यात्मिकता का केन्द्र बिन्दु समझकर उसकी सेवा करे। इस प्रकार भारत की सेवा विश्व की सेवा है, क्योंकि भारत ही विश्व का भविष्य एवं उसकी आशा है। उन्होने भारत को विश्व का शिक्षक एव रक्षक बताया।

धार्मिक पुर्नजागरण के इस काल मे, जबकि भारतीय अपनी संस्कृति , धर्म व दर्शन से मुँह मोड़ पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की चकाचौध के प्रति आकृष्ट हो रहे थे, श्रीमती एनी बेसेण्ट ने भारतीयों का आध्यात्मिक जागरण किया। उन्होंने आध्यात्म को राष्ट्ररूपी जीवन की आत्मा बनाया। अत राष्ट्र के पुर्ननिर्माण के लिए उन्होंने भारतीयों को देशभक्ति, अतीत के प्रति गर्व, आत्म विश्वास, स्व-धर्म एव संस्कृति पर आस्था और स्वर्णिम भविष्य के प्रति जागरूकता आवश्यक बताई। पाश्चात्य सभ्यता के रग मे रगे जाने वाले तथा स्पेन्सर, मिल, एव हक्सले से प्रभावित भारतीय अनुयायियों को उन्होने समझाया कि पाश्चात्य का आचार-विचार भारत के आचार-विचारों के समक्ष नगण्य है। पाश्चात्य के दिमागी संस्कृति के सुन्दर हीरे भारत की आध्यात्मिक सस्कृति के सामने कोयले के समान है। इस प्रकार भारत आने पर मात्र चार महीने मे ही इन्होंने पूरे भारत का भ्रमण कर भारतीयों के हृदय मे धर्म के प्रति विद्युत् वेग सप्रवाहित कर दिया।

भारत के आध्यात्मिक पुर्नजागरण का कार्य 'थियोसाफिकल सोसायटी' के माध्यम से अधिक सुगमता से किया। क्योंकि यह विश्व की उच्चकोटि की आध्यात्मिक सस्था है जिसका मुख्य कार्य मनुष्य के विचार एवं चिंतन पद्धति कें परिवर्तन लाकर नई आध्यात्मिक मानव सभ्यता का निर्माण करना है। आध्यात्मिक पुनर्जागरण के उद्देश्य से उस समय देश में अनेक सस्थाये कार्यशील थीं। जिनमें पंजाब में स्वामी दयानन्द जी द्वारा स्थापित आर्य समाज, कलकत्ते में ब्रह्म समाज तथा स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन। श्रीमती बेसेण्ट ने देश के शिक्षित वर्ग को व्याख्यान व लेखन कार्य द्वारा आध्यात्म की ओर मोड़ने का अथक परिश्रम किया। बच्चों एव अशिक्षित लोगों को शिक्षा संस्थाओं तथा सार्वजनिक भाषणों के माध्यम से आध्यात्मिक विकास

की ओर प्रेरित किया। उन्होने हिन्दुओ को मत परिवर्तन से रोका। उन्हें समझाया कि हिन्दू धर्म विश्व का प्राचीनतम एव वैज्ञानिक आधार पर आधारित धर्म है। कालान्तर से उसमे अध विश्वास एव आडम्बरो रूपी व्याधियॉं आ गयी है जैसे शरीर मे व्याधि आने पर उसके निवारणार्थ औषधि की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार राष्ट्र-धर्म रूपी शरीर व्याधियों को दूर करना होगा न कि धर्म का परित्याग। उन्हे के शब्दो मे-

'मै विश्व के सभी धर्मो का चालीस वर्षो तक अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि सभी धर्मो मे हिन्दू धर्म सर्वाधिक पूर्ण, दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक है।' उन्होंने हिन्दुओं के जीर्ण शीर्ण रूप को नया जीवन प्रदान किया। हिन्दू धर्म के कर्मकाण्डों की वैज्ञानिक व्याख्या की। कर्मवाद, पुर्नजन्म एव मुक्तिमार्ग की आधुनिक विज्ञान की शब्दावली में व्याख्या की। श्राद्ध, उपनयन आदि के आध्यात्मिक महत्व को बतलाया। मूर्ति-पूजा, जाति भेद, वर्णाश्रम आदि के सूक्ष्म अर्थ एवं महान महत्व को समझाया। उन्होनें हिन्दू धर्म में लगे जहरीले पौधों को जड़ से उखाड़ फेंका।

थियोसॉफिकल सोसायटी के उद्‌देश्यों के अनुसार (आर्य साहित्य, धर्म व विज्ञानों के अध्ययन को बढ़ावा देना) इन्होंने सभी धर्मो का आदर तथा उनमें स्थापित सत्यों के प्रति सम्मान जगाया। थियोसॉफिस्ट को अपने विश्वास व धर्म का परिवर्तन नहीं करना पड़ता था बल्कि अपने विश्वास के साथ साथ औरों के विश्वास का भी आदर करना सिखाया जाता था।' इस प्रकार धार्मिक समन्वय द्वारा विश्व बंधुत्व की भावना एवं विश्वैक्य की भावना विकसित कर हिन्दू और सच्चा हिन्दू और भारतीय को सच्चा भारतीय बनाने का असाध्य एवं अनूठा कार्य किया।

दो दशक तक धार्मिक तथा शैक्षिक कार्यो को एक सुदृढ़ आधार दे चुकने के बाद डा0 बेसेण्ट ने सामाजिक कुरीतियों विशेषकर बाल-विवाह , विधवा-उपेक्षा और दहेज प्रथा के सुधार की ओर ध्यान दिया। जाति भेद एवं कलह, छुआछूत, विदेश-

यात्रा का अभिशाप आदि समस्याये समाज को विश्रृखिल कर रही थीं। समाज का ब्रह्मण व पुजारी वर्ग अपनी प्रभुता कायम रखने के लिए समाज मे आडम्बरों का प्रचार करने मे लगा हुआ था। जिससे वे समाज का पूरी तरह शोषण कर सके। उन्होंने भारत की प्राचीन सस्कृति का हवाला देते हुए समाज के सभी वर्गो के बीच परस्पर प्रेम व बंधुत्व की भावना को विकसित करने पर बल दिया। यद्यपि भारतीयों के समाज-सुधार आन्दोलन मे वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं आयीं। उनका विश्वास था कि शिक्षा के प्रचार-प्रसार द्वारा लोगो में सामाजिक जागरूकता स्वयमेव आ जायेगी। इसी कारण वे समाज सुधार के कार्य शिक्षा के माध्यम से करती थीं। वैदिक कालीन शिक्षा की भाँति ब्रह्मचर्य के पालन हेतु एव बाल विवाह को रोकने के लिए सेट्रल हिन्दू कालेज तथा अन्य शिक्षा सस्थाओं में विवाहितों का प्रवेश वर्जित था। जाति भेद व छुआ छूत के भेद भाव को दूर करने के लिए बंधुत्व की भावना पर महत्व दिया। थियोसॉफी सोसायटी का प्रथम उद्देश्य भी इसी भावना को विकसित करता है। इस उद्देश्य का भाव यह है - जाति, धर्म , प्रजाति , वर्ण, लिग व रंग भेद के बिना विश्व बंधुत्व की स्थापना करना।

हिमालय से ऊँचा साहस एव शक्ति की प्रतीक लौह महिला डा0 बेसेण्ट समझती थीं कि भारत में समाज सुधार का कार्य अत्यंत कठिन है, कारण, यह कार्य पारिवारिक जीवन से सम्बंधित था जिसके प्रति लोग बहुत संवेदनशील थे। फिर भी इन विदेशी महिला ने अपने अनुभवों के आधार पर भारतीय समाज निर्माण की दिशा में अनेक कार्यो का बीड़ा उठाया। विश्व के इतिहास में समाज निर्माण की अभी तक दो पद्धति प्रचलित थी- (1) मनु द्वारा दी गयी सबसे पुरानी पद्धति जो कर्तव्यों पर आधारित थी। (2) दूसरी फ्रांस की क्राति की स्वतत्रता, समानता तथा बंधुत्व पर आधारित पद्धति। डा0 बेसेण्ट ने दोनों का समन्वय कर बंधुत्व के आधार पर भारतीय समाज का नव निर्माण किया। भारतीय नारियों की हीन अवस्था के उत्थान को प्रमुख स्थान दिया। राष्ट्र के निर्माण व उत्थान के लिए नारियों का उत्थान आवश्यक बताया। उन्होंने कहा कि जैसे कोई पक्षी एक पंख से उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार नारी की उपेक्षा

कर कोई राष्ट्र उन्नत नहीं हो सकता। उनका कहना था कि 'माँ तथा मातृभूमि की गुलामी का अत एक साथ होना चाहिए।'

महिलाओं की स्थिति मे सुधार हेतु उन्होंने महिलाओ के सगठन बनाने का कार्य किया। उन्होंने भारत के चारों ओर कन्या कुमारी से हिमालय तक और पेशावर से सिलहट तक 'वीमेन्स इण्डियन ऐशोसिएशन' की अनेकों शाखाए खोलीं। जिनके माध्यम से महिलाओ की शिक्षा, उद्योग तथा राजनीति मे सक्रिय भागीदारी को सुनिश्चित किया। देश सेवा के लिए महिलाओ को भी आगे बढाया। इन्हीं के प्रयास से उस समय भारत की अनेक महिलाए देश की स्वतत्रता के लिए आगे आयीं। 'वीमेन्स इण्डियन एसोसिएशन' के प्रतिनिधि मण्डल की अध्यक्षा के रूप मे इन्होंने भारत सचिव मान्टेगू से भेंटकर एक ज्ञापन दिया जिसमें यह माग की गयी थी कि पुरुषों के समान महिलाओं को वोट देने का अधिकार दिया जाए। भारत कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू भी इनसे अत्यधिक प्रभावित थीं उनका कथन है कि- 'डा0 बेसेण्ट मेरे लिए प्रेरणा का स्रोत थीं, वह हम सब भारतीयों से ज्यादा सच्ची भारतीय थीं, आधुनिक भारत की आधारशिला उन्होंने तैयार की , वे भारतीयों की माँ है मैने देशभक्ति का पहला पाठ इसी महिला के ओंठ से निकले शब्दों से सीखा।'

समाज सुधार के लिए उन्होंने अनेकों, सामाजिक संस्थाएं स्थापित की एवं इन सस्थाओ पर लाखों रूपए खर्च किए। मुख्य संस्थाएं है- 'सन्स ऑफ इंडिया' 'डाटर्स आफ इण्डिया', 'ब्रदर्स आफ इंडिया' , 'स्टालवार्टस', 'यंग मेन्स इंडियन एशोसिएशन', भारत स्काउट एवं गाइड' आदि। इन सस्थाओं के द्वारा हजारों की संख्या में समाज सुधारक तथा समर्पित राजनैतिक कार्यकर्ता तैयार हुए। श्रीमती नायडू ने ठीक ही कहा है कि 'अगर श्रीमती बेसेण्ट नहीं होती तो गांधी भी नहीं होते।'

गांधी जी जब दक्षिणी अफ्रीका से भारत लौटकर आये और उन्होंने राजनीति में प्रवेश किया तब तक श्रीमती बेसेण्ट ने भारत की महिलाओं एवं नवयुवकों के अनेक

सगठन बनाकर समाज सुधार कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिए थे।

यूँ तो इग्लैंड के प्रवास काल मे श्रीमती एनी बेसेण्ट चार्ल्स ब्रेडला के साथ वहाँ की राजनीति मे क्रांतिकारी कार्यकर्ता रह चुकी थीं। वहाँ की महिलाओं, दलितों तथा श्रमिकों के अधिकारों के लिए अनेक सघर्ष कर चुकी थीं। परन्तु थियोसार्फिस्ट बनने के बाद से यह राजनीति से लगभग सन्यास ले चुकी थीं। कारण, वे थियोसॉफिकल सोसाइटी के इसोटेरिक (योग साधना) भाग की सन् 1891 में अध्यक्ष तथा सन् 1907 से पूर्ण सोसाइटी की भी अध्यक्षा बनाई गयीं। थियोसाफिस्ट बनने पर मैडम ब्लैवट्स्की ने भी इन्हे राजनीति में भाग न लेने का अनुरोध किया था लेकिन भारत आने पर यहाँ की दयनीय राजनीतिक अवस्था देखकर तथा भारत के लोगों के आग्रह पर उन्होंने राजनीति मे प्रवेश लिया। उन्होंने कहा कि जिस भारत के लिए उन्होंने अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया, यदि वह देश परतत्र रहेगा तो वह सब व्यर्थ हो जायेगा। वह जो भी सामाजिक व शैक्षिक कार्य करना चाहत थीं। उसमे अंग्रेजी सरकार की तानाशाही उनके प्रगतिशील कार्यो मे हिमालय बनकर खड़ी जो जाती थी। उन्होंने महसूस किया कि राष्ट्रीय चेतना व आत्मविश्वास तो बहुत आगे बढ गया है पर कमजोर राजनीति धीमी गति से चल रही है। जिस स्वतंत्रता का विगुल उन्होंने 1878 ई0 मे फूँका था उसकी प्राप्ति का कोई ठोस कदम कांग्रेस उठा नहीं पा रही थी। अत: पत्रिकाओं मे अपने लेख प्रकाशित कर उन्होने यह स्पष्ट कर दिया कि वे मात्र भारत की स्वतंत्रता के लिए राजनीति मे कूद रही हैं तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही उनका राजनीतिक कार्य कलाप समाप्त हो जायेगा।

भारत आने पर लगभग दो दशक तक बेसेण्ट सामाजिक व शैक्षिक कार्य करती रहीं। 1914ई॰मे अपने 68 वर्ष पूरे करने पर डा0 बेसेण्ट भारतीय राजनीति में एक तूफान बन कर प्रविष्ट हुईं। उन्होंने पूरे देश का भ्रमण किया और लोगों को स्वराज्य का अर्थ एवं उपयोगिता समझाई।

इनके राजनीतिक जीवन की शुरुआत तब से होती है जब विश्व-प्रसिद्ध जे0 कृष्णमूर्ति के पिता द्वारा चलाए गये मुकदमे की समाप्ति हुई। यह मुकदमा सन् 1915 मे समाप्त हुआ। जे0 कृष्णमूर्ति के पिताजी ने अपने दो पुत्रों-कृष्णमूर्ति एबं नित्यानन्द को श्रीमती एनी बेसेण्ट को शिक्षा एव पालन-पोषण के दायित्व निर्वहन हेतु सौप दिया था। बाद मे कुछ लोगों द्वारा उकसाने पर जे0 कृष्णमूर्ति के पिताजी ने अपने पुत्रो को वापस लेने के लिए अदालती कार्यवाही की। भारतीय अदालतों में श्रीमती बेसेण्ट मुकदमा हार गयी थीं लेकिन एक तकनीकी प्रश्न पर प्रिवी काउंसिल में अपील करने पर वह जीत गयी। उन्होंने कृष्णमूर्ति और उनके भाई की शिक्षा पूरी करने मे काफी धनराशि व्यय की। पढाई समाप्त करने पर यही कृष्ण मूर्ति पहले तो थियोसोफिकल सोसायटी के प्रमुख नेता बन गए परन्तु बाद में इन्होंने इस सस्था से अपने सम्बंध विच्छेद कर लिए और एक नई विचारधारा के श्रेष्ठ नेता बन गए। जे0 कृष्णमूर्ति ने अपनी अभिभाविका श्रीमती एनी बेसेण्ट तथा अपने शिक्षक जार्ज आरुण्डेल आदि की कडी आलोचना की। परन्तु श्रीमती एनी बेसेण्ट के हृदय मे उनके लिए जो प्रेम और स्नेह था उसमें रत्ती भर भी कमी नहीं आई। इस घटना से इनके मातृवत् प्रेम का एवं विशाल हृदय का परिचय मिलता है।

इसी समय बंगाल, पजाब और बम्बई मे अंग्रेजी शासकों द्वारा बरती जाने वाली दमन नीति, तिलक, लाजपतराय और अन्य नेताओं के विरुद्ध चलाए गये मुकदमों ने लोगों के मन को बुरी तरह असतुष्ट कर दिया था। बंगाल और पूना में आतंकवादी आंदोलन बढ़ रहा था। अत इन्होंने मद्रास मे वाई0एम0 आई0ए0 (भारतीय युवक संघ) की स्थापना करके यह कोशिश की कि बनारस और मद्रास के नवयुवक वहीं रहे और बंगाल तथा पूना में फैले हुए आतंकवादी आंदोलन से दूर रहे।

बंगाल में अंग्रेज अधिकारियों की हत्याएं की जा रही थीं और ऐसे ही एक मामले में खुदीराम बोस पर मुकदमा चला और उन्हें फांसी दे दी गयी थी। ऐसे समय में समान नीति का अनुसरण करती हुई श्रीमती एनी बेसेण्ट ने राजनीतिक अपराधों का

विरोध किया- वे अपराध चाहे देशप्रेम की भावना से ही प्रेरित क्यों न हो।

श्रीमती बेसेण्ट ने 1914 मे दो पत्रिकाये प्रकाशित करवायीं- पहली 'न्यू इंडिया' (दैनिक) दूसरी- 'द कॉमन वील' (साप्ताहिक) । ये पत्रिकाए भारत की स्वतत्रता का विगुल बन गयी। इन पत्रिकाओ मे ब्रिटिश शासन के विरोध मे लिखने के कारण इन्हे बीस हजार रूपये का दण्ड देना पडा। ऐसी विषम परिस्थिति मे 1916 की पहली सितम्बर को श्रीमती बेसेण्ट ने देश मे सबसे पहली बार व्यापक स्तर पर सार्वजनिक अपील की कोशिश की और होम रूल लीग का शुभारम्भ किया। इसी वर्ष वह सी0पी0 रामास्वामी अय्यर के साथ तिलक से बातचीत करने पूना गयी कि अपनी होम रूल लीग और तिलक द्वारा सस्थापित सस्था को एक मे मिला दिया जाए। परन्तु तिलक ने प्रस्ताव ठुकरा दिया।

इन्होने भारत के पुत्रो और पुत्रियो की 'द आर्डर ऑफ सन्स एण्ड डाटर्स ऑफ इण्डिया' नामक संस्था भी सगठित की। उनका यह विश्वास था कि गरम पंथियों और नरमपंथियों को मिलाकर हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए काम करना चाहिए ताकि एक सयुक्त आवाज उठायी जा सके। हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने की कोशिश में उन्होंने होमरूल लीग का एक पदाधिकारी बनने के लिए मुहम्मद अली जिन्ना को राजी कर लिया। इस काम में अनेक योग्य एवं उत्साही समर्थकों जमनादास द्वारकादास, कांजी द्वारकादास, उमर सोभानी, शंकरलाल बैकर, दिल्ली के लाला सुलतान सिंह और बम्बई के नरोत्तम दास ने सहायता की। 'न्यू इंडिया' के स्तम्भों में भारत के स्वराज्य के पक्ष में लेख लिखते रहने के कारण होम रूल लीग का बड़ा प्रचार हो जाता था और इस प्रकार देश के सभी भागों में लीग की शाखाएं स्थापित हो गयीं। होमरूल की मांग करती हुई श्रीमती बेसेण्ट ने देश भर का दौरा किया। मान्टेगू चेम्सफोर्ड सुझावों ने प्रांतों में द्वैध शासन कायम कर दिया था और केन्द्रीय सरकार को अछूता छोड़ दिया था। कांग्रेस के कुछ लोगों ने इन सुधारों का स्वागत किया और दूसरों ने इनकी निन्दा की। श्रीमती एनी बेसेण्ट के प्रयत्नों से कांग्रेस के दो दलों गरम तथा नरम में, जो

1907 से अलग थे, एक अस्थायी समझौता हो गया और एक कांग्रेस लीग सुधार योजना तैयार की गयी। 1916 मे कुड्डालोर राजनीतिक सम्मेलन मे श्रीमती एनी बेसेण्ट ने भारतीय होम रूल के पक्ष मे जोरदार वक्तव्य दिया। परिणाम स्वरूप मद्रास के तत्कालीन गवर्नर लार्ड पैन्टलैण्ड ने उन्हे भारत छोड देने को कहा। श्रीमती बेसेण्ट द्वारा नकारात्मक उत्तर दिए जाने के कारण जून 1917 को श्रीमती एनी बेसेण्ट, जी0एस0 आरुण्डेल और बी0पी0 वाडिया को नजरबद कर दिया गया। अपनी नजरबंदी से पूर्व उन्होंने एक खुला पत्र प्रकाशित किया था, जिसमे यह दृढ़ विश्वास किया गया था कि भारत को शीघ्र ही होम रूल मिल जायेगा। मद्रास तथा देश भर मे उनकी नजरबंदी के विरोध में सभाएं होती रहीं और जुलूस निकाले जाते रहे। इस नजरबंदी से न केवल भारत मे अपितु, विदेशों मे भी स्वातंत्र्य आंदोलन को बहुत बल मिला, दिन पर दिन बढ़ते हुए असंतोष और लगातार चल रहे आंदोलन के फलस्वरूप श्रीमती बेसेण्ट रिहा कर दी गयी। और तब अगस्त 1917 मे वह कलकत्ता में होने वाले राष्ट्रीय काग्रेस की अध्यक्ष बना दी गयीं। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने भारतीयों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की तथा अपने को मातृभूमि की सेवा मे अर्पित किया।

सन् 1918 में महात्मा गांधी दक्षिणी अफ्रीका से लौट आए थे और उन्होंने भारतीयों की शिकायतें दूर करने के लिए सत्याग्रह चलाया था। इन्होंने ऐसे आन्दोलन करने शुरू किए जिनका लक्ष्य था सरकारी कामो में असहयोग देना, विधान परिषदों और स्थानीय निकायों का बहिष्कार करना कानून भंग कर अपने खिलाफ मुकदमे चलवाकर जेल की सजाऐं भोगना। गांधी जी का मानना था कि इस प्रकार के असहयोग आदोलन से सरकार मजबूर होकर स्वराज्य दे देगी। इस मामले में श्रीमती बेसेण्ट तथा महात्मागांधी में वैचारिक भिन्नता थी। श्रीमती बेसेण्ट ने गांधी जी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन का विरोध किया। फिर भी उन्होंने गांधी जी के उच्च आदर्शों , आत्म त्याग और सत्य प्रेम की भूरि-भूरि प्रशंसा की। देश की निराश और कुंठित जनता में गांधी जी का आंदोलन बहुत लोकप्रिय हो गया।

सन् 1919 मे ब्रिटिश ससद ने लार्ड सेल्बोर्न की अध्यक्षता मे एक जॉच समिति नियुक्त की। समिति के समक्ष राष्ट्रीय होम रूल लीग की प्रतिनिधि के रूप मे श्रीमती बेसेण्ट के अतिरिक्त अन्य प्रतिनिधियों ने भी भारत का पक्ष प्रस्तुत किया। इससे पहले श्रीमती बेसेण्ट ने ससदीय कामों और प्रक्रियाओं मे राजनीतिक कार्यकर्ताओं की आदत डालने के उद्‌देश्य से 'मद्रास ससद' स्थापित की थी। समय समय पर इसकी बैठक मद्रास के गोखले हॉल मे होती थी। इनमे हुई बहसे ज्ञापनों के रूप मे प्रकाशित की जाती थीं। इनमे से एक था 'पचायत कानून' और दूसरा था 'भारतीय वित्त पर ज्ञापन'। इन्होने एक राष्ट्रमण्डल विधेयक बनाने की भी तैयारियॉ की। होमरूल आदोलन को और सबल बनाने के उद्‌देश्य से श्रीमती बेसेण्ट ने बी0पी0 वाडिया, डी0के0 तेलंग और जमनादास द्वारकादास के साथ इंग्लैण्ड का दौरा किया और लंदन मे होमरूल लीग की एक शाखा खोली। इंग्लैण्ड में 'यूनाइटेड इण्डिया' नाम से एक साप्ताहिक पत्र भी शुरू किया। इसके साथ साथ 'न्यू इण्डिया' का एक विदेश सस्करण भी प्रकाशित किया। जनता के सामने भारत का पक्ष प्रस्तुत करने के लिए हर सम्भव साधन का लाभ उठाया गया। लंदन के समाचार पत्रों मे अनेक लेख लिए गये। भारत सचिव श्री मान्टेग्यू से एक शिष्ट मण्डल मिला। इसके अतिरिक्त श्रीमती सरोजिनी नायडू द्वारा संगठित एक महिला प्रतिनिधि मण्डल भी इंग्लैण्ड गया। मान्चेस्टर तथा लंदन के क्वीन्स हॉल मे भारतीय सुधारों के सम्बंध में श्रीमती एनी बेसेण्ट ने जोरदार वक्तव्य दिए।

सन् 1919 मे अमृतसर मे जो कांग्रेस अधिवेशन हुआ उससे भारतीय आंदोलन के इतिहास में एक नए अध्याय का श्रीगणेश हुआ। 1922 और 1924 के बीच अपने 'मद्रास संसद' सम्बधी कार्यो के दौरान मे श्रीमती बेसेण्ट ने अपने साथियों से परामर्श करके भारत के लिए 'स्वराज्य संविधान' तैयार किया। यह संविधान दिल्ली में हुए एक राष्ट्रीय सम्मेलन के समक्ष रखा गया। सम्मेलन ने एक स्वतंत्र संविधान की भौतिक आवश्यकताओं की रूपरेखा तैयार की। 1924 से 1929 तक के बीच श्रीमती बेसेण्ट ने सप्रू और वी0एस0 श्रीनिवास जैसे लोगों की सहायता से लगातार कई सम्मेलनों का आयोजन किया। आत्म निर्णय, स्वशासन और राष्ट्रीय सम्मेलन के उद्‌देश्यों पर कई

पुस्तिकाए प्रकाशित की। सचिव की हैसियत से अपने हस्ताक्षरों से बुलेटिन जगह जगह भेजीं।

1924 मे बेलगाव काग्रेस में गाधीजी की अध्यक्षता मे मान्टेगू चेम्सफोर्ड सुधारों के पूर्ण बहिष्कार और असहयोग के निश्चय किए गये। तत्पश्चात् श्रीमती बेसेण्ट ने एक सयुक्त सम्मेलन का आयोजन किया और राष्ट्रीय सम्मेलन के बाद उन्हीं के प्रयत्नों से तैयार किए गये कॉमन वेल्थ इण्डिया बिल (राष्ट्रमण्डल भारत विधेयक) को ब्रिटिश एटार्नी जनरल श्री स्लेसर की सहायता से ससदीय रूप दिया गया। सन् 1929 में श्रीमती बेसेण्ट फिर इंग्लैण्ड गयीं ओर सभाओं की एक श्रृंखला आयोजित करके भारत को होमरूल देने की इग्लैण्ड से अपील की। 27 जून 1929 को मान्चेस्टर के फ्री ट्रेड हॉल मे 'भारत मे ब्रिटिश शासन विश्व शांति को खतरा' पर एक विशाल प्रदर्शन हुआ। जिसका आयोजन मान्चेस्टर की 'कामन वेल्थ ऑफ इण्डिया लीग' कर रही थी। प्रदर्शन मे श्रीमती बेसेण्ट , मुशी ईश्वर शरण, बी0 शिवाराव, मेजर ग्रैहम पोल भी थे। इस प्रदर्शन ने इग्लैण्ड में एक जबर्दस्त मानसिक हलचल मचा दी। लंदन के कैक्सटन हाल में भी 'कामन वेल्थ ऑफ इण्डिया' की ओर से श्रीमती एनी बेसेण्ट की अध्यक्षता मे एक सम्मेलन हुआ। सम्मेलन मे उपस्थित प्रतिनिधियों ने सर्वसम्मति से भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग का प्रस्ताव पास किया। 29 जून 1929 को श्रीमती बेसेण्ट ने 'भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य' पर एक सार्वजनिक भाषण भी दिया। बम्बई में एक सर्वदलीय सम्मेलन किया गया जिसमे विभिन्न राजनीतिक दलो को एक दूसरे के निकट लाने और स्वराज्य की योजना की रूपरेखा तैयार करने के उपाय ढूँढ़ने के लिए एक समिति नियुक्त की गयी। श्रीमती बेसेण्ट ने स्वराज्य की एक सर्वसम्मत योजना बनाने के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों और नेताओं में एकता स्थापित करने की सक्रिय कोशिश की और इसक पक्ष में जनमत तैयार करने के समाचार पत्रों में बहुत से लेख लिखे और जगह जगह भाषण दिए और साहित्य वितरित किया। अंत मे पंडित मोती लाल नेहरू के नेतृत्व में स्वराज्य की योजना

तैयार की गयी। दिसम्बर 1929ई0मे कलकत्ता मे एक सर्वदलीय सम्मेलन हुआ जिसमे मुस्लिम लीग का प्रतिनिधित्व जिन्ना ने और हिन्दुओं का एम0आर0 जयकर ने किया। योजना की कुछ धाराएं पारित हो जाने पर केन्द्रीय धारा सभा मे मुसलमानों के प्रतिनिधित्व के प्रतिशत निर्धारण मे मतभेद हो गया। इस पर श्रीमती एनी बेसेण्ट ने समझाया कि प्रतिशत 25 हो या 30 इससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा। उनका कहना था कि भारतीय अपनी मांगों को पहले पास कराये जो प्रमुख मुद्दा है। 1929ई0मे ही साइमन कमीशन के भारत आने पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और राष्ट्रीय होम रूल लीग ने इस आयोग का जर्बदस्त बहिष्कार किया। राजनीतिक दलों मे परस्पर मतभेदों के बावजूद जिनके कारण भारतीयों द्वारा भारत का 'स्वराज संविधान' नहीं बन सका था, श्रीमती बेसेण्ट ने समाचार पत्रों, सार्वजनिक भाषणों और राजनीतिक सस्थाओ के द्वारा अपना अभियान बराबर जारी रक्खा। इस समय राजनीति मे महात्मा गाधी का प्रभाव सर्वोपरि ही रहा था।सन् 1931 और 1932 के गोलमेज सम्मेलनों से उत्पन्न निराशा के बाद से श्रीमती बेसेण्ट का स्वास्थ्य बराबर बिगड़ता गया और अत मे 20 सितम्बर 1933 को साय 4 बजे अड्यार मे श्रीमती बेसेण्ट चिर निद्रा मे विलीन हो गयी।

रचनाएं:

अनेक प्रकार के व्यक्तित्वों का सम्मिश्रण, विश्व आध्यात्मिक शिक्षिका, महान समाज सुधारक, कुशल शिक्षाविद् श्रीमती एनी बेसेण्ट ने तीन सौ से भी अधिक पुस्तके लिखी हैं। वह एक उच्चकोटि की पत्रकार तथा 15 राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं की सम्पादिका भी थीं। उनके लेखन कार्य का शुभारम्भ सन् 1868 में ' द लाइव्स ऑफ द ब्लैक लैटर सेंट्स' कहानी से होता है। यह कहानियाँ 'फेमिली हेराल्ड' में प्रकाशित हुई। इसके बाद जब इनका विवाह सम्बंध विच्छेद हो गया तब इन्होंने अपना ध्यान लेखन कार्य की ओर उन्मुख किया। थियोसॉफिस्ट बनने पर लेखन कार्य द्रुतगति से होता गया। जो अंत तक चलता रहा। इनकी अन्य रचनाएं इस प्रकार हैं:-

'द ट्रू बेसिस ऑफ मोरेलिटी (1874), गोस्पेल ऑफ एथीज्म' (1876), 'बिल्डिंग ऑफ द कॉसमॉस', 'इंग्लैण्ड इंडिया एण्ड अफगानिस्तान' (1878), 'द डाक्ट्रिन ऑफ

द हार्ट' (1899), 'द लॉज ऑफ द हायर लाइफ' (1903), 'आइडियल्स इन एजूकेशन', 'एशेनशियल्स ऑफ इंडियन एजेकेशन' 'हिन्दूइज्म', 'हिन्दू आइडियल्स', 'फिलास्फी एण्ड लाइफ्स डीपर प्रोबलम्स' , 'द स्टडी ऑफ भगवद्‌गीता', 'थियोसॉफी एण्ड थियोसॉफिकल सोसायटी', इन्ट्रोडक्शन टु योग' 'आइडियल्स ऑफ थियोसॉफी, 'विजडम ऑफ उपनिषद', 'द इवोलूशन ऑफ लाइफ एण्ड फाम', धर्म', 'ग्रेटरिजीजस' 'द सेल्फ एण्ड इट्स शेल्थ' 'द ग्रेट प्लान', 'अ वर्ड ऑन मैन हिज नेचर एण्ड हिज पावर', 'द स्टोरी ऑफ ग्रेट वार', (महाभारत), 'श्री रामचन्द्र', 'इंडिया - बौड और फ्री' 'वेक अप इण्डिया', 'एनशियेन्ट्स आइडियल्स एण्ड मॉडर्न लाइफ', 'वर्ड प्रोबलम्स ऑफ टुडे' 'द न्यू सिविलाइजेशन', 'द फयूचर ऑफ इण्डियन पॉलिटिक्स', 'अ स्टडी इन कान्ससनेस' (1907), 'द सर्च फॉर हेप्पीनेस' (1918), 'लिबरेशन और सेल्वेशन'।

* * * * *

सारांश

उन्नीसवीं शताब्दी के पॉचवे दशक 1847 मे जन्मी कु0 एनी वुड मॉ की ओर से आयरिश तथा पिता की ओर से इग्लैण्ड की निवासिन थीं। पॉच वर्ष की अवस्था मे पिता-सुख से वचित होने पर माता द्वारा लालन पालन किया गया। इन्हें आयरिश बोली व रहन सहन अधिक प्रिय था। बचपन से ही एनी कल्पनाशील एव अत्यधिक धार्मिक थीं।परियों एव भूत प्रेतो की कथाए इन्हे वास्तविक लगती थीं। कु0 एनी ने कु0 मैरियट के सरक्षण मे प्रारम्भिक शिक्षा तथा लैटिन, जर्मन आदि भाषाओं का ज्ञान हासिल किया तथा इनके साथ जर्मनी व फ्रांस गयी। फ्रांस के तत्कालीन वैभव से प्रभावित हुईं। वहॉ पर लूवैर की चित्र दीर्घाओं ने एनी की धार्मिक प्रवृत्ति को उत्तेजित किया। लगभग बीस वर्ष की अवस्था मे पादरी फ्रैंक बेसेण्ट से एनी वुड का विवाह हुआ। एक पुत्र व एक पुत्री की मॉ बनने का सौभाग्य तो मिला परन्तु पति के साथ वैवाहिक तालमेल अधिक दिनों तक न रह सका। फलस्वरूप 1873 ई0 मे विवाह विच्छेद हो गया। अब माता के साथ रहकर जीविकोपार्जन करके स्वतंत्रतापूर्वक रहने लगीं। मॉ की मृत्यु के बाद बच्चों की शिक्षिका बनकर तथा श्री स्काट के लिए छोटी-छोटी पुस्तिकायें लिखकर आर्थिक संकट दूर किया। चार्ल्स ब्रेडला के सम्पर्क में आने पर इनके विचारों में तीव्रगति से परिवर्तन आया। डीन मैन्सेल के 'बपतिस्पा भाषण' को पढ़कर नास्तिकता की ओर झुकाव हो गया। 1874 से 'फ्री थॉट सोसायटी' से नाता जोड़ने पर स्वतंत्र विचारक, एवं उग्रवादी बन गयीं। मैच- फैक्टरी में करने वाली बालिकाओं के हितों के लिए यूनियन बनाकर उनके लिए काम के घंटे निश्चित करवाये। महिला श्रमिकों पर किए जा रहे अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाई। इग्लैण्ड में सबसे पहला भाषण 'महिलाओं की राजनीतिक परिस्थिति ' पर दिया था। सामाजिक व राजनैतिक कार्यो को करते हुए इनके विचारों मे परिवर्तन आया। इनका झुकाव समाजवादी विचार धारा की ओर हो गया। फलत 'स्वतंत्र विचारक संस्था' से अलग हो गयीं। इसी बीच अनेकों लेख व पुस्तकें भी लिखीं। सन् 1889 में थियोसोफिस्ट हो जाने पर मैडम ब्लैवटस्की को आध्यात्मिक गुरु स्वीकार करके थियोसॉफी के प्रचार-प्रसार में तन-मन धन से अंतिम क्षण तक समर्पित हो गयी। थियोसॉफी पर इन्होंने बहुत पुस्तके लिखीं।

थियोसॉफी की ओर से शिकागो धर्म सम्मेलन मे भी प्रतिनिधित्व किया।

16 नवम्बर 1893 को भारत आकर यहॉ के धार्मिक व शैक्षिक पुनरुत्थान मे प्रयत्नशील हो गयीं। 1898 मे बनारस मे 'सेंट्रल हिन्दू कॉलेज' की स्थापना करके भारतीय सस्कृति के प्रति अपूर्व निष्ठा का परिचय दिया। पूरे देश के लिए एक वृहत् शिक्षा प्रणाली तैयार की और उसका पाठ्यक्रम भी बनाया। राष्ट्रीय शिक्षा को सरकारी नियत्रण तथा राजनैतिक हस्तक्षेप से परे होने पर बल दिया। जाति भेद, छुआछूत, बाल विवाह, विधवा उपेक्षा आदि सामाजिक बुराइयों को शिक्षा द्वारा दूर करने का प्रयास किया। अनेक सामाजिक सस्थाए 'सन्स ऑफ इण्डिया' 'डाटर्स आफ इण्डिया' स्थापित की जिनके माध्यम से साधारण जनता को विशेष रूप से दलितो, पीड़ितों और महिलाओं को उनके अधिकारों एव कर्तव्यों के प्रति जागरूक किया। 1915 ई0 से भारतीय राजनीति मे प्रविष्ट हुईं। 1916 मे 'होम रूल लीग' की स्थापना करके भारतीय स्वातंत्र्य-आदोलन को द्रुतगति दी। 'द कामन वील' और 'न्यू इंडिया' पत्रिकाओं में स्वशासन सम्बंधी लेख प्रकाशित कर एव जगह -जगह भाषण देकर आम जनता को प्रोत्साहित किया। भारतीयों में अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम, अनुराग एवं निष्ठा भाव जागृत किया। 'होम रूल लीग' की एक शाखा इंग्लैण्ड में खोली तथा 'यूनाइटेड इण्डिया' नाम से साप्ताहिक पत्र भी शुरू किया। वहॉ की ब्रिटिश ससद में भारत के स्वशासन की आवाज उठाई। इनकी राजनीतिक लड़ाई का स्वरूप महात्मा गाधी के अवज्ञा आन्दोलन से भिन्न था। इसी कारण इन्होंने गांधी जी के सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग नहीं लिया। फिर भी दोनों का उद्देश्य 'भारत की आजादी' था इसलिए दोनों समय समय पर ब्रिटिश अत्याचारों का डटकर मुकाबला करते थे। साइमन कमीशन के भारत आगमन पर 'होम रूल लीग' और 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' ने इसका जबर्दस्त बहिष्कार किया। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने संसदीय कामों और प्रक्रियाओं में राजनीतिक कार्यकर्ताओं की आदत डालने के उद्देश्य से 'मद्रास संसद' स्थापित की। इस संसद के माध्यम से एक राष्ट्रमण्डल विधेयक भी बनाया। जून 1929 को श्रीमती बेसेण्ट ने 'भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य' पर एक सार्वजनिक भाषण दिया। बम्बई में 'स्वराज की एक सर्वसम्मत योजना बनाने के

लिए विभिन्न राजनीतिक दलो और नेताओ का सर्वदलीय सम्मेलन आयोजित किया। भारतीय राजनीतिक स्वतत्रा के लिए आतुर श्रीमती एनी बेसेण्ट का स्वास्थ्य गिरने लगा। जिस स्वतत्रता का बिगुल इन्होंने 1916 मे बजाया वह स्वतत्रता अभी मिलने नहीं पाई थी कि 20 सितम्बर 1933 को अडयार में इन्होंने अपना पार्थिव शरीर छोड दिया। डा0 एनी बेसेण्ट के व्यक्तित्व से अनेक भारतीय नेता प्रभावित थे। वैचारिक भिन्नता होते हुए भी गांधी जी उनके गुणों की स्तुति करते थे। उन्होंने कहा कि 'भारत को निद्रा से जगाने का काम श्रीमती एनी बेसेण्ट ने किया तथा जब तक भारत जीवित है तब तक उनकी महान सेवाये भी जीवित रहेगी।'

श्रीमती बेसेण्ट के सहयोगी एव प्रशसक तो उनके गुणों का गान करते थे। प्रत्युत धार्मिक मतभेद वाले भी उनके प्रतिकृतज्ञता ज्ञापित करते थे। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था- ' श्रीमती बेसेण्ट हमारी मातृभूमि की सच्ची सेविका हैं। इस देश के उत्थान के लिए उन्होंने पूरी शक्ति लगा दी है, इनके प्रति भारत का सच्चा संतान सदा के लिए कृतज्ञ रहेगा।'

सन्दर्भ

1- आत्मकथा, एनी बेसेण्ट, द थियोसॉफिकल पब्लिशिग हाउस, अडयार, मद्रास , तृतीय सस्करण पुन मुद्रित 1995 पृ0 6

2- वही पृ0 3

3- वही पृ04

4- वही पृ0 66

5- वही पृ0 73

6- वही पृ0 81

7- वही पृ0 115-116

8- वही, पृ0 123

9- वही पृ0 124-125

10- वही पृ0 132-133

11- वही पृ0 136

12- वही पृ0 145

13- वही पृ0 160

14- वही पृ0 183

15- वही पृ0 190

16- वही पृ0 279

17- वही

18- वही पृ0 281

19- वही पृ0 194

20- वही पृ0 301

21- वही पृ0 310

22- वही

23- वही पृ0 326

24- वही पृ0 332

****

अध्याय-4

स्वामी विवेकानन्द एवं डॉ0 एनी बेसेण्ट के दार्शनिक विचार

****

स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचार

दार्शनिक चितन के अन्तर्गत तत्वमीमासा, ज्ञान मीमासा और मूल्य मीमासा का अध्ययन किया जाता है। अत हम विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों की विवेचना इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत करते है। दार्शनिक आधार ही शिक्षा दर्शन का आधार होता है। इसलिए स्वामीजी के शिक्षा-दर्शन को जानने के पूर्व दार्शनिक आधार जानना आवश्यक है।

तत्व मीमांसा

इसमे तत्व, सत्ता, सत्य, यथार्थ आदि के विषय में अध्ययन किया जाता है। प्रस्तुत अध्याय में हम विवेकानन्द के परमसत्, ईश्वर , आत्मा तथा जगत विषयक विचारों का अध्ययन करते हैं।

परमसत्

विवेकानन्द परमसत् और ब्रह्म को एक मानते हैं। एकमात्र सत्सत्ता, केवल उसी का अस्तित्व है। अन्य हर एक पदार्थ का अस्तित्व उसी मात्रा मे है, जिस मात्रा में वह इस सत्ता को प्रतिभास्ति करता है। यद्यपि विवेकानन्द ने विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों का सम्यक् अध्ययन किया था परन्तु वे शकराचार्य के अद्वैत वेदान्त से अधिक प्रभावित थे। अत· उनके मत में परम सत् केवल एक है। उसको अलग अलग दृष्टिकोण से देखने पर बहु रूप में दिखाई देता है। सन् 1896 में न्यूयार्क मे 'बहुरूप में प्रतीयमान एक सत्ता' विषयक व्याख्यान में परम सत् का निरूपण इस प्रकार किया है -

'समग्र जगत् में केवल एक ही सत्ता विद्यमान है, तथा वही एक सत्ता इन्द्रियों के माध्यम से दिखाई पड़ने पर जगत् कहलाती है। मन के माध्यम से देखे जाने पर भावजगत् कहते हैं तथा उसके यथार्थ स्वरूप को जानने पर वह एक अनन्त सत् के रूप में प्रतीत होती है।'[1]

उन्होंने यह स्पष्ट किया कि अज्ञानी लोग इन्द्रियग्राह्य वस्तु को ही सर्वस्व मानते हैं अतः वे जगत् को ही सत्ता मानते हैं। जब व्यक्ति ज्ञान में अपेक्षाकृत उन्नत

होता है, तब वह उस सत् को ही भाव जगत् कहने लगता है। तथा जब पूर्ण ज्ञान का उदय होता है तो सारा भ्रम उड़ जाता है और तब मनुष्य देखता है कि यह सब आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। 'मै वही एक सत्ता हूँ' यही कहता है।

विवेकानन्द ब्रह्म को अज्ञेय मानते है। क्योंकि जो सबका ज्ञाता है, जो सब ज्ञानों का आधार है उसे किस प्रकार जाना जा सकता है, परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि स्वामी जी स्पेसर की तरह अज्ञेयवादी है। वे स्पष्ट शब्दों मे कहते है कि- ब्रह्म न ज्ञेय है और न अज्ञेय वह दोनों की अपेक्षा अनन्त गुना ऊँचा है। इसको उन्होंने निम्नलिखित दृष्टान्त द्वारा समझाया है-

'सामने यह कुर्सी है , इसे मैं जानता हूँ, यह मेरा ज्ञात पदार्थ है। और आकाश तत्व के परे क्या है, वहाँ लोग रहते है या नहीं, यह बात शायद बिल्कुल अज्ञेय है। पर ब्रह्म इन दोनो विषयों की भाँति ज्ञात और अज्ञेय नहीं है।'[2]

कुर्सी हमारे लिए ज्ञात है, पर ईश्वर तो इससे अत्यधिक ज्ञात है, क्योंकि पहले उसे जानकर उसी के माध्यम से हमे कुर्सी का ज्ञान प्राप्त करना होता है। ब्रह्म साक्षी स्वरूप है, समस्त ज्ञान का वह शाश्वत साक्षी स्वरूप है। वही हमारी आत्मा का सारसत्तास्वरूप है। ब्रह्म को ज्ञेय इसलिए भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ज्ञान का विषयीकरण किया जाता है। वस्तु को बाहर लाकर विषय की भाँति प्रत्यक्ष करना होता है। उदाहरणार्थ- स्मरण करने में व्यक्ति बहुत सी वस्तुओ को 'विषयीकृत' करता है- सभी प्रकार की स्मृति जो कुछ उसने देखा है और जो कुछ वह जानना है, सभी उसके मन में अवस्थित है। इन सब वस्तुओं की छाप तथा चित्र उस व्यक्ति के भीतर स्थित है। जब व्यक्ति इनके विषय में सोचने की इच्छा करता है, उनको जानना चाहता है तो पहले इन सबको बाहर प्रक्षिप्त करना पड़ता है। ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसा करना असम्भव है, क्योंकि वह हमारी आत्मा की आत्मा है, हम उसे बाहर प्रक्षिप्त नहीं कर सकते। छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म की सारसत्ता का निरूपण इन शब्दों में किया गया है-

'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद सर्वं तत् सत्य स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो'[3]

अर्थात् वह (ब्रह्म) सारस्वरूप जगत् का कारण है, सकल वस्तुओं की आत्मा है, वही सत्यस्वरूप है, हे श्वेतकेतो, वही तू है।

जब ब्रह्म अज्ञेय, अनिवर्चनीय व अवर्णनीय है तो यह निश्चित है कि उसके विषय मे किसी भी प्रकार के विशेषणों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। फिर भी वह ब्रह्म को सत् चित् और आनन्द शब्दों से अभिहित करते हैं। वे कहते हैं कि सत् चित् और आनन्द ब्रह्म के गुण नहीं है। अपितु वे स्वयं ब्रह्म है। वे तीन पृथक वस्तुए अथवा सत्ताएं नहीं है। वास्तव मे वे तीन होते हुए भी एक है। परम सत् की सर्वोपरि अभिव्यक्ति ईश्वर अथवा सर्वोच्च शासक के रूप मे, सर्वोच्च और सर्वशक्तिमान जीवन या ऊँर्जा के रूप में हुई है। परम ज्ञान अपनी सर्वोच्च अभिव्यक्ति परम प्रभु के प्रति अनन्त प्रेम में कर रहा है। इसी प्रकार परम आनन्द की अभिव्यक्ति परम प्रभु में अनन्त सौन्दर्य के रूप में होती है। आत्मा का सर्वोपरि आकर्षण वही है। अत ब्रह्म सत्यम् शिवम् सुन्दरम् है। बुद्धि उसी निगुर्ण की अवधारणा इस विश्व के स्रष्टा, पालनकर्ता शासक और संहारक के रूप मे, उसके उपादान और निमित्त कारण के रूप में, परम शासक के रूप मे - जीवनमय , प्रेममय , परम सौन्दर्यमय के रूप में करती है। अत वह ब्रह्म सच्चिदानन्द निगुर्ण और यथार्थ अनन्त है।

उच्चतम से लेकर निम्नतम प्रत्येक सत्ता अपनी अपनी कोटि के अनुरूप ऊर्जा (उच्चतर जीवन मे) आकर्षण (उच्चतर प्रेम में) और साम्यावस्था के लिए संघर्ष की (उच्चतर आनन्द में) अभिव्यक्ति करता है।

विवेकानन्द के शब्दों मे- 'वही एक मात्र ज्ञाता है- एक मात्र स्वयं प्रकाश- चेतना की ज्योति। अन्य प्रत्येक पदार्थ उसी से प्राप्त उधार ली हुई ज्योति से ज्योतित है। अन्य हर पदार्थ उतना ही ज्ञान प्राप्त कर पाता है, जितना वह उसके ज्ञान को प्रतिबिम्बित करता है।'[4]

अत हम कह सकते है कि ब्रह्म अविकल, गुणातीत व सुख-दुख विनिर्मुक्त है, न वह जड़ है , न चेतन। वह सर्वोपरि है, अनन्त है, निर्गुण आत्मा हर वस्तु मे व्याप्त है, वह विश्व की अनन्त आत्मा है। ब्रह्म मे देश-काल-निमित्त है ही नहीं, क्योंकि वह एकमेवाद्वितीयं है। अपनी सत्ता का जो स्वयं ही आधार है, उसका कोई कारण नहीं हो सकता। इस तरह विवेकानन्द अद्वैतवादी दार्शनिकों की तरह परम सत् या सर्वोच्च सत्ता 'ब्रह्म' को ही मानते है। उनका वेदान्त का ब्रह्म न तो हेगल का स्थूल परम तत्व है, न माध्यमिकों का शून्य और न योगाचारियों का आलय-विज्ञान। उन्होंने अद्वैत वेदान्त के अनुयायी होने के कारण ब्रह्म की निरपेक्ष,निर्विशेष एव निर्गुण सत्ता को स्वीकारा है।

ईश्वर

अद्वैत वेदान्ती होने के कारण विवेकानन्द ईश्वर को उतना ही सत्य मानते है जितना विश्व की अन्य कोई वस्तु। उन्होंने ईश्वर को व्यष्टियों की समष्टि बताया साथ ही वह एक व्यष्टि भी है । उन्हीं के शब्दों मे-

'ईश्वर व्यष्टियों की समष्टि है, और साथ ही वह एक व्यष्टि भी है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि मानव-शरीर इकाई होते हुए भी कोशिकाओं रूपी अनेक व्यष्टियों की समष्टि है। समष्टि ही ईश्वर है, और व्यष्टि ही जीव है। अतएव ईश्वर का अस्तित्व जीव के अस्तित्व पर निर्भर है, जैसा कि शरीर का कोशिकाओं पर , और इसका विलोम भी सत्य है। इस प्रकार जीव और ईश्वर सह अस्तित्वमान है, यदि एक का अस्तित्व है, तो दूसरे का होगा ही।'[5]

समष्टिस्वरूप होने के कारण सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता ईश्वर के प्रत्यक्ष गुण है। इन गुणों को सिद्ध करने के लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मसूत्र में ईश्वर का विवेचन 'जन्माद्यस्य यत.'[6] के रूप में दिया गया है। अर्थात् 'जिससे विश्व का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है' वही ईश्वर है। वह अनन्त, शुद्ध, नित्य, मुक्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ , परम कारुणिक और गुरुओं का भी गुरु है, और सर्वोपरि वह ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है। ब्रह्मसूत्र मे दी गयी ईश्वर की परिभाषा से प्रतीत होता है कि ईश्वर सगुण है। जबकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार परम सत् एक है और वह निरपेक्ष तथा निर्गुण है। प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर सगुण और निर्गुण दो हैं?

इस प्रश्न का उत्तर स्वामी विवेकानन्द इस प्रकार देते हैं- '. वह सच्चिदानन्द ही यह प्रेममय भगवान है, वह सगुण और निर्गुण दोनों है। यह सदेव ध्यान में रखना चाहिए कि भक्त का उपास्य सगुण ईश्वर , ब्रह्म से भिन्न अथवा पृथक नहीं है। सब कुछ वही एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है। पर हाँ, ब्रह्म का यह निर्गुण निरपेक्ष स्वरूप अत्यंत

सूक्ष्म होने के कारण प्रेम एव उपासना के योग्य नहीं।'[7]

ईश्वर और ब्रह्म के स्वरूप को बहुत उपयुक्त उदाहरण से समझाने का प्रयास स्वामी जी ने किया है। 'ब्रह्म मानो मिट्टी या उपादान के सदृश है, जिससे नाना प्रकार की वस्तुए निर्मित हुई है। मिट्टी के रूप मे तो वे सब एक हैं, पर उनका आकार या अभिव्यक्ति उन्हे भिन्न कर देती है। उत्पत्ति के पूर्व वे सबकी सब मिट्टी मे अव्यक्त भाव से विद्यमान थीं। उपादान की दृष्टि से अवश्य वे सब एक है, पर जब वे भिन्न भिन्न आकार धारण कर लेती है और जब तक वह आकार बना रहता है तब तक वे पृथक्-पृथक् ही प्रतीत होती है। एक मिट्टी का चूहा कभी मिट्टी का हाथी नहीं हो सकता क्योंकि गढ जाने के बाद उनकी आकृति ही उनमें विशेषत्व पैदा कर देती है, यद्यपि आकृतिहीन मिट्टी की दशा मे वे दोनों एक ही थे। ईश्वर उस निरपेक्ष सत्ता की उच्चतम अभिव्यक्ति है, या दूसरे शब्दों में **मानव मन निरपेक्ष सत्य की जो उच्चतम धारणा कर सकता है, वही ईश्वर है। सृष्टि अनादि है, और उसी प्रकार ईश्वर भी अनादि है।**'[8]

विवेकानन्द ने ईश्वर के स्वरूप को समझाते हुए कहा है 'ईश्वर एक वृत्त है जिसकी परिधि कहीं नही है और केन्द्र सर्वत्र है। उस वृत्त में प्रत्येक बिन्दु सजीव, सचेतन, सक्रिय और समान रूप से क्रियाशील है। हम सीमित आत्माओं में केवल एक बिन्दु सचेतन है और वह केन्द्र आगे पीछे गतिशील रहता है। जिस प्रकार विश्व की तुलना में शरीर की सत्ता अत्यल्प है, उसी प्रकार ईश्वर की तुलना में समस्त विश्व कुछ नहीं है।'[9]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विवेकानन्द सगुण एवं निर्गुण ईश्वर में विश्वास करते है। उनके विचार में ईश्वर एक ही है एक ही साथ सगुण भी और निर्गुण भी। प्रत्येक आत्मा सगुणीकृत निर्गुण आत्मा है। जबकि व्यक्ति ईश्वर का निरपेक्ष अर्थ म प्रयोग करता है तब वह निर्गुण है और जब वह सापेक्षिक अर्थ में प्रयोग करता है

तो वह सगुण है। प्रत्येक विश्वात्मा है और प्रत्येक सर्वव्यापक है। सम्पूर्ण विश्व एक ही सत्ता है। उसी को ब्रह्म कहते है। वही सत्ता जब विश्व के मूल मे प्रकट होती है तो उसी को ईश्वर कहा जाता है। वही सत्ता जब इस लघु विश्व अर्थात् शरीर के मूल मे प्रगट होती है तो आत्मा कहलाती है। सार्वभौम आत्मा जो प्रकृति के सार्वभौम विकारों से परे है वही ईश्वर परमेश्वर है। विवेकानन्द ने ईश्वर के दोनों स्वरूपों अर्थात् सगुण और निर्गुण को स्वीकार करते हुए यह स्पष्ट किया है कि अतिम सत् एक और केवल एक है। ईश्वर के कार्यो का विवेचन करते हुए स्वीकार किया कि ईश्वर इस सृष्टि का कर्ता, धर्ता और हर्ता तीनों है।

आत्मा

व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से आत्मा शब्द 'अन्' धातु मे प्रत्यय लगकर बना है। अन् धातु का अर्थ श्वास लेना है। इस प्रकार 'आत्मा' से अर्थ जीवन का श्वास लगाया जाता है। ऋग्वेद के 'आत्मा ते तात '[10] से भी यही अर्थ निकलता है। धीरे-धीरे इसके अर्थ का विस्तार होता गया और इससे जीवन, आत्म या व्यक्ति की मूल सत्ता का बोध होने लगा। शकराचार्य ने आत्मा का अर्थ प्राप्त करना, उपभोग करना या सबमे व्याप्त होना माना है। यथा - आप्नोतरत्तेरततेर्वा[11] अर्थात् आत्मा मनुष्य के जीवन का तत्व है जो उसकी सत्ता मे , प्राण मे, प्रज्ञा मे व्याप्त है और उनसे परे है। ऋग्वेद मे एक ओर आत्मा का प्रयोग जगत के मूल तत्व के लिए किया गया था और दूसरी ओर मनुष्य के प्राणवायु के अर्थ मे। उपनिषदों मे ब्रह्म और आत्मा शब्दों का प्रयोग प्राय समानार्थी किया गया है। यथा - 'तद्ब्रह्मस आत्मा।[12] छान्दोग्य उपनिषद[13] मे आत्मा के तीन रूप मिलते है। (1) शारीरिक आत्मा (2) जीवात्मा (3) सर्वोच्च आत्मा या परमात्मा।

अन्य पुरुष के नेत्र मे पुत्र का दर्शन शारीरिक आत्मा है। स्वप्न में आनन्द का अनुभव करते हुए विचरण करना जीवात्मा है। इस स्वरूप में शरीर से कोई सम्बंध नहीं है। जब जीव सुप्त होता हुआ आनन्द की ऐसी ऊँची स्थिति को प्राप्त कर लेता है कि उसे किसी स्वप्निक विचार का ज्ञान नहीं होता तो वह आत्मा का तीसरा स्वरूप अर्थात् सर्वोच्च आत्मा होता है।

शंकराचार्य के अनुसार आत्मा मन और बुद्धि की सब परिवर्तित होने वाली दशाओं से भिन्न है। उन सब मे वर्तमान रहकर उनकी साक्षी है। आत्मा सदा साक्षी रूप में अनुभूत होने के कारण चेतना स्वरूप है। शंकर ने आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन बड़ी दृढ़ता व स्पष्टता के साथ किया है।

यद्यपि विवेकानन्द ने 'आत्मा' की व्याख्या अद्वैत वेदान्त के अनुसार दी है। परन्तु उन्होंने द्वैत व विशिष्टाद्वैत में दी गयी व्याख्या को भी सही माना है। वह यह

स्वीकार करते है कि साधारण बुद्धि के लोग अद्वैत के विचार को ग्रहण नहीं कर सकते। अत उनके लिए अद्वैत भाव द्वारा 'आत्मा' की व्याख्या करना ही उपयुक्त है। द्वैतवादी मानते है कि विश्व का सर्जक और शासक ईश्वर शाश्वत रूप से प्रकृति और जीवात्मा से पृथक् है। ईश्वर, प्रकृति तथा सभी आत्माए नित्य हैं। प्रकृति तथा जीवात्माओं की अभिव्यक्ति होती है एव उनमे परिवर्तन होते है, परन्तु ईश्वर मे परिवर्तन नहीं होता। इनके अनुसार ईश्वर सगुण है, उसके शरीर नहीं है पर उसमें मानवीय गुण हैं जैसे वह दयावान, न्यायवान, सर्वशक्तिमान है। वह मनुष्य से अनन्त गुना बड़ा है, तथा मनुष्य में जो दोष है, उससे वह परे है। वह अनन्त शुभगुणों का भण्डार है। जीवात्मा कार्य कारण से बधी हुई है। और इसीलिए जीवात्मा अपने कष्टें के लिए स्वयं उत्तरदायी है। द्वैतवादी यह मानते हैं कि सभी आत्माए कभी न कभी मोक्ष को प्राप्त कर ही लेंगी। नाना प्रकार के उत्थान पतन तथा सुख दुख के भोग के उपरात अन्त में ये सभी आत्माए मुक्त हो जायेगी। इनके विचार मे ईश्वर ही सभी आत्माओं के आकर्षण का केन्द्र है। उदाहरणार्थ- अगर कोई सुई मिट्टी से ढ़की हो तो उस पर चुम्बक का प्रभाव न होगा, पर ज्यों ही उस पर से मिट्टी को हटा दिया जायेगा, त्यों ही वह चुम्बक की ओर आकृष्ट हो जायेगी। ईश्वर चुम्बक है और मनुष्य की आत्मा सुई, पापरूपी मल इसको ढके रहता है। जैसे ही कोई आत्मा इस मल से रहित हो जाती है। वैसे ही प्राकृतिक आकर्षण से वह ईश्वर के पास चली जाती है, और सनातन रूप से उसके साथ रहने लगती है इनके अनुसार पूर्ण आत्मा चाहे तो कोई भी रूप ग्रहण कर सकती है,सैकड़ों शरीर धारण कर सकती है। यह लगभग शक्तिमती हो जाती है परन्तु यह सृष्टि नहीं कर सकती। पूर्ण आत्माए सदा आनन्द से ईश्वर के साथ रहती है।

विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं कि 'ईश्वर, प्रकृति एव आत्मा एक है। ईश्वर मानो जीव है और प्रकृति तथा आत्मा उसके शरीर। जिस तरह व्यक्ति का एक शरीर तथा आत्मा है ठीक उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व एव सारी आत्माएं ईश्वर के शरीर है और ईश्वर सारी आत्माओं की आत्मा है। एक ही शाश्वत सत्ता शरीर के माध्यम से सदा अभिव्यक्त होती है। शरीर आता जाता है पर आत्मा कभी परिवर्तित नहीं होती। ।

द्वैतवादी एव विशिष्टाद्वैतवादी यह मानते है कि **आत्मा स्वभावतः पवित्र है।** किन्तु अपने कर्मो से यह अपने को अपवित्र बना लेती है'[14] विशिष्टाद्वैतवादी कहते है कि आत्मा की पवित्रता एव पूर्णता कभी सकुचित हो जाती है और कभी विस्तीर्ण । आत्मा के अनेक गुण है पर उसमे सर्वशक्तिमत्ता या सर्वज्ञता नहीं है। आत्माए सीमित है, वे सर्वव्यापी नहीं है। जब उनकी शक्तियों का विस्तार होता है और वे पूर्ण हो जाती है, तो जरा-मरण के चक्र से मुक्ति पा जाती है और सदा के लिए ईश्वर मे ही वास करती है।

अद्वैतवादी विवेकानन्द कहते है कि अगर ईश्वर है तो वह सृष्टि का **निमित्त तथा उपादान** दोनों है। वह केवल स्रष्टा नहीं, अपितु सृष्टि भी है। वह स्वय ही विश्व है। सत्ता केवल एक है और वह अनादि , अनन्त और शाश्वत है। एक आत्मा ही है, जो इन सारी चीजों से परे है, जो अपरिमेय है, जो ज्ञात से तथा ज्ञेय से भी परे है। हम उसी मे तथा उसी के माध्यम से विश्व को देखते है। आत्मा का कोई लिग नहीं। हर व्यक्ति, हर वस्तु शुद्ध आत्मा है, जो पवित्र है, लिगहीन है तथा शाश्वत शिव है। यह सारा विश्व एक शाश्वत सत्ता, आत्मा की प्रतिच्छाया मात्र है। विवेकानन्द भी शकराचार्य की तरह ब्रह्म और आत्मा को एक मानते है। क्योंकि उन्होंने आत्मा का जो स्वरूप बताया है वही स्वरूप ब्रह्म का भी निरूपित किया है। आत्मा और ब्रह्म अनादि,अनन्त और शाश्वत है।वह भगवद्गीता में वर्णित आत्मा के स्वरूप 'अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे' का ही प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार - 'वस्तुत· एक ही सत्ता या आत्मा अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसका न तो आना होता है न जाना। न यह पैदा होती है और न मरती है और न पुन. अवतरित होती है।'

विवेकानन्द ने स्पष्ट घोषणा की कि 'ब्रह्म ही हमारी वास्तविक आत्मा है।'[15] क्योंकि विश्व में केवल एक ही वस्तु सत्य है, और वह है ब्रह्म। ब्रह्मेतर समस्त वस्तुएँ मिथ्या है, ब्रह्म ही उन्हे माया के योग से बनाता एवं अभिव्यक्त करता है। प्रत्येक

वही ब्रह्म है, वही परम तत्व, पर माया से युक्त। माया या अज्ञान से मुक्त होने पर व्यक्ति अपने असली स्वरूप को पहचान सकता है। अद्वैतवादी मानते है कि मानव तीन तत्वों से बना है, देह, अन्तरिन्द्रिय अथवा मन, और आत्मा जो इन सबसे पीछे है। शरीर आत्मा का बाहरी आवरण है और मन भीतरी। यह आत्मा ही वस्तुत द्रष्टा और भोक्ता है तथा शरीर मे बैठी बैठी मन के द्वारा शरीर को सचालित करती रहती है।

आत्मा की अमरता को स्वामी जी ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस प्रकार सिद्ध किया है । 'मानव शरीर में आत्मा का ही एकमात्र अस्तित्व है और चूंकि यह आत्मा चेतन है, इसलिए यह (यौगिक) नहीं हो सकती। और चूंकि यह यौगिक नहीं है, इसलिए इस पर कार्य कारण का नियम नहीं लागू हो सकता। अत यह अमर है। जो अमर है, उसका कोई आदि नहीं हो सकता, क्योंकि जिस वस्तु का आदि होता है, उसका अत भी सम्भव है। अत आत्मा का कोई रूप नहीं है, क्योंकि रूप भौतिक द्रव्यों के बिना सम्भव नहीं। रूपाकार की सृष्टि शक्ति एव भौतिक द्रव्य के सयोग से होती है। अत आत्मा का कोई रूप नहीं है इसलिए वह आदि और अत से परे है। इसका अस्तित्व अनादि काल से है। चूंकि आत्मा का कोई रूप नहीं है इसलिए यह सर्वव्यापक है। किन्तु आत्मा, शरीर और मन के माध्यम से ही काम करती है अत जहाँ शरीर और मन है, वहीं उसका कार्य दृष्टिगोचर होता है।'

आत्मा के स्वरूप की व्याख्या के साथ ही विवेकानन्द ने आत्मा के लक्ष्य की भी युक्तिपूर्ण ढंग से विवेचना की है। विवेकानन्द जब भी किसी समस्या पर विचार करते थे तब वे लगभग सभी धर्मो व सम्प्रदायों के दृष्टिकोण को बताते हुए अद्वैव वेदान्त के द्वारा अपने मत की पुष्टि करते हुए प्रतीत होते हैं। आत्मा के लक्ष्य को स्पष्ट करते समय भी उन्होंने कहा कि भारत में सभी विभिन्न सम्प्रदाय यह मानते है कि आत्मा का लक्ष्य एक ही है- मुक्ति। मुक्ति क्या है? इसको विवेकानन्द ने इस तरह व्याख्यादित किया है-

'मनुष्य असीम है, किन्तु अभी जिस सीमा मे उसका अस्तित्व है, वह उसका स्वरूप नहीं है। किन्तु वह इन सीमाओं के मध्य अनन्त, असीम, अपने जन्मसिद्ध अधिकार, अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेने तक आगे और बढने के निमित्त सघर्ष कर रहा है। शुभ और अशुभ, हास्य और अश्रु, हर्ष और शोक जैसे सघात उन अनुभवों को प्राप्त करने मे हमारी सहायता के लिए है, जिनके माध्यम से आत्मा अपने परिपूर्ण स्वरूप को व्यक्त करती और सीमितता को निकाल बाहर करती है। तब वह समस्त नियमों, समस्त सीमाओं, समस्त प्रकृति के परे चली जाती है।.... आत्मा का यही एक लक्ष्य है और उस लक्ष्य - मुक्ति को प्राप्त करने मे वह जिन समस्त क्रमागत सोपानों मे व्यक्त होती तथा समस्त अनुभवों के मध्य गुजरती है, वे सब उसके जन्म माने जाते है।'

उपरोक्त तथ्य को विवेकानन्द ने एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया है- 'जैसे मनुष्य अपने हाथ में पुस्तक लेकर एक पृष्ठ पढकर उसे उलट देता है, दूसरे पृष्ट पर जाता है, पढ़कर उसे उलट देता है, आदि, किन्तु ऐसा होने में पुस्तक पलटी जा रही है, पन्ने उलट रहे हैं मनुष्य नहीं- वह सदा वही विद्यमान रहता है, जहाँ वह है और ऐसा ही आत्मा के सम्बध मे सत्य है। सम्पूर्ण प्रकृति ही वह पुस्तक है, जिसे आत्मा पढ़ रही है। और प्रत्येक जन्म उस पुस्तक का एक पृष्ठ जैसा है।'[16]

एक तरफ विवेकानन्द कहते है कि आत्मा स्वभावत. शुद्ध, मुक्त, पवित्र व अजन्मा है तो यह प्रश्न उठता है कि आत्मा का लक्ष्य- मुक्ति से क्या तात्पर्य है? इस प्रश्न का उत्तर भी विवेकानन्द अत्यंत सुविचारित एवं युक्तिसंगत भाषा में इस प्रकार देते हैं- 'प्रत्येक आत्मा शुद्ध और पूर्ण , सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है, किन्तु बाह्य रूप में वह स्वयं को केवल अपने मन के अनुरूप ही व्यक्त कर सकती है। मन आत्मा का प्रतिबिम्बक दर्पण जैसा है। मेरा मन एक निश्चित सीमा तक मेरी आत्मा की शक्तियाँ को प्रतिबिम्बित करता है, इसी प्रकार तुम्हारा मन और हर किसी का मन अपनी शक्तियों को करता है। जो दर्पण अधिक निर्मल होता है, वह आत्मा को अधिक अच्छी तरह

प्रतिबिम्बित करता है। अत आत्मा की अभिव्यक्ति मन के अनुरूप विविधता मय होती किन्तु आत्माए स्वरूपत शुद्ध और पूर्ण होती है।'

जब व्यक्ति को आत्मा के इस स्वरूप का भान हो जाता है और उसका मन जैसे जैसे निर्मल होता जाता है वह आत्मा का अधिक उत्तम प्रतिबिम्ब देने लगता है। यह इसी प्रकार चलता रहता है और अन्तत वह इतना शुद्ध हो जाता है कि आत्मा के गुण का पूर्ण प्रतिबिम्बन कर सकता है, तब आत्मा मुक्त हो जाती है। इस प्रक्रिया मे परिवर्तन आत्मा मे नहीं आ रहा है बल्कि मन मे, प्रकृति में। जब तक व्यक्ति यह समझता है कि वह प्रकृति के अधीन है तब तक वह बंधन में है। मनुष्य भ्रमवश सोचता है कि प्रकृति नहीं बल्कि वह गतिशील है, तब तक वह बधन मे है। किन्तु जब उसे यह पता चल जाता है कि वह सर्वव्यापक एव अनन्त है, तो वह मुक्ति का अनुभव करता है और अपने मन रूपी दर्पण को पूर्णतया शुद्ध व पवित्र बनाता है। और अपने मूल स्वरूप अर्थात् तत्वमसि के रहस्य को जान जाता है यही आत्मा की मुक्ति है। इस तथ्य को विवेकानन्द ने निम्नलिखित उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयास किया है-

'कल्पना करो कि यहाँ एक पर्दा है, और पर्दे के पीछे आश्चर्यजनक दृश्यावली है। पर्दे में एक छोटा सा छेद है , जिसके द्वारा हम पीछे स्थित दृश्य के एक क्षुद्र अंशमात्र की झलक पा सकते हैं। कल्पना करो कि वह छेद आकार में बढ़ता जाता है। छेद के आकार में वृद्धि के साथ पीछे स्थित दृश्य दृष्टि के क्षेत्र में अधिकाधिक आता है, और जब पूरा पर्दा विलुप्त हो जाता है तो तुम्हारे तथा उस दृश्य के मध्य कुछ भी नहीं रह जाता, तब तुम उसे सम्पूर्ण देख सकते हो।[37] पर्दा मनुष्य का मन है उसके पीछे आत्मा की गरिमा, पूर्णता, और अनन्त शक्ति है; जैसे जैसे मन उत्तरोत्तर अधिकाधिक निर्मल होता जाता है , आत्मा की गरिमा भी स्वयं को अधिकाधिक व्यक्त करती है। इसमें आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है बल्कि पर्दे रूपी मन में। जिस प्रकार हमें ऑख के होने का ज्ञान उसके कार्यो द्वारा ही होता है, उसी प्रकार हम आत्मा को

बिना उसके कार्यो के नहीं देख सकते। इसे इन्द्रियगम्य अनुभूति के निम्न स्तर पर नहीं लाया जा सकता। यह विश्व की प्रत्येक वस्तु का अधिष्ठान है, यद्यपि यह स्वय अधिष्ठानरहित है। जब व्यक्ति को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि वह आत्मा है, तो वह. मुक्त हो जाता है। आत्मा अपरिवर्तित है। इस पर किसी कारण का प्रभाव नहीं पड सकता, क्योंकि वह स्वय कारण है। यदि व्यक्ति स्वय मे कोई ऐसी चीज प्राप्त कर ले, जो किसी कारण से प्रभावित नहीं होती , तो उसने आत्मा को जान लिया।

मुक्ति का अमरता से अविच्छिन्न सम्बध है। मुक्त होने के लिए व्यक्ति को प्रकृति के नियमों से परे होना पड़ता है। नियम तभी तक है जब तक हम अज्ञानी है। जब व्यक्ति को ज्ञान होता है, तो उसे लगता है कि नियम उसके भीतर की मुक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इच्छा कभी मुक्त नहीं हो सकती, क्योंकि वह कार्य और कारण की दासी है। किन्तु इच्छा के पीछे रहने वाला 'अह' मुक्त है और यही आत्मा है। मैं मुक्त हूँ- यह वह आधार है जिस पर अपना जीवन निर्मित करके उसका यापन करना चाहिए। मुक्ति का अर्थ है अमरता।

इस प्रकार विवेकानन्द के विचार से आत्मा अपरिवर्तनशील, अमर, शुद्ध, मुक्त तथा सदामगलमय है। सभी प्राणियों मे उसी शुद्ध और पूर्ण आत्मा का अस्तित्व है। आत्मा भौतिक तत्वों से निर्मित न होने के कारण अविभाज्य इकाई है। इसलिए वह अनिवार्यत अविनाशी है , अनादि और अनन्त है। अनन्त एक होता है अनेक नहीं। अनन्त आत्मा अनेक आत्माओं के रूप में प्रतीत होने वाले असख्य दर्पणों मे प्रतिबिम्बित हो रही है। यही अनन्त आत्मा विश्व का आधार है। प्रत्येक आत्मा का लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है। अर्थात मन रूपी दर्पण से ही आत्मा प्रतिबिम्बित होती है। मन जितना शुद्ध व निर्मल होगा प्रतिबिम्ब उतना ही स्पष्ट होगा। अत· मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है मन को पूर्णतया निर्मल बनाना जिससे वह आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप को अनुभव कर सके 'अहब्रह्मास्मि' ।

जगत

'असतो मा सद् गमय' उपनिषद् की इस प्रार्थना से यह अर्थ समझना असगत नहीं होगा कि प्रार्थी जगत् की असत्यता से सत् की ओर जाने की इच्छा कर रहा है। अर्थात् वह इन्द्रियग्राह्य जगत् के परे जो शाश्वत् सत् है उसको प्राप्त करने की कामना कर रहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् और ईश उपनिषद् सत्य को स्वर्ण की थाली से ढ़का बताती है। और ईश्वर से प्रार्थना करती है कि वह आवरण को उठा ले और हमे सत्य को देखने दे। ठीक इसी प्रकार की प्रार्थना श्वेताश्वर उपनिषद् मे वर्णित है। इसके अनुसार ईश उपासना द्वारा ही व्यक्ति विश्व माया से निवृत्ति पा सकता है। छान्दोग्य उपनिषद् भी कुछ इसी प्रकार के विचार प्रतिपादित करती है। इसके विचार मे असत्य का आवरण परम सत् को हमसे ऐसे छिपाए हैं जैसे कि मिट्टी की ऊपरी तह अपने नीचे गड़े खजाने को छिपाए रहती है।

उपनिषदों मे वर्णित जगत की व्याख्या से यह तो स्पष्ट है कि जगत सत्य नहीं है। यह ब्रह्म पर आधारित है। यह ब्रह्म मे से आविर्भूत होता है और उसी मे समाहित हो जाता है। जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि से एक ही तरह की हजारों चिनगारियाँ फूटती हैं, उसी प्रकार निर्विकार से बहुत तरह की सत्ताएं उत्पन्न होती हैं और उसी में लौट भी जाती हैं।

चूँकि विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों का आधार वेदान्त है अतः जगत सम्बंधी उनकी धारणा भी उपनिषद् के मूल विचार 'जगत असत्य है' से मेल खाती है परन्तु जगत के स्वरूप की व्याख्या शकराचार्य के विचार के अधिक समीप है। अतः हम पहले शकराचार्य का मत प्रस्तुत करते हैं। शंकराचार्य ने जगत की तुलना एक महार्णव से की है। इनके अनुसार यह 'अविद्या, कामना और कर्म से उत्पन्न हुए दुःख रूप जल तथा तीव्र रोग, जरा और मृत्यु रूप महाग्राहों से पूर्ण है। यह अनादि, अनन्त, अपार एवं निरालम्ब है। विषय और इन्द्रियों के संयोग से होने वाला अणुमात्र सुख ही इसकी

क्षणिक विश्रन्तिका स्वरूप है। इसमे पाँचों इन्द्रियों की विषय तृष्णास्वरूप पवन के विक्षोभ से उठी हुई अनर्थ रूप सैकड़ो उत्ताल तरंगें है। इसमे महारौरव आदि नरकों के 'हान्हा' आदि क्रन्दन और चिल्लाहट से बड़ा कोलाहल मचा हुआ है। इसमे सत्य, सरलता, दान, दया, अहिसा, शम, दम, और धैर्य आदि जीव के गुण रूप पाथेय से भरी हुई ज्ञान रूप नौका है। सत्सग और सर्वत्याग ही इसमे नौकाओं के आने जाने का मार्ग है तथा मोक्ष ही इसका तट है।'[19]

यद्यपि जगत का यह अलंकारिक वर्णन व्यवस्थित एव पर्याप्त पूर्ण नहीं है फिर भी इससे जगत के विशिष्ट लक्षणों का अच्छा परिचय मिल जाता है। परमार्थ दृष्टि से तो शंकर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म एवं जगत मे अनन्यत्व होने के कारण कार्य कारणता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इस लिए शंकर दर्शन के अनुसार जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहा गया है, परिणाम नही। परन्तु कहीं कहीं शंकर परिणामवाद के समर्थक भी दिखाई देते हैं। जैसे - 'जब वे कहते हैं कि ईश्वर की त्रिगुणात्मक अपरा प्रकृति जीवों के उपभोग और मुक्ति के लिए कार्य करती हैं। वह अपने को इन सभी कार्यो, उपकरणों और वस्तुओं में रूपान्तरित करती है और शरीर तथा इन्द्रिय अवयवों का स्थूल रूप धारण करती है।'[19] इनके अनुसार विश्व ईश्वर की माया का रूपान्तर (परिणाम) है, ब्रह्म का आभास (विवर्त) है। ब्रह्म शुद्ध चेतन है। माया शक्ति से शवलित होने के कारण ब्रह्म जगत का कारण है और जगत कार्य है। आचार्य शंकर के शब्दों मे ' 'कार्यमाकाशादिक बहु प्रपंच जगत- कारण परं ब्रह्म'[20] तात्पर्य यह कि आकाशादि प्रपंच-मय जगत को कार्य तथा परब्रह्म को कारण कहा गया है। परन्तु ब्रह्म का जगत के कारण होने का अर्थ यह कदापि नहीं ग्रहण करना है कि ब्रह्म अथवा उसके धर्म में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है क्योंकि उत्पत्ति, रक्षा और प्रलयकाल में ब्रह्म अविकृत ही रहता है। अतः ब्रह्म को ही जगत का उपादान कारण कहा जा सकता है। माया शक्ति से विशिष्ट ब्रह्म जगत का उपादान कारण ही नहीं बल्कि निमित्त कारण भी है।

वास्तव में इन्द्रियानुभाविक जगत् का स्वरूप एक विशिष्ट प्रकार का है। इसे न तो नितान्त असत् न नितांत सत् और न केवल मानसिक रचना कहा जा सकता है। इसके स्वरूप का यथार्थ वर्णन करने के लिए हमे इसे नितांत सत् और नितांत असद् से भेद करना होगा। इसके सीमित, पराश्रित और परिवर्तनशील होने के कारण तथा इसका तर्कीय और अनुभव मूलक बोध हो सकने के कारण इसे सत् मानना सम्भव नहीं दिखाई देता किन्तु इसके साथ ही इसकी वस्तुगत प्रतीति होती है और इसमे स्थायित्व दिखाई देता है, इसलिए यह प्रतिभासित सत्ता से भी भिन्न है। 'सत्' और 'असत्' शब्द विपरीतार्थक हैं अत· यह कहना सम्भव नहीं है कि संसार सत् और असत् दोनों है। इसके विपरीत यह भी नहीं कहा जा सकता कि जगत् न सत् है और न असत् क्योंकि इसमें मध्य दशा परिहार के नियम का उल्लंघन होगा। अत शंकर ने इस विश्व के लिए अनिवर्चनीय शब्द का प्रयोग किया है। यह नानात्वपूर्ण विश्व न तो सत् है क्योंकि यह व्याघात का विषय है और न असत् क्योंकि इसकी स्पष्ट प्रतीति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसका न तो स्वतंत्र अस्तित्व है और न यह अस्तित्वहीन है । यह अस्तित्ववान और अनस्तित्ववाद दोनों भी नहीं है क्योंकि ये दोनों व्याघाती पद हैं। अत· यह अनिवर्चनीय है।

आचार्य शंकर के समान स्वामी विवेकानन्द भी सत्य को देश, काल और निमित्त से अनविच्छिन्न मानते हैं।

इस दृष्टि से वे जगत् की सत्य कोटि मतें गणना नहीं करते। क्योंकि देश कालादि का समूह ही तो जगत् है। जगत् के मिथ्यात्व के विषय में एक युक्ति देते हुए स्वामी जी कहते हैं कि सत्य कभी भी विषयीभूत नहीं हो सकता। जो कुछ इन्द्रिय ग्राह्य है वह सत्य नहीं है। सापेक्ष होने के कारण भी जगत् 'सत्' नहीं है। 'जगत् असत् है। जगत व ब्रह्म के स्वरूप को स्वामी विवेकानन्द ने अग्रांकित चित्र द्वारा समझाया है।

'इस चित्र में (क) ब्रह्म है और (ख) है जगत्। ब्रह्म ही जगत हो गया है। यहाँ पर जगत् शब्द से न केवल जड़-द्रव्य जगत ही नहीं, किन्तु सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक जगत्, स्वर्ग, नरक और वास्तव मे जो कुछ भी है, सबको इसके अन्तर्गत लिया गया है। विवेकानन्द ने मन को एक प्रकार के के परिणाम का नाम दिया है तथा शरीर एक दूसरे प्रकार का परिणाम है। इन सबको लेकर यह जगत निर्मित हुआ है। यह ब्रह्म (क) देश काल निमित्त (ग) में से होकर आने से जगत् (ख) बन गया है। हम देश काल निमित्त रूपी काँच में से ब्रह्म को देख रहे है, और इस प्रकार नीचे की ओर से देखने पर ब्रह्म हमे जगत् के रूप में दिखाई देता है। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ ब्रह्म है, वहाँ देश काल निमित्त नहीं है। काल वहाँ रह ही नहीं सकता, क्योंकि वहाँ कोई न मन है, न विचार। देश भी वहाँ नहीं रह सकता, क्योंकि वहाँ कोई बाह्य परिणाम नहीं है। जहाँ सत्ता केवल एक है, वहाँ गति एवं निमित्त अथवा कार्य कारण वाद भी नहीं रह सकता'।[21]

प्रश्न उठता है कि जब ब्रह्म अनन्त व असीम है तो वह सान्त अथवा ससीम कैसे हुआ? यह प्रश्न स्वविरोधी प्रतीत होता है। इसका उत्तर विवेकानन्द ने इस प्रकार दिया है- 'हम देखते हैं कि अनन्त सान्त कैसे हुआ, यह प्रश्न ही भ्रमात्मक एवं स्वविरोधी है। मान लो कि हमने इस प्रश्न का उत्तर जान लिया, तब क्या निरपेक्ष निरपेक्ष रह जायेगा? ऐसा होने पर वह सापेक्ष हो जायेगा।... यदि ब्रह्म मन के द्वारा सीमाबद्ध हो गया , तो फिर वह निरपेक्ष नहीं रह जायेगा, अतएव 'ब्रह्म को जानना' यह बात भी स्व विरोधी ही है। इसीलिए इस प्रश्न का उत्तर अब तक नहीं मिला, क्योंकि यदि उत्तर मिल जाये, तो वह ब्रह्म नहीं रहेगा। ब्रह्म को जाना नहीं जा सकता, वह सर्वदा ही अज्ञेय है।'[22]

जब विवेकानन्द देश काल निमित्त रूपी कांच से देखने पर ब्रह्म को जगत कहते हैं तब प्रश्न उठता है कि यह देश काल निमित्त क्या है? अद्वैतवाद का मर्म

तो यह है कि वस्तु एक ही है, दो नहीं। पर देश काल निमित्त के आवरण से नानारूपों में प्रकाशित यह जगत भी है और अनन्त सत्ता ब्रह्मा भी।तो क्या ये दो वस्तुए है, एक तो वह अनन्त ब्रह्म और दूसरी देश काल निमित्त की समष्टि अर्थात् माया। इसका उत्तर स्वामी विवेकानन्द ने युक्तिपूर्ण ढंग से इस प्रकार दिया है-

'पहले तो, यह नहीं कहा जा सकता कि काल, देश और निमित्त स्वतंत्र सत्ताएं है। हमारे मन के प्रत्येक परिवर्तन के साथ काल का भी परिवर्तन होता रहता है, अत उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।... हम देश का स्वरूप भी नहीं जान सकते। उसका निर्दिष्ट लक्षण करना असम्भव होने पर भी, 'वह है' इस बात को अस्वीकार करने का कोई उपाय नहीं है। फिर , वह अन्य किसी पदार्थ से पृथक् होकर नहीं रह सकता। निमित्त अथवा कार्य कारण वाद के सम्बंध में भी यही बात है। देश, काल और निमित्त में एक विशेषता यह देखते हैं कि वे अन्यान्य वस्तुओं से पृथक होकर नहीं रह सकते। इनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है।'[23]

उपरोक्त कथन इस बात की पुष्टि करता है कि अनन्त सत्ता एक है दो नहीं तो प्रश्न उठता है कि नानारूप में दृष्टिगोचर होने वाले जगत् का ब्रह्म से कैसा सम्बंध है? इस सम्बंध में विवेकानन्द ने एक उदाहरण द्वारा समझाया है। जैसे समुद्र और तरंग का सम्बंध है ठीक उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् का सम्बंध है। जैसे तरंग समुद्र से अभिन्न होते हुए भी पृथक् हैं ठीक इसी प्रकार जगत् भी ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी अलग है। इस विभिन्नता का कारण नाम और रूप है। जैसे हम तरंग को समुद्र से बिल्कुल पृथक रूप में नहीं सोच सकते उसी प्रकार जगत् को ब्रह्म से अलग नहीं मान सकते। जैसे यदि तरंग चली जाय, रूप भी अन्तर्हित हो जाये फिर भी हम तरंग को भ्रमात्मक नहीं कहेंगे। विवेकानन्द ने इसी को माया कहा।

विवेकानन्द के शब्दों में - 'अतएव यह समुदय जगत् मानों उस ब्रह्म का एक विशेष रूप है। ब्रह्म ही वह समुद्र है और तुम और मैं, तारे , सूर्य सभी उस समुद्र में

विभिन्न तरंग मात्र हैं। तरगों को समुद्र से पृथक कौन करता है? यह रूप। और यह रूप है केवल देश-काल-निमित्त। यह देश काल निमित्त भी सम्पूर्ण रूप से इन तरंगों पर निर्भर रहता है। ज्यों ही तरगें चली जाती है त्यों ही ये भी अन्तर्हित हो जाते हैं। जीवात्मा ज्यों ही इस माया का परित्याग कर देती है, त्यों ही वह उसके लिए अन्तर्हित हो जाती हैं और वह मुक्त हो जाती है।'[24]

जगत के स्वरूप पर विचार करने के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जगत् का सृजन कब हुआ? और कैसे हुआ? जब हम जगत् को ब्रह्म का एक विशेष रूप मानते है तो ब्रह्म के समान जगत् भी अनन्त हुआ अर्थात् इसका न तो आदि है और न अन्त। अतः यह प्रश्न कि जगत् का सृजन कब हुआ निरर्थक है। ऐसा विवेकानन्द ने 'आत्मा, प्रकृति तथा ईश्वर' विषयक व्याख्यान में व्याख्यादित किया। दूसरे प्रश्न के उत्तर में विवेकानन्द का कथन है कि यह सारी सृष्टि शून्य से उत्पन्न नहीं हो सकती। बिना कारण कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती और कार्य कारण के पुनरुत्पादन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जैसे- यदि हम शीशे के गिलास के टुकड़े कर दें तो उसका आकार अवश्य नष्ट हो जायेगा परन्तु जिन परमाणुओं से वह निर्मित है वे बने रहेंगे, चाहे वे हमारी ज्ञानेन्द्रियों से परे भले ही हो जायें । यह नितांत सम्भव है कि इन्हीं पदार्थो से एक दूसरा गिलास भी बन सके। जैसे यह बात एक दृष्टांत के सम्बंध में सत्य है, तो प्रत्येक उदाहरण में भी सत्य होगी। अतः यह स्पष्ट है कि कोई वस्तु शून्य से नहीं बनायी जा सकती। यह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, और फिर स्थूल से स्थूलतर रूप ग्रहण कर सकती है। जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है। वृक्ष मर जाता है और केवल बीज छोड़ जाता है। वह पुनः दूसरे वृक्ष के रूप में उत्पन्न होता है। और पुनः बीज के रूप में अंत होता है। और यही क्रम चलता रहता है। ठीक इसी प्रकार विश्व की प्रत्येक वस्तु, कुछ बीजों से कुछ प्रारम्भिक तत्वों से अथवा कुछ सूक्ष्म रूपों से उत्पन्न होती है और जैसे जैसे वह विकसित होती है, स्थूलतर होती जाती है और फिर अपने सूक्ष्म रूप को ग्रहण करके शांत पड़ जाती है। समस्त विश्व इसी क्रम से चल रहा है। एक ऐसा भी समय आता है जब यह सम्पूर्ण विश्व गल कर सूक्ष्म हो जाता है, और अंत

मे मानों पूर्णतया विलुप्त जैसा हो जाता है, किन्तु अत्यंत सूक्ष्म भौतिक पदार्थ के रूप में विद्यमान रहता है। इसी सूक्ष्म भौतिक पदार्थ से पुन. पृथ्वी प्रक्षिप्त होती है। इस प्रकार यह जगत् अपने मूल कारणों में प्रत्यावर्तन करेगा, और उसकी सामग्री संघटित होकर- अवरोह, आरोह करती, आकार ग्रहण करती लहर के सदृश - पुन. आकार ग्रहण करेगी। इस प्रक्रिया को सस्कृत में 'संकोच' और 'विकास' कहते हैं। यह सत्य है कि प्रत्येक विकास के पहले अन्तर्भाव का होना आवश्यक है।

इसी नियम के आधार पर जगत् उत्पन्न होता है अर्थात् बृहत ब्रह्माण्ड पूर्ववर्ती सूक्ष्म ब्रह्माण्ड से। मनुष्य पूर्ववर्ती सूक्ष्म रूप से। वृक्ष बीज से आदि आदि। इस प्रकार सूक्ष्म रूप व्यक्त होकर स्थूल से स्थूलतर होता जाता है, जब तक कि वह स्थूलता की चरम सीमा तक नहीं पहुँच जाता, चरम सीमा पर पहुँचकर वह फिर प्रत्यावर्तन करता है। यह सूक्ष्म से अविर्भाव तथा स्थूलतर में परिणति मानो उसके अंशों का अवस्था परिवर्तन है।

इससे सिद्ध होता है कि जगत की उत्पत्ति शून्य से न होकर सूक्ष्म ब्रह्माण्ड से हुई है। अतः सभी वस्तुएं अनन्त काल से है और अनन्त काल तक रहेंगी। केवल तरंगों की भाँति वे एक बार उठती हैं फिर गिरती हैं। एक बार सूक्ष्म, अव्यक्त रूप में जाना, फिर स्थूल, व्यक्त रूप में आना- सारी प्रकृति में यह क्रम संकोच और क्रम विकास की क्रिया चल रही है।

विवेकानन्द ने सृष्टि की उत्पत्ति के जिस क्रम को स्वीकार किया है वह सांख्य दर्शन के अधिक समीप है। उनके अनुसार 'समस्त जड़ पदार्थो का मूल उपादान कारक आकाश तत्व है और समस्त शक्तियों का मूल स्रोत प्राण है परन्तु आकाश और प्राण की उत्पत्ति 'महत्' से होती है। मन भी जड़ तत्व है। अतः अंतिम तत्व चैतन्य ही है। उनके मतानुसार एक तत्व नित्य है शेष सब तत्व इसी एक से उद्‌भूत हुए हैं। इस मूल तत्व को 'आकाश' की संज्ञा दी है। विज्ञान के शब्दों में उसे 'ईथर' के नाम से जाना जाता है। इस तत्व के साथ प्राण नामक आद्य ऊर्जा रहती है। प्राण और आकाश

सघटित और पुन संघटित होकर शेष तत्वों का निर्माण करते है। कल्पान्त मे सब कुछ प्रलयगत होकर आकाश और प्राण में प्रत्यावर्तन करता है।'[25]

सारांश :

स्वामी विवेकानन्द अद्वैत वेदान्त के प्रबल समर्थक होने के कारण मूल सत् सत्ता एक ही मानते है जैसा कि पिछले पृष्ठों पर आकलित किया गया है। उनके अनुसार परमसत् या ब्रह्म अनन्त , असीम व अज्ञेय है उसी ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है और कल्पान्त मे जगत् ब्रह्म में विलीन हो जाता है। समुद्र और तरंगों के मध्य परस्पर जैसी मित्रता व अभिन्नता है ठीक वैसे ही ब्रह्म व जगत् अभिन्न है, भिन्नता नाम रूप के कारण है। जब यह नाम रूप खत्म हो जाता है तब जगत् का अस्तित्व समाप्त होकर ब्रह्म ही दिखता है। जगत् देश काल निमित्त द्वारा सीमित है। जगत से तात्पर्य जड जगत सूक्ष्म व आध्यात्मिक जगत से है। इसकी प्रत्येक ‐ . वस्तु कार्य कारण नियम से बद्ध है। कार्य पहले से ही अपने उपादान कारण मे विद्यमान रहता है। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति व विनाश का क्रम चक्रवत चलता रहता है। जगत् की सृष्टि आकाश व प्राण नामक शक्ति के परस्पर संघात से होती है। और आकाश व प्राण की उत्पत्ति 'महत' तत्व से होती है। यह महत तत्व ही चैतन्य है। इसी से अन्य सब तत्व उद्भूत होते हैं। विवेकानन्द ने युक्तियों द्वारा सिद्ध किया कि जगत की प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति शून्य से नहीं होती। क्योंकि परम सत्ता अनन्त व असीम है अत उसमे से उद्भूत प्रत्येक वस्तु भी अनन्त व असीम है। प्रत्येक वस्तु का अव्यक्त सूक्ष्म रूप सृष्टि के विनाश होने पर विद्यमान रहता है। जब सृष्टि का उद्भव होता है तब यह सूक्ष्म रूप पुन स्थूल व्यक्त रूप धारण करता है पुनः सूक्ष्म रूप से स्थूल रूप। यह सृष्टि का क्रम चक्रवत चलता रहता है।

ज्ञान मीमांसा :

इसके अन्तर्गत ज्ञान की सम्भावना, उसके साधनों एवं सीमा के सम्बन्ध में चिन्तन करते हैं। तत्व मीमांसा के द्वारा परम सत्, ईश्वर व जगत के स्वरूप का निरूपण हो

जाने पर प्रश्न उठता है कि क्या विश्व प्रक्रिया या वस्तुतत्व का ज्ञान सम्भव है? यदि हॉ, तो उसके साधन क्या है? तथा मानवीय ज्ञान की सीमा क्या है?

भारतीय दर्शन मे ज्ञान की सम्भावना तथा सीमा की अपेक्षा ज्ञान के साधनों पर अधिक विचार हुआ है। उपनिषद तथा गीता मे ज्ञान की विशद् व्याख्या की गयी है। तथा भिन्न भिन्न प्रकृति वाले व्यक्तियों के लिए ज्ञान के भिन्न भिन्न साधन भी वर्णित है। चूकि विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों का आधार वेदान्त है अत यह प्रासंगिक होगा कि हम पहले वेदान्त के अनुसार ज्ञान मीमासा का अध्ययन करें। वेदान्त के सभी सम्प्रदायों मे मनुष्य के जीवन का उद्देश्य मोक्षा माना गया है। मोक्ष से तात्पर्य परम सत् की प्रत्यक्षानुभूति। इसी अर्थ मे श्वेताश्वर उपनिषद में कहा गया है- 'ज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति का कोई दूसरा पथ नहीं है। ब्रह्म या आत्मा का साक्षात्कार होने पर मनुष्य के हृदय की अज्ञान रूपी गांठ खुल जाती है। उसके सारे संदेह नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने का एक मात्र साधन माना गया है। गीता तो यहाँ तक कहती है कि -न हि ज्ञानेन सदृशंपवित्रमिह विद्यते' अर्थात् ज्ञान से अधिक पवित्र कुछ भी नहीं है। शंकराचार्य कहते हैं- ' अपि च सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष-इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगम:' अर्थात् सम्यक ज्ञान से मुक्ति होती है, इस सिद्धान्त को सभी मोक्षवादी मानते हैं। बुद्ध दर्शन में भी निर्वाण प्राप्ति के अष्टमार्ग में सम्यकज्ञान भी एक साधन है।

विवेकानन्द ने वेदान्त के अद्वैत दर्शन का समर्थन किया है अत: इनके अनुसार मानव जीवन का चरम लक्ष्य है - 'आत्मानुभूति' या 'ब्रह्मत्व' की प्राप्ति। अर्थात इन्होंने परम सत् ब्रह्म को माना है। इसी परम सत् से जड़ चेतन जगत की सृष्टि हुई है और कल्पान्त मे यह दृश्यमान जगत् उसी परब्रह्म में विलीन हो जाता है। उन्होंने ब्रह्म ईश्वर और आत्मा सबको एक ही माना है। उनके विचार से अन्तर दृष्टिकोणों के कारण है। उनका विश्वास था कि आत्मा की प्राप्ति के द्वारा ही ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता

है। उन्होंने स्वय अपने जीवन मे ब्रह्म साक्षात्कार किया था इसलिए उन्होंने इस अवस्था को मानव जीवन का लक्ष्य माना।

विवेकानन्द ने दो प्रकार के जगत बताए- एक तो भौतिक जगत- जो हमारी बाह्य इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है इसे हम इन्द्रियग्राह्य जगत की संज्ञा भी दे सकते हैं। यह स्थूल जगत सतत परिवर्तनशील व सीमित है। इस जगत को इन्द्रियों के माध्यम से जाना जा सकता है। यह जड़ जगत सूक्ष्म जगत का ही अभिव्यक्त रूप है। मनुष्य ने पहले पहल इसी बहिर्जगत के बारे मे अनुसधान किया। उसने जानना चाहा कि आकाश सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र, पृथ्वी, नदी, पर्वत, समुद्र, आदि किसने बनाए? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने के बाद भी मनुष्य को संतोष नहीं हुआ तब उसने अपनी सारी शक्ति अन्तजर्गत की ओर उन्मुख कर दी। यह अन्तर्जगत इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। क्योंकि यह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। यह वही चेतन स्वरूप है , ज्ञानस्वरूप व प्रकाशस्वरूप है जिसके आलोक से विश्व की सभी वस्तुएं आलोकित होती हैं। विवेकानन्द ने इस अन्तर्जगत के अन्त. स्फुरण को ही आत्मानुभूति कहा है जो मानव जीवन का उद्देश्य हैं। इस आत्मानुभूति को न तो इन्द्रियों से, न मन से न बुद्धि से जाना जा सकता है। जिस तरह बुद्धि ज्ञान का साधन है, उसी तरह हृदय अन्त स्फुरण का। विवेकानन्द नें 'आत्मानुभूति के सोपान' विषयक व्याख्यान में अंत स्फुरण के लिए हृदय की महत्ता इन शब्दों में व्यक्त की है- 'अंत में मनुष्य को बुद्धि के परे जाना ही होगा। मनुष्य की प्रज्ञा, उसकी ज्ञान शक्ति, उसका विवेक, उसकी बुद्धि, उसका हृदय, ये. सब इस संसाररूपी क्षीरसागर के मन्थन में लगे हुए हैं। दीर्घकाल तक मथने के बाद उसमें से मक्खन निकलता है और मक्खन है ईश्वर। हृदयवाले मनुष्य 'मक्खन' पा लेते हैं और कोरे बुद्धिमानों के लिए सिर्फ 'छाछ' बच जाती है।'[26]

आत्मानुभूति ही जीवन का लक्ष्य है इसको वेदान्त के सभी सम्प्रदाय मानते हैं। और चूँकि मानवों की रुचि व प्रवृत्ति में भिन्नता होती है इसलिए सभी मनुष्यों के लिए एक ही साधन मोक्ष प्राप्ति के लिए उपयुक्त नहीं है। यही कारण है कि विभिन्न सम्प्रदायों

ने भिन्न-भिन्न मार्ग बताए है। पहले हम उपनिषदों के कथन देखते हैं। श्वेताश्वर उपनिषद् मे कहा गया है कि 'मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र उपाय ज्ञान है'। आत्म तत्व को जानकर ही लोग मृत्यु का अतिक्रमण करते है। इस ज्ञान को उपनिषदों मे त्याग कहा गया है क्योंकि मोक्ष दायक ज्ञान निवृत्तिपरक या संन्यास परक है। प्रवृत्तिपरक ज्ञान या कर्मोन्मुख ज्ञान बंधनकारी है और उसे अज्ञान या अविद्या कहा गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् में ज्ञान-प्राप्ति के तीन सोपान श्रवण, मनन व निदिध्यासन बताए गये हैं। इन तीनों के क्रमश पालन करने से आत्मज्ञान होता है और आत्मज्ञान होने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है। तब कुछ जानने योग्य नहीं रह जाता।

भगवद्गीता के रचयिता वेद-व्यास मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान, कर्म, भक्ति तथा ध्यान साधना प्रणालियों की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। गीता में भगवान श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'भूतकाल में उनके द्वारा दो प्रकार की साधनाएं बतलायी गयी है- ' ज्ञानियों की ज्ञान योग से और अन्यों की निष्काम कर्मयोग से'[27]

शंकर के अनुसार 'ज्ञान' ही मोक्ष का सीधा साधन है। ज्ञान का अर्थ ब्रह्मत्व या आत्म साक्षात्कार प्राप्त करना है। विवेकानन्द ने अपने गुरु द्वारा समर्पित ज्ञान, भक्ति, कर्म तीनों साधना प्रणालियों को स्वीकार किया। इन्होंने इन सभी प्रणालियों में समन्वय स्थापित कर सभी की महत्ता को स्वीकार किया। उन्होंने कहा- 'कर्म, उपासना, मनः-संयम, अथवा ज्ञान, इनमे से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ।[28] सभी मार्गो से ईश्वर के निकट पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार विवेकानन्द ने मोक्ष प्राप्ति के चार साधन बताए हैं-

|1| भक्तियोग
|2| कर्मयोग
|3| राजयोग
|4| ज्ञान योग

विवेकानन्द ने अद्वैतवेदान्ती होने के बावजूद भक्ति योग द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति बताई। इस बात मे कुछ विरोधाभास प्रतीत होता है। क्योंकि भक्ति का मार्ग द्वैतवादी होता है जबकि उन्होने द्वैत भाव को समाप्त कर एकत्व भाव की प्रतिस्थापना पर जोर दिया है। उनके ही शब्दो मे- 'एकत्व ज्ञान केवल शुद्ध ज्ञान एव दर्शन से ही प्राप्त नहीं होता परन्तु वह प्रेम द्वारा भी प्राप्त होता है'[29] स्वामी जी स्वय यह स्वीकार करते है कि भक्ति का प्रारम्भ द्वैत से ही होता है परन्तु साथ ही इसका परिहार करते हुए कहते है कि 'परमार्थ अवस्था मे पहुँचकर प्रेम, भक्त एवं भगवान मे कोई अतर नहीं रहता।' स्वामीजी ने बताया कि भक्ति योग के द्वारा विश्व प्रेम व विश्व बंधुत्व की भावना का विकास होता है और तब मनुष्य न केवल ईश्वर अपितु प्रत्येक मनुष्य से प्रेम करने लगता है। ये ही भाव मनुष्य को एकत्व की ओर ले जाते हैं।

विवेकानन्द कुशलता के साथ अर्थात वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा कार्य करने की विधि को कर्मयोग' कहते है। उनके विचार में 'नि.स्वार्थ कर्म द्वारा मानव जीवन के चरम लक्ष्य, मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही कर्मयोग है'[30] मुक्ति लाभ नि·स्वार्थता या सत्कर्म द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। क्योंकि परार्थ किया गया नि स्वार्थ कर्म कभी भी बंधनकारी नहीं होता। जो कार्य स्वाधीन होकर अनन्त के लिए किया जायेगा वह न बंधक होगा, न सीमित। अत कर्मफलासक्ति को त्यागकर कर्म ईश्वरार्पित होकर करना चाहिए। उन्होंने संन्यासी के लिए भी आत्मनोमोक्षार्थम् जगतो-हिताय च' आदर्श रक्खा। अर्थात् अपनी मुक्ति के साथ साथ जगत के हित को ध्यान में रखकर संन्यासी को कर्म करना चाहिए।

आत्मानुभूति के तृतीय साधन राजयोग का महत्व कम नहीं है। इसमें यम नियमादि अष्टांगों का क्रमिक पालन करते हुए, एवं मन की समस्त शक्तियों को अन्तर्मुखी बनाते हुए आत्म साक्षात्कार किया जाता है। इस मार्ग द्वारा ज्ञान प्राप्ति के लिए एकमात्र उपाय है एकाग्रता। एकाग्रता का महत्व बताते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि 'एकाग्रता समस्त ज्ञान का सार है.... जब मन एकाग्र होता है और पीछे मोड़कर स्वयं पर ही

केन्द्रित कर दिया जाता है, तो हमारे भीतर जो भी है, वह हमारा स्वामी न रहकर हमारा दास बन जाता है।'[31] इस प्रकार राजयोग शिक्षा देता है कि जिस प्रकार मनुष्य के मन मे नाना प्रकार की वासनाए और अभाव विद्यमान है, उसी प्रकार उसके भीतर ही उन अभावों के मोचन की शक्ति भी वर्तमान है। इस निहित शक्ति का उद्‌बोधन कर मानव को उसका (ईश्वर का) साक्षात्कार कराना ही राजयोग का लक्ष्य है।

स्वामी जी ने भावुकता शून्य व्यक्तियों के लिए ज्ञान-मार्ग का विधान बताया। यह योग दृढ साधकों के लिए है, रहस्यवादियों तथा भक्ति प्रेमी के लिए नहीं। इसमे व्यक्ति विशुद्ध बुद्धि द्वारा ईश्वर साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करता है। ज्ञानी हर वस्तु से विचार हटाता है और अस्वीकारता है जो हम नहीं हैं। वह केवल उसी पर दृढ रहता है जो कि वास्तव में हम है और वही है आत्मा केवल एक सच्चिदानन्द परमात्मा। ज्ञानयोग को अपनाने वाला व्यक्ति जब योग की सर्वोच्च पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है वह कह उठता है - 'अहं ब्रह्मास्मि'[32]। यही इस योग का लक्ष्य है।

इस प्रकार विवेकानन्द ने ज्ञान, कर्म, भक्ति तथा ध्यान सभी साधन पद्धतियों द्वारा सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करना मानव जीवन का लक्ष्य बताया। उन्होने समस्त योग साधनों के प्रति समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। प्रत्येक अपनी प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुसार किसी भी मार्ग का अनुसरण कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

मूल्य मीमांसा:

मानव के सभी प्रयास चाहे वे वैयक्तिक हों या सामाजिक, राष्ट्रीय हों या अन्तर्राष्ट्रीय , आर्थिक हों या राजनीतिक, किसी न किसी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए हुआ करते हैं। वह इच्छित वस्तु की प्राप्ति इसलिए चाहता है क्योंकि वह वस्तु उसके अथवा संस्थाओं के लिए मूल्यवान है। मूल्यवान इसलिए है कि उसकी प्राप्ति से हमें संतोष मिलता है। अर्थात् सत्ता के अस्तित्व पक्ष और ज्ञान पक्ष के अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण पक्ष है। जिसे हम मूल्य मीमांसा कहते हैं।

मूल्य मीमासा मे मूल्य सम्बधी तात्विक तथा सामान्य प्रश्नों पर विचार किया जाता है। और मूल्य तथा मूल्याकन के सम्बध मे एक समग्र दृष्टिकोण उपस्थित किया जाता है। कुछ आधुनिक विचारको ने मूल्यो की कल्पना का विरोध किया है क्योंकि उनके अनुसार मूल्यमीमासा दर्शन को धुँधले पन की ओर ले जाती है। एयर ने तो यहाँ तक कहा है कि 'मूल्य निरर्थक है।[33]

ऐतिहासिक सिहावलोकन करने पर विदित होता है कि मूल्य मीमासा के प्रारम्भिक सूत्र प्लेटो के प्रत्ययवाद में विशेषत 'नि श्रेयस या परम पुरुषार्थ' के प्रत्यय मे और अरिस्टॅाटिल के ईश्वर सम्बंधी विचारो मे मिलते हैं। आधुनिक दार्शनिक काण्ट ने ज्ञान मीमांसा और मूल्य मीमांसा को संयुक्त करने का प्रयास किया है। उनका मत है कि ज्ञान विषयक समीक्षा हमें नैतिक , धार्मिक तथा कलात्मक मूल्यों का विवेचन करने को बाध्य करती है।

मूल्य मीमासा के मुख्य प्रश्न इस प्रकार है जिनका समाधान ढूँढने का प्रयास इस शास्त्र में किया जाता है- वस्तु और उसके मूल्य में क्या भेद है? क्या समस्त वस्तुओं के मूल्य पृथक्-पृथक् हैं अथवा कोई परम मूल्य भी है? यदि हाँ तो उसका स्वरूप क्या है? क्या परम मूल्य के आधार पर मनुष्य की समस्त क्रियाओं और संस्थाओं का मूल्यांकन किया जा सकता है, आदि?

सारांशत. मूल्यमीमांसा के अन्तर्गत मुख्य रूप से चार समस्याओं पर विचार किया जाता है-

(अ) मूल्यों का स्वरूप
(ब) मूल्यों के प्रकार
(स) उनकी समीक्षा के प्रतिमान
(द) उनकी सत्तात्मक स्थिति

मूल्यमीमासा की मुख्य दो शाखाए है[34]

(अ) नीतिशास्त्र और

(ब) सौदर्य मीमासा

नीतिशास्त्र के अध्ययन का विषय मानव जाति की नैतिक चेतना अथवा नैतिक अनुभूति है। नैतिक चेतना का तात्पर्य शुभ-अशुभ , उचित-अनुचित, वाछनीय - अवाछनीय आदि की अनुभूतियो से है। नीतिशास्त्र नैतिक निर्णयों का अध्ययन कर नैतिक चेतना की युक्तिसंगत व्याख्या करता है। इस कार्य के लिए वह नैतिकता का प्रतिमान स्थिर करता है। क्योंकि नैतिक निर्णयों का आधार कोई न कोई आदर्श रहता है। आदर्श के अनुकूल कार्य को कर्तव्य और प्रतिकूल कार्य को अकर्त्तव्य कहा जाता है। नीतिशास्त्र व्यक्ति और समाज दोनो के कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेचन करता है और दोनों के लिए नैतिकता और अनैतिकता के प्रतिमान भी प्रस्तुत करता है। नीतिशास्त्र के नैतिक निर्णय मूल्य सूचक निर्णय होते हैं। यह मूल्य सापेक्ष नहीं प्रत्युत निरपेक्ष मूल्य हैं। नैतिकता मानव-स्वभाव की आवश्यकता - परमसत्ता या परमतत्व की आवश्यकता है। यह हमारी विशेष दिक् - काल से सम्बंधित आकस्मिक परिस्थितिजन्य सापेक्ष आवश्यकता नहीं। जो सत् है वह स्वभावत सत् है।

इस प्रकार नीति शास्त्र में शुभ और अशुभ का विचार होता है। जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कुछ नियमों का पालन करना होता है। ये नियम नीतिशास्त्र निर्धारित करता है। नीतिशास्त्र मोक्षधर्म पर आधारित होता है। नीतिशास्त्र मानवता के नैतिक निर्णयों को एक समष्टि का रूप देने की चेष्टा है। यह एक आदर्शान्वेषीशास्त्र है क्योंकि उसका काम मानव-व्यापारों के आदर्शरूप अथवा मानव जीवन की आदर्शावस्था को खोज निकालना है।

नीतिशास्त्र हमें बताता है कि निर्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किन्हीं सद्‌गुणों का होना नितान्त आवश्यक है। मनुष्य के लिए वांछनीय सद्‌गुण देश काल

के अनुसार बदलते रहते है। और कभी कभी व्यक्तियो की स्थितियों और कार्यो के अनुसार भी बदलते रहते है। लेकिन फिर भी कुछ सद्‌गुण सार्वभौमिक एव सार्वकालिक होते है। जैसे - सत्यता, प्रेम पवित्रता आदि।

विवेकानन्द ने सद्‌गुण उसे माना है जो हमारे चरित्र निर्माण मे सहायक हो। चरित्र का अर्थ मनुष्य मे प्राप्त गुणों, मितव्ययता, ईमानदारी, बचनबद्धता, सयमशीलता, न्यायप्रियता आदि से होता है लेकिन इन सबके मूल मे पवित्रता का गुण है जो समस्त सामाजिक बन्धनों मे अभिव्यक्त होना चाहिए। यह गुण आत्म साक्षात्कार के नैतिक आदर्श से उद्‌भूत होता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए विवेकानन्द ने सबसे आवश्यक गुण बताया... चरित्र गठन । चरित्र गठन के लिए उन्होंने पवित्रता, साहस, सयम, सत्य, अहिसा और ब्रह्मचर्य आदि सद्‌गुणो पर जोर दिया है। पवित्रता की महत्ता बताते हुए कहा- 'अत यह स्पष्ट है कि पवित्रता ही समस्त धर्म और नीति की आधारशिला है।'[35] उन्होंने स्पष्ट किया कि पवित्रता द्वारा सभी पाशविक भावों का नाश किया जा सकता है। 'पवित्रता ही स्त्री और पुरुष का सर्वप्रथम धर्म है। ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं हो कि एक पुरुष चाहे जितना भी पथभ्रष्ट क्यों न हो गया हो- अपनी नम्र, प्रेमपूर्ण तथा पतिव्रता स्त्री द्वारा ठीक रास्ते पर न लाया जा सके।'[36]

मनुष्य के चरित्र का नियमन करने वाली दो चीजें होती है बल और दया। बल का प्रयोग करना सदैव स्वार्थपरता वश ही होता है। प्राय. सभी मनुष्य अपनी शक्ति एवं सुविधा का यथासम्भव उपभोग करने का प्रयत्न करते हैं। और दया दैवी सम्पत्ति है। भले बनने के लिए हमें दया युक्त होना चाहिए, यहॉं तक कि न्याय और अधिकार भी दया पर ही प्रतिष्ठित होने चाहिए। दया और निःस्वार्थपरता को कार्यरूप में परिणत करने का एक और उपाय है- कर्मो को उपासना रूप मानना। आज मनुष्य अपने बल की शक्ति में विश्वास नहीं करता है इसीलिए वह अपने को निर्बल समझता है। 'आज तक हमजो चाहते हैं, वह है बल, अपने मे अटूट विश्वास। हम लोग शक्तिहीन हो गये हैं। ... अपने स्नायु बलवान बनाओ। आज हमें जिसकी आवश्यकता है, वह है- लोहे के पुट्‌ठे और फौलाद के स्नायु।'[37] साहसी व्यक्ति ही

विपत्तियो तथा सभी प्रकार के भयो पर विजय प्राप्त कर आत्म लाभ कर सकता है।

मोक्ष लाभ हेतु अन्य सद्गुण सयम आवश्यक है। अपनी समस्त इच्छाओ तथा भावनाओ पर उचित नियत्रण रखना ही सयम है। उनका कथन है- 'अपने मन का सयम करने के लिए सदा अपने ही मन की सहायता लो। . . मन अपने वश मे रहता है तो मनुष्य कभी अनुचित काम नहीं करता। .. मन सयत होने पर सब प्रकार की भावनाए और इच्छाए हमारे वश मे आ जायेगी।'[38]

विवेकानन्द ने नैतिकता के विकास के लिए सत्य, अहिंसा व ब्रह्मचर्य आवश्यक गुण बताये।

'मन को पूर्णतया वश मे करने के लिए पूर्ण नैतिकता ही सब कुछ है। जो पूर्ण नैतिक है, उसे कुछ करना शेष नहीं, वह मुक्त है। जो पूर्ण नैतिक है, वह सम्भवत किसी प्राणी या व्यक्ति की हिंसा नहीं करेगा। जो मुक्त होना चाहे, उसे अहिंसक बनना पड़ेगा। जिसमें पूर्ण अहिंसा का भाव है, उससे बढकर शक्तिशाली कोई नहीं है।'[39]

सत्य, पवित्रता और त्याग वे सद्गुण हैं जिनसे मनुष्य अपने जीवन की हर मुसीबत का सामना कर सकता है। विवेकानन्द विचार में सत्य से तात्पर्य मन और वचन मे यथार्थ होना। जैसा देखा, सुना, अनुमान किया उसी तरह मन मे रखना और वैसा ही बोलना तथा उसी के अनुरूप आचरण करना। 'जिन लोगों में सत्य, पवित्रता और नि स्वार्थपरता विद्यमान है, उन्हें स्वर्ग, मर्त्य एव पाताल लोक की कोई भी शक्ति कोई क्षति नहीं पहुँचा सकती। इन गुणों के रहने पर, चाहे समस्त विश्व ही किसी व्यक्ति के विरुद्ध क्यों न हो, वह अकेला ही उसका सामना कर सकता है।'[40]

जिस प्रकार अरस्तु ने 'अभ्यास' को सद्गुण माना है उसी प्रकार विवेकानन्द ने आदत को चरित्र गठन के लिए आवश्यक माना है। उनका कथन है - 'मनुष्य का समस्त स्वभाव

आदत पर निर्भर रहता है। हमारा अभी जो स्वभाव है, वह पूर्व अभ्यास का ही फल है, ... हमारे मन मे जो विचारधाराए बह जाती है, उनमे से प्रत्येक अपना एक-एक चिन्ह या संस्कार छोड जाती है। . जब मनुष्य को सद्गुणों की आदत पउ जाती है तब वह चाहकर भी बुरा कार्य नहीं कर सकता।.. जब ऐसी स्थिति हो जाती है, तभी उस मनुष्य का चरित्र गठित कहलाता है।'[41]

जीवन के चरम लक्ष्य को पाने के लिए मनुष्य को नैतिकता और नि स्वार्थपरता के उच्चतम आदर्श को व्यवहारित करना होगा। तथा साथ ही उच्चतम दार्शनिक ओर वैज्ञानिक धारणाएं स्वीकार करनी होंगी। क्योंकि मनुष्य का ज्ञान मनुष्य के मंगल का विरोधी नहीं है, वरन् जीवन के प्रत्येक विभाग मे ही ज्ञान हमारी रक्षा करता है। ज्ञान ही उपासना है।

विवेकानन्द के अनुसार सद्गुण मन के अर्जित संस्कार है। सद्गुण कर्तव्यपालन के दृढ अभ्यास का नाम है और यही दृढ़ अभ्यास चरित्र की उत्कृष्टता बन जाती है। और उत्कृष्ट चरित्र मनुष्य को पूर्णता की ओर अग्रसर करता है। उनके मतानुसार सभी सद्गुण एक परम सद्गुण के ही विभिन्न पक्ष हैं और इनका लक्ष्य एक है, ओर ये स्वयं पृथक न होकर समग्र है। अत इनकी उपलब्धि जीवन की धन्यता है। इनकी अनुपलब्धि नैतिक दूषण है जो जीवन का अभिशाप है।

मानव का सामान्य जीवन कर्तव्य और अधिकार के बीच व्यतीत होता है। अत उसे अपने कर्तव्य और अधिकार का भी सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में जन्मगत तथा अवस्थागत कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। जीवन के विभिन्न कर्तव्यों के प्रति मनुष्य का जो मानसिक और नैतिक दृष्टिकोण रहता है, वह अनेक अंशों में उसके जन्म और उसकी अवस्था द्वारा नियमित होता है। इसीलिए जिस समाज में मनुष्य का जन्म होता है, उसके आदर्शो और व्यवहार के अनुरूप उदात्त एवं उन्नत बनाने

वाले कार्य करना ही हमारा कर्तव्य है। 'इस प्रकार हम देखते है कि देश-काल-पात्र के अनुसार हमारे कर्तव्य कितने बदल जाते है और सबसे श्रेष्ठ कर्म तो यह है कि जिस विशिष्ट समय पर हमारा जो कर्तव्य हो, उसी को हम भलीभाँति निबाहे।'[42] मनुष्य पहले जन्म से प्राप्त कर्त्तव्यकरेतब समाज और फिर परिस्थिति अनुसार जो कर्तव्य हों उसे करे।

'कर्तव्य का पालन शायद ही कभी मधुर होता हो। कर्तव्य चक्र तभी हल्का और आसानी से चलता है, जब उसके पहियों मे प्रेमरूपी चिकनाई लगी होती है, अन्यथा वह एक अविराम घर्षण मात्र है।'[43]

यह सत्य है कि कर्तव्यपालन की मधुरता प्रेम मे ही है, और प्रेम का विकास केवल स्वतंत्रता मे ही होता है। स्वतत्रता के लिए मनुष्य को इन्द्रिय निग्रह, ईर्ष्या व क्रोध आदि मनोभावों पर नियमन करना होता है। यही कारण है कि माता पिता अपने बच्चों के प्रति, बच्चे अपने माता-पिता के प्रति कर्तव्य करते दिखाई देते है।

जो कर्तव्य दूसरों के प्रति किए जाते हैं उन्हें हम परोपकार कहते हैं। नीति शास्त्र के अनुसार दूसरों या जरूरत मद की सहायता करनी चहिए। यद्यपि दूसरों की सहायता करके हम स्वयं अपनी ही सहायता करते हैं। फिर भी हमें सदैव परोपकार करते ही रहना चाहिए। 'परन्तु तुम स्वयं इस बात के लिए कृतज्ञ होओ कि तुम्हें वह निर्धन व्यक्ति मिला, जिसे दान देकर तुमने स्वयं अपना उपकार किया। धन्य पाने वाला नहीं होता, देने वाला होता है। इस बात के लिए कृतज्ञ होओ कि इस ससार मे तुम्हे अपनी दयालुता का प्रयोग करने और इस प्रकार पवित्र एव पूर्ण होने का अवसर प्राप्त हुआ।'

विवेकानन्द ने कर्तव्यों की व्याख्या अधिकार के सन्दर्भ मे की है। जो एक व्यक्ति का कर्तव्य है वह दूसरे का अधिकार। जैसे- भूखे व्यक्ति को भोजन देना मानव

का कर्तव्य है। दूसरी ओर भूखे व्यक्ति का अधिकार जीवित रहने के नाते भोजन पाना है। प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपनी सामाजिक व्यवस्था का सम्मान करे क्योंकि तभी व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा हो सकती है। आजकल समाज के विभिन्न वर्गो, समूहों आदि के बीच जो संघर्ष दिखाई देता है उसका प्रमुख कारण यह है कि मनुष्य अपने अधिकारों के प्रति जितना सजग है उतना कर्तव्यों के प्रति नहीं। इस प्रकार कर्तव्य और अधिकार सापेक्ष शब्द है। जो एक दृष्टि से अधिकार हैं, वहीं दूसरे सम्बंध में कर्तव्य बन जाता है। जहाँ अधिकार है वहाँ कर्तव्य भी।

व्यक्ति को अपने अधिकार का प्रयोग दूसरे व्यक्ति को हानि पहुँचाने के लिए नहीं करना चाहिए। यदि इस बात का हर व्यक्ति ध्यान रक्खे तो समाज में संघर्ष न हो। समाज ही व्यक्तियों को अधिकार देता है और अन्य व्यक्तियों पर उस अधिकार के समादर के लिए कर्तव्य निर्धारित करता है। अधिकार निरपेक्ष नहीं है। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य एक ही नैतिक नियम के दो पहलू हैं।

विवेकानन्द ने कहा है कि 'प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपना आदर्श लेकर उसे चरितार्थ करने का प्रयत्न करे। दूसरों के ऐसे आदर्श को लेकर चलने की अपेक्षा जिनको वह पूरा नहीं कर सकता, अपने ही आदर्श का अनुसरण करना सफलता का निश्चित मार्ग है।

विवेकानन्द ने नैतिक आदर्शो का निरूपण करते समय प्रत्येक आदर्श के पालन करने की युक्तिसंगत व्याख्या दी है। उन्होंने कहा कि कोई कार्य इसलिए नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि ऐसा करना पुराण मे लिखा है या अमुक व्यक्ति ने ऐसा किया है। बल्कि प्रत्येक आदर्श को तर्क की तथा सत्य की कसौटी पर कस कर पालन करना चाहिए। उदाहरणार्थ परोपकार क्यों करें? इसके पालन करने से मनुष्य को क्या उपयोगिता मिलती है? कभी कभी तो मनुष्य मुसीबत में भी फँस जाता है। विवेकानन्द इस आदर्श के पालन करने की युक्ति अद्वैत वेदान्त के अनुसार इस प्रकार देते हैं -

जब प्रत्येक व्यक्ति मे अवस्थित आत्मा उसी ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। तो दूसरे व्यक्ति की सहायता से उसे जो लाभ हुआ वह अंतत सहायता देने वाले को ही हुआ। इस प्रकार दूसरे की सहायता कर वास्तव मे हम अपनी ही सहायता करते है। मनुष्य जब आदर्श का सामजस्य जीवन से करता है तो इसमे जीवन का प्रलोभन प्रमुख रहता है। और हम स्वार्थपरता, आत्मसुख आदि को ही आदर्श मान कर तदनुरूप आचरण करने लगते हैं। अत मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन को आदर्श के अनुरूप उच्च बनाये। उन्होंने वेदान्त के आदर्श का समर्थन करते हुए कहा कि मनुष्य को सबसे पहले अपने ऊपर विश्वास करना चाहिए। 'आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारी सबसे अधिक सहायता कर सकता है। यदि इस आत्मविश्वास का और भी विस्तृत रूप से प्रचार होता और यह कार्यरूप मे परिणत हो जाता , तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि जगत, मे जितना दु ख और अशुभ है, उसका अधिकांश गायब हो जाता।'[44]

आत्मविश्वास की गरिमा को बताते हुए वह कहते हैं- 'प्राचीन धर्मो के अनुसार जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है। नूतन धर्म कहता है, जो आत्म विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है।'[45]

शरीर विज्ञानी यह मानते है कि सभी मनुष्य शारीरिक दृष्टिकोण से समान है- परन्तु मनोविज्ञान कहता है कि शारीरिक समानता होते हुए भी मनुष्यों के मनों मे विभिन्नता होती है। अत विवेकानन्द ने इन विभिन्न मनोवृत्तियों वाले लोगों के लिए चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कर्म-मार्ग, भक्ति मार्ग, राज मार्ग और ज्ञान मार्ग का निरूपण किया है। कर्म मार्गी का आदर्श नि:स्वार्थता, पवित्रता, कर्तव्यपरायणता, परोपकार, सेवा, सत्य अहिंसा आदि है। भक्ति मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति प्रेम का आलिंगन करता है। क्योंकि प्रेम सत्य है, घृणा असत्य है। सत्य वही है जिससे एकत्व स्थापित हों, अनेकत्व दिखाने वाली वस्तु असत्य हैं। चूँकि घृणा मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करती है इसलिए वह गलत और मिथ्या है। प्रेम एकत्व स्थापित करता है। प्रेम के वशीभूत हो व्यक्ति दूसरों के प्रति दया, सहानुभूति आदि सद्‌गुणों का प्रदर्शन

करता है। प्रेम का यह आदर्श जैसे-जैसे विस्तृत होता जाता है भक्त के लिए यह ससार प्रेममय हो जाता है ओर तब वह संसार के प्रत्येक जीव से प्यार करता है।

क्योंकि वह प्रत्येक जीव मे उस परमात्मा को ही देखता है। राज मार्ग का अनुगामी यम-नियम, तथा चित्तवृत्तियों के नियमन द्वारा एकात्म लाभ करता है। ये अपने अंदर स्थित अद्भुत शक्तियों को वश मे करके अपनी इच्छाशक्ति द्वारा आध्यात्मिक आत्मलाभ करते हैं। पवित्रता ही इनका आदर्श है। ज्ञान मार्गी ज्ञान द्वारा अपने क्षुद्र 'अहं' का उच्छेदन कर असीम, अनन्त चिन्मय स्वरूप में अवस्थित होता है। उसका आदर्श है 'मैं नहीं' 'तू'। इसी आत्म त्याग के आदर्श के तहत वह सम्पूर्ण विश्व में परब्रह्म को अनुभूत करता हुआ मुक्ति लाभ करता है। वह संसार के क्षुद्रतय कीटाणु से लेकर मनुष्य तक सभी मे उस अनन्त, शाश्वत, चिदानन्दमय ब्रह्म को देखता है। मुक्ति लाभ वाले व्यक्ति के लिए वही कर्म शुभ होते हैं जो उसे मुक्ति प्राप्त करने मे सहायता करे। अर्थात जो कार्य एकत्व प्रदर्शित करे। विवेकानन्द के शब्दों में- - 'नीतिशास्त्र का एक मात्र उद्देश्य है, यह एकत्व और यह एकरूपता। आज तक मानव-जाति नैतिकता के जिन उच्चतम विधानों की खोज कर सकी है, वे विविधता नहीं स्वीकार करते, उसकी खोज बीन के निमित्त रूकने के लिए उनके पास समय नहीं है, उनका एक उद्देश्य बस वही एकरूपता लाना है।'[46]

सौन्दर्य मीमासा के अन्तर्गत सौदर्य के स्वरूप और प्रतिमान पर विचार होता है। जिस प्रकार नीतिशास्त्र की समस्या नैतिक चेतना या शुभ-अशुभ , भले-बुरे कार्यो की व्याख्या करना है, उसी प्रकार सौदर्य मीमांसा का उद्देश्य सौदर्यानुभूति या सुन्दर असुन्दर के भेद को बुद्धिगम्य बनाना है। प्रकृति जगत् एवं मानव जगत् में हम कुछ वस्तुओं को सुन्दर तथा कुछ को असुन्दर कहते हैं। कुछ को कम सुन्दर तथा कुछ को अधिक सुन्दर समझते है। इस प्रकार के निर्णयों का क्या कोई युक्तिसंगत आधार है? क्या सौन्दर्य या असौन्दर्य की कोई सर्वमान्य या बौद्धिक व्याख्या सम्भव है? क्या सुन्दर पदार्थो में कोई ऐसा सर्वमान्य धर्म या गुण रहता है, जिसे उसके सौन्दर्य का हेतु अथवा आधार कहा जा सके?

सौन्दर्यानुभूति की अपनी कुछ विशेषताए होती हैं जो उसे अन्य प्रकार की अनुभूतियों से पृथक करती है। सौन्दर्य के अनुभव में एक विशेष प्रकार् का आनन्द रहता है। यह आनन्द साधारण इन्द्रिय जन्य सुखो से भिन्न होता है। इन्द्रियजन्य सुख प्राय इच्छा अथवा अतृप्ति मे प्रारम्भ होता है और उसके भोग से कुछ समयबाद उकताहट हो जाती है। इन्द्रियजन्य सुख जिस अनुपात मे तीव्र होते हैं उस अनुपात मे शक्ति का क्षय करने वाले भी होते है। इन्द्रिय जन्य सुख में दु ख का समावेश रहता है। सौंदर्य के अनुभव में संवेग अवश्य वर्तमान रहता है, किन्तु इस संवेग में उत्तेजना न होकर स्थिरता और शांति रहती है। अत सौंदर्यानुभूति विशुद्ध रूप से आनन्दमयी होती है। यह अनुभूति बड़ी ही स्वच्छ, निर्मल तथा संस्कृत होती है। यह मन तथा इन्द्रियों के संयुक्त व्यापार से घटित होती है। इसका उपयोगिता से कोई सम्बंध नही होता। सौन्दर्यानुभूति मन की तटस्थ या उदासीन वृत्ति से सम्बंध रखती है। सौंदर्य की अनुभूति बौद्धिक चिन्तन क्रिया से भिन्न है।

जैसे भारतीय दर्शन मे दर्शन की विभिन्न शाखाओं का पृथक्-पृथक् विवेचन नही किया गया है परन्तु दर्शन की सभी समस्याओं का संश्लिष्ट रूप में समाधान प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों में सौन्दर्य मीमांसा का विवेचन पृथक् रूप से नहीं किया गया है। परन्तु 'सद्' का विवेचन करते समय उन्होंने ब्रह्म को परमसत् और सच्चिदानन्द कहा है। उनके विचार मे परम सत् की सर्वोपरि अभिव्यक्ति ईश्वर अथवा सर्वोच्च शासक के रूप मे, सर्वोच्च और सर्वशक्तिमान जीवन या उर्जा के रूप में हुई है। परम ज्ञान अपनी सर्वोच्च अभिव्यिक्ति परम प्रभु के प्रति अनन्त प्रेम में कर रहा है। परम आनन्द की अभिव्यक्ति परम प्रभु मे अनन्त सौन्दर्य के रूप में होती है। आत्मा का सर्वापरि आकर्षण वही है।

विवेकानन्द की सौन्दर्य की व्याख्या अद्वैत वेदान्त के अनुरूप है। इनके अनुसार सौन्दर्य की अनुभूति इन्द्रियातीत है। यह अमूर्त तथा शाश्वत है। जगत में हम जिन्हें

सुन्दर कहते है वह परिवर्तनीय एव विषयनिष्ठ हैं। यथार्थ सौन्दर्यानुभूति शाश्वत् एवं अनन्त होती है। मनुष्य के जीवन का लक्ष्य इसी सर्वोच्च सौन्दर्यानुभूति को प्राप्त करना है।

*****

सन्दर्भ

1- विवेकानन्द साहित्य, खण्ड -6 , पृ0 291

2- वही खण्ड - 2, पृ0 88

3- वही खण्ड - 2, पृ0 89

4- वही खण्ड-9, पृ0 314

5- वही खण्ड 8, पृ0 83

6- ब्रह्मसूत्र 111/1/211

7- विवेकानन्द साहित्य खण्ड 4, पृ0 9

8- वही खण्ड - 4, पृ09

9- वही खण्ड-8, पृ0 119-119

10- ऋग्वेद , 7.8 7.2

11- ऐतरेय उ0 1.1 पर शकर भाष्य

12- तैत्तरीय उपनिषद 1 5.1

13- छान्दोग्य उपनिषद 8 7 4, 8.10.1, 8.11.1

14- विवेकानन्द साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ0 209

15- ज्ञानयोग, स्वामी विवेकानन्द पृ0 124

16- विवेकानन्द साहित्य, अष्टम्, खण्ड, पृ0 98

17- वही

18- शंकर ब्रह्मवाद, राम स्वरूप सिंह नौलखा, पृ0 133

19- भगवद्गीता, शांकर भाष्य, पृ0 13

20- ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य 2.1.1.2

21- विवेकानन्द साहित्य खण्ड 2, पृ0 85

22- वही पृ0 87

23- वही, पृ0 90

24- वही, पृ0 91

25- विवेकानन्द साहित्य खण्ड 4, पृ0 194

26- वही,खण्ड 3, पृ0 167

27- भगवद्गीता, 3 3

28- विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 2, पृ0 11

29- कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 8, पृ0 282

30- विवेकानन्द साहित्य खण्ड 2, पृ0 26

31- वही, खण्ड 4, पृ0 106

32- वही, खण्ड 6, पृ0 254

33- मानविकी परिभाषिक कोश, दर्शन खण्ड, राज कमल प्रकाशन, पृ0 30

34- दर्शन वी मूल धाराये, अर्जुन मिश्र, पृ0 32

35- विवेकानन्द साहित्य खण्ड 4, पृ0 89

36- वही

37- कर्मयोग, विवेकानन्द रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ0 65-66

38- भारत में विवेकानन्द- पृ0 153-154

39- सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार पृ0 44-46

40- वही पृ0 94

41- शिक्षा, विवेकानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर, एकादश सस्करण, 1985, पृ0 18

42- वही पृ0 82-83

43- वही, पृ0 85

44- सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार पृ0 66-67

45- वही, पृ0 68

46- वही, पृ0 10

xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

डा0 एनी बेसेण्ट के दार्शनिक विचार

xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

डा0 श्रीमती एनी बेसेण्ट

किसी भी चिंतक के दार्शनिक विचारों को तत्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और मूल्य मीमांसा के अन्तर्गत अध्ययन करना आवश्यक होता है। इस दृष्टिकोण से हम प्रथमत तत्वमीमांसा से सम्बंधित डा0 एनी बेसेण्ट के विचाारों का अध्ययन करते हैं-

तत्वमीमांसा

इसके अन्तर्गत सत्, ईश्वर, आत्मा तथा जगत् के बारे में अध्ययन करेंगे।

सत्

श्रीमती एनी बेसेण्ट के अनुसार 'सत्' अव्यक्त पर्ब्रह्म है। सह सर्वव्यापी, सर्वनियामक एवं सर्वव्यवस्थापक है। 'ब्रह्म आत्मा के रूप में हर वस्तु में विद्यमान है, अणु से लेकर देवदूत तक, धूल का एक कण भी ऐसा नहीं है जहाँ ब्रह्म की स्थिति न हो। श्रेष्ठतम फरिश्ता सत् अग्नि की चिंगारी है जो ईश्वर है। एक महान आत्मा के सभी अंश है, अतएव सबकी एक मौलिक एकता है, अत. सभी आपस में भाई-भाई हैं। ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा मानव मात्र की एकता ही ब्रह्मविद्या का मूल सत्य है।'[1]

इनका मानना है कि सभी व्यक्त वस्तुऐं अस्थाई हैं, केवल वह अव्यक्त सत्ता ही पूर्ण व अपरिवर्तनशील है। सभी व्यक्त वस्तुऐं चाहे वे उच्चतम लोगों की ही क्यों न हों- एक दिन उसी अव्यक्त में विलीन हो जायेंगी। अतः हम जिन्हें अस्थाई कहते हैं, उनमें और उच्चतम लोकों में केवल काल का ही भेद है, जो कि उस शाश्वत् की तुलना में कुछ भी नहीं।

सत् या ब्रह्म का निरूपण डा0 एनी बेसेण्ट ने हिन्दू धर्म की श्रुतियों के आधार पर किया है। छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित 'एकमेवाऽद्वितीयम्' का उद्धरण देते हुए ब्रह्म को एक और अद्वितीय बताया है । ब्रह्म को त्रिमूर्त बताया है क्योंकि वह सत्,

चित् और आनन्दरूप है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता और अखण्डत्व की व्याख्या हेतु श्रीमती बेसेण्ट ने मुडकोपनिषद् के इन श्लोकों का प्रयोग किया है-

'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलं।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तयदात्मविदोविदुः।।
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणत श्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।।[2]

जिसके अनुसार ब्रह्म हिरण्मय बड़े कोश में दोषरहित अखंड रूप से रहता है। वह शुद्ध है और सब प्रकाशों का प्रकाश है, उसी को आत्मज्ञानी लोग जानते हैं। यही अमृतरूप ब्रह्म हमारे आगे, पीछे, उत्तर-दक्षिण तथा ऊपर और नीचे हैं।

एक अन्य स्थल पर ब्रह्म के स्वरूप की झलक श्वेताश्वर उपनिषद के तीसरे अध्याय से इन शब्दों में व्यक्त की है:-

'ब्रह्म विश्व से परे से, महान है। भूतमात्र में उनके देह के अनुसार उनमें गूढ़ हैं। सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। ऐसे ईश्वर को जानकर मनुष्य अमरत्व को प्राप्त होता है। मैं इस महान सूर्य के समान वर्ण युक्त आदि पुरुष को जानता हूँ जो अन्धकार से परे है। मैं इस अजर अमर, पुराण, सर्वात्मा, सर्वव्याप्त विभु को जानता हूँ जिसे ब्रह्मवादी नित्य और अजन्मा कहते हैं।' [3]

ईश्वर

अनादि , अनन्त, अगम्य, नित्य, सत्, परब्रह्म से व्यक्त ईश्वर का उद्भव होता है यह ईश्वर एक से द्वैतभाव को और द्वैत से त्रिपुटी को या त्रिमूर्ति को प्राप्त होता है। इस व्यक्त त्रिपुटी या त्रिमूर्ति में से सृष्टि के व्यवस्थापक देवताओं की उत्पत्ति होती है। ईश्वर के सम्बंध में डा0 एनी बेसेण्ट के उक्त विचार सनातक धर्म तथा ईसाई धर्म से मिलते हैं। यथा सनातन धर्म में सृष्टि की रचना करने वाले ब्रह्मा सृष्टि की रक्षा करने वाले विष्णु तथा सृष्टि का विनाश द्वारा नव निर्माण करने वाले महेश कहे जाते हैं। इसी प्रकार ईसाई धर्म में इन तीन रूपों को पवित्र आत्मा (Holy Sprit) ﴾ पुत्र ﴾ ﴾ तथा पिता ﴾Spirit ﴾ कहा जाता है। इन्हीं तीन रूपों को हिब्रू कबालिस्ट को चमा ﴾ Chochmah ﴾ बीना ﴾ Binah ﴾ तथा केदर ﴾ Kethar ﴾ कहते हैं। इन्हें थियोसोफिकल में तृतीय शब्द ब्रह्म ﴾ Third lagos ﴾ द्वितीय शब्द ब्रह्म ﴾ Second Lagos ﴾ तथा प्रथम शब्द ब्रह्म ﴾ First lagos ﴾ कहा जाता है।

तृतीय शब्द ब्रह्म ने अपने सौर मण्डल के भूत द्रव्य को बनाया है तथा सात प्रकार के परमाणुओं का निर्माण किया है। सूर्य मण्डल की प्रकृति को इन परमाणुओं के सम्मिश्रण द्वारा उन्होंने सात लोकों में विभाजित किया है। इनके हर निचले लोक की प्रकृति ऊपर के लोक की प्रकृति से अधिक स्थूल होती जाती है तथा हर लोक की प्रकृति का एक विशेश प्रकार की स्पष्ट चेतना से सम्बंध विशेष रहता है। एक तरह से परमाणु द्वारा निर्मित प्रकृति को हम एक लोक या भूमिका कहते हैं। अतएव एक सौर मण्डल में हम सात लोक पाते हैं। इन सात लोकों को निम्न चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है-

(1)	आदि लोक	दैवी लोक
(2)	अनुपादक लोक	
(3)	हिरण्यमय लोक	आध्यात्मिक लोक
(4)	आनन्दमय लोक	
(5)	मनोलोक या स्वर्लोक	
(6)	वासना या भुवर्लोक	
(7)	भूलोक	

इन सप्त लोकों में ऊपर वाला शब्द ब्रह्म का लोक है तथा दूसरा प्रत्यगात्मा (Monad) का लोक है। यहाँ से जीवात्माओं की उत्पत्ति होती है। आध्यात्मिक लोक पर पहुँचने पर मनुष्य ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करने लगता है। मनोलोक या स्वर्लोक ऊपर वाले लोकों से अधिक स्थूल है तथा यह विचारों का लोक है। छठा वासना या भुवर्लोक है यह काम अथवा वासना का स्थान है यह मनोलोक से अधिक स्थूल है। भूलोक का भूतद्रव्य सब लोकों से अधिक स्थूल है जिसका संगठन सबसे पहले मानव चेतना के प्रकटीकरण के लिए होता है।

इस प्रकार अव्यक्त ब्रह्म सृष्टि की रचना हेतु जिन विभिन्न स्वरूपों में व्यक्त होकर क्रियाशील होता है उसे ईश्वर कहते हैं। यह ईश्वर अलग अलग गुणों से युक्त होकर सृष्टि की रचना, पालन व विनाश करता है। इसी से विभिन्न देवताओं की उत्पत्ति होती है। जैसे सूर्य देवता, चन्द्रदेवता , अग्नि देवता, वायु देवता, वरुण देवता, आदि।

आत्मा

'ब्रह्मविद्या' मे अटूट विश्वास रखने वाली डा० एनी बेसेण्ट के आत्मा सम्बंधी विचार 'ब्रह्म-विद्या' पर आधारित है। ब्रह्मविद्या के अनुसार मनुष्य का निर्माण सात तत्वों से हुआ है। परन्तु उसे एक इकाई, आत्मा मानता उचित है। यह आत्मा सृष्टि के उच्चतम लोक में रहती है जो सर्वव्यापी एवं सर्वत्र है सबमें समान रूप से व्याप्त है। यह (आत्मा) परमात्मा का एक अंश तथा दिव्य ज्योति की एक चिनगारी है। आत्मा और परमात्म के सम्बंध को डा० बेसेण्ट ने बड़े अच्छे रूपक द्वारा समझाया है-

'जिस प्रकार बड़ा होकर पुत्र अपने पिता के समान बनता है उसी प्रकार इस अंश को ईश्वरीय परिपूर्णता को प्रतिबिम्बित करते हुए अपने व्यक्तित्व का विकास करना है।'[4]

डा० बेसेण्ट के अनुसार आत्मा अपने उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक एक करके अनेक वस्त्र या आवरण धारण करती है। प्रत्येक आवरण प्रकृति के किसी लोक विशेष के पदार्थ से निर्मित होता है। उस लोक से सम्पर्क स्थापित करने में, उसका ज्ञान प्राप्त करने में तथा उसमें क्रियाशील होने में यह आवरण ही उसकी सहायता करता है। इस प्रकार आत्मा अनुभव प्राप्त करती है और उसकी समस्त सुप्त शक्तियाँ धीरे-धीरे क्रियाशील हो जाती है।

डा० एनी बेसेण्ट के आत्मा सम्बंधी उपरोक्त विचार वेदान्त दर्शन के 'आत्मा' से मेल खाते हैं। सात तत्वों से निर्मित मनुष्य के ये तत्व दो भागों में बँटे होते हैं। पहले वर्ग में तीन उच्च तत्व होते हैं जिन्हें त्रिपुटी (Triad) कहते हैं। दूसरे वर्ग में निम्न चार तत्व हैं जिसे चतुष्क (Quarter hary) कहते है। त्रिपुटी तीन उच्च तत्वों से बना मनुष्य का अनश्वर अंश होता है। तथा चतुष्क चार नश्वर तत्वों से बना नश्वर अंश होता है। इस नश्वर अंश को शरीर भी कहा जाता है। अनश्वर तत्व को ईसाई धर्म में आत्मा (spirit) और जीवात्मा (Soul) कहा

गया है तथा नश्वर अंश को शरीर (Body) कहा गया है। शरीर, आत्मा और जीवात्मा का यह विभाजन सेन्टपॉल तथा अन्य ईसाई विचारकों ने भी स्वीकारा है। वेदान्त में भी जीव, जीवात्मा और आत्मा का वर्णन किया गया है। साधारण बोल चाल में हम लोग शरीर और आत्मा के योग से मनुष्य का निर्माण मानते हैं। परन्तु ब्रह्म विद्या के दृष्टिकोण से आत्मा (स्प्रिट) और जीवात्मा (सोल) का प्रयोग भिन्न अर्थो में किया जाता है।

एच0पी0 ब्लैवेट्स्की के अनुसार - 'आत्मा' परमात्मा या विश्वात्मा का अश है। हमारे अंदर से भी अधिक यह हमारे ऊपर का ईश्वर है। धन्य है वह व्यक्ति जिसका अन्तर्मन इससे परिपूर्ण हो जाये।

इस प्रकार मनुष्य के स्वरूप का सूक्ष्मतम भाग आत्मा है। अपनी अभिव्यक्ति के लिए इसे एक शरीर की आवश्यकता होती है। यही एक मात्र सत्य है जो प्रत्येक लोक में व्यक्त होता है। यही वह मूल तत्व है जिसके विभिन्न स्वरूप हमारे समस्त तत्व हैं। यही एक चिरन्तर शासृश्वत् अखण्ड जीवन है जिससे सभी की उत्पत्ति हुई है। आत्मा उसी शाश्वत् जीवन की एक किरण है। वही समस्त सृष्टि व मनुष्य मे व्याप्त हे। वह प्रत्येक परमाणु में है। अलग से प्रत्येक परमाणु का तथा सामूहिक रूप से प्रत्येक आकार का मूल यही है। समस्त तत्व विभिन्न लोकों में मूलतः आत्मा ही है। परन्तु यह स्वयं को निम्न लोकों में व्यक्त करने में असमर्थ है। अतः अपने को व्यक्त करने के लिए वाहन या माध्यम स्वरूप बुद्धि का आवरण ग्रहण करना पड़ता है। क्योंकि बुद्धि ज्ञान प्राप्ति की क्षमता है। अतः इस सर्वव्यापी तत्व को आत्मचेतन होने के लिए शरीर धारण की आवश्यकता होती है। बुद्धि के माध्यम से ही दिव्य ज्ञान जीवात्मा तक पहुँचता है। इसी से सद्-असद् का विवेक होता है। यही दैवी अन्तः प्रेरणा है। यही आध्यात्मिक जीव तथा आत्मा का वाहन है। इसे आध्यात्मिक विवेक का तत्व भी कहा जाता है। परन्तु इस सर्वव्यापी तत्व, आत्मा-बुद्धि को अनुभव ग्रहण करने तथा आत्म चेतन होने के लिए व्यक्तिकरण की आवश्यकता होती है। इसलिए

मनस् तत्व को आत्मा बुद्धि से मिला दिया जाता है। और इस प्रकार मानवीय त्रिपुटी पूर्ण हो जाती है। मनस् के मिलने से बुद्धि आध्यात्मिक जीवात्मा बन जाती है। इन दोनों के ही मिलने से आत्मा का विकास होता है जिससे वह समस्त लोकों में आत्म चेतन हो सके।

मनस् (उच्च) आत्मा बुद्धि की ओर बढ़ने के लिए प्रयत्नशील रहता है तथा निम्न मन उच्च मनस् की ओर। इसलिए आत्मा बुद्धि को उच्च मनस् का तथा उच्च मनस् को निम्न मन का पिता कहा जाता है। निम्न मन अनुभव एकत्र कर उच्च मन तक ले जाता है और उच्च मन आवागमन के पूरे चक्र में इन्हें एकत्र करता रहता है। उच्च मनस् का बुद्धि से ऐक्य हो जाता है और ये दोनों बुद्धि और मनस् आत्म ज्योति से परिव्याप्त हो जाते हैं। त्रिमूर्ति एकरूप हो जाती है तथा सभी लोकों मे आत्म चेतन व्याप्त हो जाता है जो व्यक्त सृष्टि का उद्देश्य है।

इस प्रकार हमारी सृष्टि मे आत्मा-बुद्धि, विश्वात्मा विशुद्धात्मा एक ही है। वह सर्वव्यापी, सर्वत्र है। वह परमशक्ति एक ही है। विभिन्न शक्तियाँ उसके रूपान्तर मात्र हैं। जैसे सूर्य का प्रकाश विभिन्न परिस्थितियों में प्रकाश, ऊष्मा, या विद्युत बन जाता है इसी प्रकार शक्ति रूप आत्मा विभिन्न लोकों में विभिन्न प्रकार से व्यक्त होता है। निराकार रूप में यह 'एक जीवन' है तथा साकार रूप में यह सम्पूर्ण व्यक्त सृष्टि है।

जगत्

'एक ही ईश्वर से उत्पन्न हुई और उसी की आत्मा से पोषण प्राप्त करती हुई सृष्टि रचना को जो स्वयं में सम्पूर्ण है, हम विश्व या जगत् कहते हैं। हमारा सौर जगत या सूर्यमण्डल इसी प्रकार का विश्व है। चूँकि हमारा स्थूल सूर्य इस विश्व का केन्द्र है, इस दृष्टि से उसे हम अपने ईश्वर की अति स्थूल उपाधि या विभूति कहेंगे। वैसे तो प्रत्येक रूप में वही ईश्वर व्यक्त भाव को प्राप्त होता है, परन्तु प्राणदायक, पोषक, सर्व-व्यापक, सर्वनियामक, सर्वव्यवस्थापक केन्द्रस्थ सत्ता के हिसाब से सूर्य को ही ईश्वर का स्थूलातिस्थूल प्रकट रूप कह सकते हैं।'[5]

उपनिषदों में अटूट श्रद्धा रखने वाली एवं ब्रह्मविद्या में रुचि रखने वाली डा0 एनी बेसेण्ट ने जगत् के सम्बंध मे जो उपरोक्त विचार प्रस्तुत किए हैं वे अधिकांशत वेदान्त दर्शन से मिलते हुए हैं। 'विश्व की उत्पतित एवं रचना' नामक अध्याय में लिखा है कि ईश्वर के योग निद्रा से जागने पर अथवा अव्यक्त अवस्था से व्यक्त भाव को प्राप्त होने से ही विश्व की उत्पत्ति का आरम्भ हो जाता है। अपने कथन की पुष्टि मुण्डकोपनिषद के इस श्लोक से करती है-

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासासर्वमिदं विभाति'।[6]

अर्थात् ब्रह्म के व्यक्त होने के पश्चात् ही बाकी सब कुछ व्यक्त हो जाता है। उसके प्रकाश से ही सब (जगत् मात्र) प्रकाशित होता है।

पूर्व सृष्टि में उत्पन्न होकर परिपक्व अवस्था को प्राप्त हुए कुछ महान जीवों को भी ये ईश्वर अपने साथ ही लाते हैं। ये एक प्रकार की दिव्य योनि के जीव हैं जो इस नव निर्मित जगत् में ईश्वर के नियम के अन्तर्गत रहकर उसकी इच्छानुसार सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होते हैं। इनमें सबसे ऊँचे सात देवता हैं जो स्वयं भी इस सृष्टि

के एक-एक बड़े विभाग की केन्द्रीय व्यवस्था करते हैं ठीक वैसे ही जैसे सम्पूर्ण सृष्टि की ईश्वर (ब्रह्म)। इस व्यक्त ईश्वर को कभी कभी लोगस भी कहते हैं। इस प्राथमिक सप्त विभाग के कारण हमारे जगत् में भी सप्त विभाग सर्वत्र दिखाई देते हैं। उनसे उतरते हुए नीचे के विभागों मे भी सात विभाग का नियम जारी रहता है। इन सात देवगणों के अधिकार के नीचे दूसरे सात उपदेवता और अन्य देवगण होते हैं जो उसके सृष्टि प्रकरण की व्यवस्था करते हैं। इन सात देवगणों में **लीपिक** भी हैं जो अपने अपने विभाग के तथा उन विभागों के जीवात्माओं के कर्म का हिसाब रखते हैं। इनमें **महाराज या देवराज** वर्ग भी होते हैं जो कर्म नियम के अनुसार सबकी योजना करते हैं। इनके अलावा **विश्व कर्माओं** के अनेक बड़े - बड़े समूह हैं। ईश्वर के मन मे सम्पूर्ण विश्व विचार रूप से रहता है । ये विचार रूप इनसे निकल कर सात प्रधान देवों के हाथ में आते हैं जो अपनी अपनी सृष्टि उन विचार रूपों के अनुसार रचकर उस सृष्टि मे अपनी क्रिया भी करते हैं। इन विश्वकर्मा देवों का काम है ईश्वर के संकल्प के अनुसार रूप बनावे। सूर्यमण्डल के इन सात विभागों को मैडम ब्लैवट्स्की ने सात लय केन्द्रों की संज्ञा दी है। उनके अनुसार सात लय केन्द्र सात शून्य बिन्दु है जहाँ से गुप्त विद्या के अनुसार प्रकृति की साम्यावस्था में विभेदन या व्यावर्तन यानी भेद आरम्भ होता है। इन सात बिन्दुओं की अवस्था के आगे केवल वे सात देवता धुंधले रेखा चित्रों के रूप में दिखाई पड़ते हैं, इन सात लय केन्द्रों के पश्चात नीचे पदार्थ का पृथक्करण होकर तत्व बनना आरम्भ होता है। जिनसे सम्पूर्ण सूर्यमण्डल बना है। सूर्यमण्डल आरम्भ होने के पूर्व की महाविश्व की प्रकृति तो रहती ही है। सूर्यमण्डल प्रदेश के जो सात विभाग हैं अधिपति सात देवता हैं। इन सात विभागों में सात ग्रह मालाएं बनती हैं और ये सात देवता उनके बनाने वाले तथा उनके अधिष्ठाता ईश्वर है। जो कार्य हमारे सौर मण्डल के ईश्वर सम्पूर्ण सूर्य मण्डल के लिए करते हैं वही काम ये देव अपने ग्रहमाला के लिए करते हैं। इसलिए उन्हें हम ग्रहमाला के ईश्वर या प्रजापति भी कह सकते हैं। सूर्यमण्डल के भीतर की प्रकृति में ईश्वर की क्रिया होती है। उस प्रक्रियायुक्त प्रकृति में से ये ग्रहमाला के ईश्वर अपने अपने कार्य के लिए प्रकृति ले लेते हैं और उनके प्राणबलों द्वारा उस प्रकृति में आगे और भी विक्रियाएं होती हैं। इनके अपने अपने विभाग

में सात खण्डों या लोकों का निर्माण होता है और प्रत्येक खण्ड की प्रकृति सम्पूर्ण सूर्यमण्डल की किसी एक अन्तर्खण्ड की प्रकृति से मिलती है। इस प्रकार सारे सूर्यमण्डल में एक ही सिलसिला, एक ही अविच्छिन्न क्रम, एक ही अनुवर्तन वर्तमान रहता है। श्रीमती एच0पी0 ब्लैवेट्स्की ने रहस्यज्ञान पुस्तक में वर्णित किया है- प्रत्येक ग्रह में परमाणु भिन्न भिन्न रीति से सम्मिश्रित होते हैं परन्तु वे परमाणु सर्वत्र एक ही से है। केवल उनके मिलने की रीति बदलती रहती है। इसी प्रकार इस सूर्यमण्डल के ये मूलतत्व, सूर्यमण्डल के बाहर के मूल तत्वों से भी बिल्कुल भिन्न होते हैं। प्रत्येक परमाणु के ऊपर सात अन्तरखण्डों के आवरण रहते हैं अर्थात् वह भी सात अन्तर्लोकों में रहता है।

निर्माण होते हुए अपने इस जगत् के नीचे के तीन लोकों में, ईश्वर ग्रहमाला के सात गोले या सात सृष्टियाँ बनाते है, जिन्हें हम अ,ब,क,ड,ई,फ और ग ये सात नाम देते हैं।'ज्यान' नाम की पुस्तक के छठे श्लोक में कहा है कि ये 'सात छोटे छोटे घूमते हुए चक्र हैं जिनमें एक से दूसरा उत्पन्न होता है।' ईश्वर इन्हें पुराने चक्रों के समान बनाता है और इन्हें अविनाशी केन्द्रों पर स्थापित करता है।'

इन केन्द्रों को अविनाशी इसलिए कहा है क्योंकि एक चक्र से उसका उत्तराधिकारी दूसरा चक्र उसी केन्द्र पर उत्पन्न होता है। इसके अलावा वह प्रथम चक्र ही स्वयं उस केन्द्र पर फिर से जन्म लेता है।

ये सात गोले दीर्घ वृत्त की चाप में अर्थात् अर्द्ध अण्डाकार की आकृति में जोड़े-जोड़े से स्थापित हैं। इन सात गोलों को अग्रांकित रूप में दिखा सकते हैं-

बीच का चतुर्थ गोला सबसे नीचे मध्यगत स्थान में होता है। अधिकतर 'अ' और 'ग' अर्थात् प्रथम व सप्तम गोले मनोलोक के अरूप खण्ड में रहते हैं, 'ब' और 'फ' अर्थात् द्वितीय व षष्ठम् गोले रूप खण्ड में रहते हैं, गोले 'क' और 'ई' अर्थात् तृतीय व पंचम भुवर्लोक में रहते हैं। चतुर्थ गोला 'ड' भूलोक में रहता है। मैडम ब्लैवेट्स्की के अनुसार ये गोले व्यक्त जगत् के नीचे के चार लोकों में रहते हैं।[7]
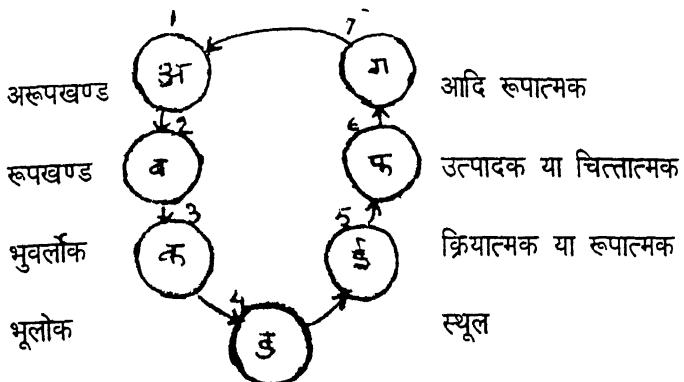
साधारणत· व्यवस्था इस प्रकार की रहती है । परन्तु विकास क्रम की किसी किसी अवस्था में इसमें थोड़ी भिन्नता हो जाती है। इन सात गोलों की एक ग्रहमाला बनती है। इन सात गोलों की माला को यदि हम एक व्यक्ति का रूप मान लें तो इसके विकास के सात दर्जे दिखाई देते हैं। सातों गोले मिलकर इस ग्रहमाला का शरीर बनाते हैं और इस माला के जीवन काल में इसके शरीर का सात बार प्रलय होना है और सात बार पुनः जन्म। अर्थात् इस ग्रहमाला के सात जन्म होते हैं और एक जन्म में जो कुछ फल प्राप्त होता है उसका उपयोग दूसरे में होता है।

'गोलों की ऐसी प्रत्येक माला, उससे पूर्व की मृत और कम विकास वाली माला की संतान है या यों कहिए- एक रीति से उसी ने नया जन्म धारण किया है।'[8]

ग्रहमाला के जीवनकाल अर्थात् मन्वन्तर काल के भी सात विभाग रहते हैं। ग्रहमालेश्वर से जीवन तरंग का प्रवाह निकल कर प्रथम एक गोले में, फिर उससे चलकर दूसरे में इस प्रकार सातों गोलों में प्रवाहित होता है। एक जीवर तरंग जितने समय में सातों गोलों में घूम चुकती है उतने समय को परिक्रमाकाल (Round) कहते

हैं। इस प्रकार सात परिक्रमा काल व्यतीत हो चुकने पर एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक मन्वन्तर काल में प्रत्येक गोले के सात क्रिया काल (परिक्रमा काल) ऐसे आते हैं, जिनमे वहाँ जीवन विकास का कार्य चलने लगता है। एक मन्वन्तर के पश्चात दूसरे मन्वन्तर में भी इसी प्रकार का क्रम चलता रहता है। जब सातों मन्वन्तरों का विकास पूरा हो चुकता है तो उस ग्रहमाला के जन्मों का अन्त आ चुका होता है। इस अंत के आने पर उस ग्रहमाला के ईश्वर उसके सम्पूर्ण विकास का फल एकत्र कर लेते हैं।

जगत् के बारे में डा0 एनी बेसेण्ट ने जो कुछ वर्णित किया है वह आध्यात्मिक गुरू मैडम ब्लैवेट्स्की द्वारा लिखित 'रहस्य ज्ञान' पुस्तक पर आधारित है। हालाकि कहीं कहीं इनके विचार व ग्रह के नाम सनातन धर्म में वर्णित नाम से मिलते जुलते हैं। परन्तु विचारों में यदा कदा तारतम्यता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। सारांश में हम कह सकते हैं कि इनके विचार में जगत् अव्यक्त ब्रह्म की व्यक्त अभिव्यक्ति है जिसका प्रस्फुटन ब्रह्म के विचार स्वरूप प्रकृति की साम्यावस्था में विभेदन से हुआ। और साम्यावस्था पुनः प्राप्त होने पर जगत् ब्रह्म में विलीन हो जायेगा। इससे यह स्पष्ट है कि जगत् सत्य है। परन्तु यह अस्थायी एवं परिवर्तनशील है। सृष्टि के पूर्व यह अपने सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहता है तथा विश्व की रचना के समय यह स्थूल रूप धारण करता है। विश्व में सौर मण्डल लोकों का वह समूह है जो केन्द्रीय सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करता रहता है। जिससे सभी लोक जीवन शक्ति एवं प्रकाश प्राप्त करते रहते हैं। यह सौर मण्डल विकास का एक बहुत बड़ा क्षेत्र है, जिस पर ईश्वरीय सत्ता का आधिपत्य होता है। यह ईश्वरीय शक्ति सौरमण्डल के तत्वों को प्रकृति के आकाश तत्व से लेकर, उसमें अपना जीवर भर कर , उसे अपना संगठित शरीर बनाकर और फिर अपने हृदय-सूर्य से उस जीवन धारा का प्रवाह करती है जो समस्त सौर मण्डल में प्रवाहित होती है। यह सारा सोर मण्डल ईश्वर का. शरीर है तथा सूर्य उनका हृदय। जैसे हृदय से जीवन शक्ति लेकर रुधिर सारे शरीर में प्रवाहित होता है तथा जीवन शक्ति के खय हो जाने पर नई शक्ति से परिपूर्ण होने के लिए रुधिर पुनः हृदय तक लौट आता है और पुनः नई शक्ति लेकर सारे शरीर में फैल जाता है, उसी प्रकार ईश्वर

के हृदय-सूर्य से शक्ति सारे सौर मण्डल मे प्रवाहित होती रहती है।

तृतीय शब्द ब्रह्म ने सौर मण्डल के भूत द्रव्यों को बनाया है तथा सात प्रकार के परमाणुओं का निर्माण किया है। इन परमाणुओं के सम्मिश्रण द्वारा सात लोकों आदि-लोक, अनुपादक लोक, हिरण्यमयलोक, आनन्दमयलोक, मनोलोक या स्वर्लोक, भुवर्लोक और भू-लोक का निर्माण हुआ है। सातवाँ भूलोक सबसे अधिक स्थूल है। हर लोक की प्रकृति का एक विशेष प्रकार की स्पष्ट चेतना से सम्बंध होता है। एक तरह के परमाणु द्वारा निर्मित प्रकृति को हम एक लोक या भूमिका कहते हैं। सात प्रकार के भूतद्रव्य स्थूल, तरल, वायुमय तथा ईथर के चार रूप परस्पर व्याप्त होकर हमारे चारों ओर की वस्तुओं मे व्याप्त है। इन सातों तत्वों का फैलाव सम्पूर्ण सौर्य मंडल पर समभाव से नहीं है। तीन सूक्ष्म तत्व समग्र मण्डल पर समभाव से फैले हैं किन्तु चार स्थूल तत्व एक ग्रह से दूसरे ग्रह पर समभाव से नहीं फैले हैं।

ज्ञान मीमांसा

तत्व मीमांसा द्वारा सत् , ईश्वर, आत्मा व जगत् का स्वरूप निर्धारित करने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विश्व प्रक्रिया का ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाये? अर्थात् किन साधनों द्वारा यह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है तथा मानवीय ज्ञान की मर्यादा क्या है?

श्रीमती एनी बेसेण्ट के अनुसार मानव जीवन का उद्देश्य 'एकमेव अद्वितीय' की अनुभूति करना है। जो अनुभूति ब्रह्मज्ञान द्वारा ही हो सकती है। इसका ज्ञान चक्षुओं द्वारा वाणी द्वारा अथवा इन्द्रियों द्वारा, तप द्वारा या धार्मिक कृत्यों द्वारा नहीं हो सकता किन्तु विशुद्ध सत्व होकर, ज्ञान द्वारा ध्यान करने से उस अखंड एक का दर्शन होता है। 'ब्रह्मज्ञान' को अंग्रेजी में थियोसाफी कहते हैं। ब्रह्मज्ञानियोंद्वारा 'थियोसॉफिकल सोसायटी' की स्थापना की गयी। जिसके सदस्य ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करने की दिशा में सचालित हैं। थियोसॉफिस्टों का मानना है कि दैवी गुरुजनों का एक महान ऋषिसंघ है। इसी ऋषिसंघ के सदस्यों द्वारा विश्व के सभी धर्म व मत संस्थापित हुए थे और होते हैं तथा भविष्य में भी होते रहेंगे। इस ऋषिसंघ से कभी कभी कोई सदस्य संसार में अवतीर्ण होकर किसी नवीन धर्म की स्थापना करते हैं। इस नवीन धर्म का सार-उपदेश वही रहता है जो पुराने धर्मो का रहा है। किन्तु उसका बाह्य रूप समय परिस्थिति तथा तत्कालीन मनुष्यों की योग्यता व समाज के गठन के अनुसार कुछ परिवर्तित रहता है। सभी धर्मो के मौलिक उपदेश एक से रहते हैं केवल बाह्यरूप में भेद रहता है। विभिन्न धर्मा के प्रतीक चक्र, त्रिकोण, क्रॉस, नेत्र, सूर्य तारा आदि प्रतीक भी धर्मो की मौलिक एकता के मूक प्रमाण हैं। इस प्रकार थियोसॉफिकल सोसायटी सभी धर्मो की सेवा समरूपेण करती हैं तथा बन्धुत्व के रूप में उन्हें एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास करती है। जो कि मानव मात्र के जीवन का अंतिम ध्येय है।

अतः ब्रह्मविद्या किसी व्यक्ति या धर्म की निजी सम्पत्ति नहीं है, अपितु इस पर सम्पूर्ण मानव जाति का समान अधिकार है। हर धर्म, हर दर्शनशास्त्र , हर

विज्ञान तथा हर कार्यपद्धति इस ईश्वरीय ज्ञान से सत्य और सुन्दरता ग्रहण करती है। इस प्रकार 'थियोसॉफी' थियोसॉफिकल सोसायटी की अपनी सम्पत्ति नहीं है, वरन् थियोसॉफिकल सोसायटी थियासॉफी का अंग है।

ब्रह्म के एकत्व को स्वीकार करने के कारण श्रीमती बेसेन्ट का मानना है कि मानव परब्रह्म का अंश होने के कारण उस ब्रह्म को जानने की पूर्ण क्षमता रखता है। परन्तु वे एक दूसरे से पृथक् अपना विशेष अधिकार प्रदर्शन नहीं कर सकते। अर्थात् समस्त मानव एक ही ब्रह्म का अंश होने के कारण परस्पर भाई चारे के सम्बंध में जुड़े हुए हैं। जिसका ज्ञान मानव को कराना है। क्योंकि इसी ज्ञान के अभाव के कारण मानव-मानव के बीच अनेक बार युद्ध हुए हैं परस्पर द्वेष व स्वार्थपरता की आग भड़की है। अतः मानव का कर्तव्य है कि ईसामसीह की इस आज्ञा 'अपने स्वर्ग में रहने वाले पिता के सदृश्य पूर्णत्व को प्राप्त करो' का पालन करे। पूर्णत्व को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कठिन साधन पथ का अनुसरण करना पड़ता है। श्रीमती बेसेण्ट के अनुसार '-मानव-विकास के सामान्य नियमानुसार मनुष्य श्रेणी विकास मार्ग पर अग्रसर होती है। इस विकास पथ पर अनेक द्वार हैं जिनसे होकर मनुष्य अंतिम द्वार अर्थात मोक्ष द्वार (एकत्व की प्राप्ति) तक पहुँच सकता है। इस साधन पथ के द्वार तक पहुँचने के लिए कई सोपान भी हैं और बहुत थोड़े लोग ही उस सीढ़ी पर चढ़ते हैं। यह द्वार दीक्षा का द्वार है, यह दीक्षा वास्तव में मनुष्य का दूसरा जन्म है। इस पथ पर चल कर ब्रह्मज्ञान ओर अनन्त जीवन दोनों प्राप्त होते हैं।'[१]

थियोसॉफिस्ट सभी धर्मो में विश्वास रखते हैं और सभी धर्मो की समान बातों को बताते हुए अपने कथन की पुष्टि करते हैं। ज्ञान या साधन पथ को बताते समय इन्होंने पाश्चात्य व पूर्वी जगत् के विचारों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

'पाश्चात्य जगत् में इस पथ की तीन मंजिलें बताई हैं। **परिष्कार, ज्ञान प्राप्ति और एकात्म्य।** इन्हीं श्रेणियों द्वारा रहस्यवादी जो भक्ति द्वारा सौन्दर्यात्मक दृष्टि में

तल्लीन रहता है- मार्ग को इंगित करता है। पूर्वी जगत में गुह्यज्ञ या ज्ञानी इन श्रेणियों का विभाजन दूसरी प्रकार से करते हैं। पहले इस साधन पथ के दो बड़े बड़े भाग करते हैं- ‖1‖ परीक्ष्यमान-पथ ‖2‖ ‖वास्तविक‖ साधन-पथ। यह परीक्ष्यमाण पथ पाश्चात्य जगत् के परिष्कार का प्रतिरूप है। और ज्ञान प्राप्ति और एकात्मय वास्तविक साधन पथ हैं। परीक्ष्यमाण पथ पर साधक अपने अंदर कुछ विशेष गुणों का विकास करता है जिनके द्वारा वह मंदिर के प्रांगण में प्रवेश करने योग्य होता है। वास्तविक साधन पथ पर पहुँचने पर उसे दस बन्धनों से मुक्त होना नितान्त आवश्यक है। ये बंधन मोक्ष प्राप्त करने में अड़चन डालते हैं। प्रथम दीक्षा के बाद साधक को चार और दीक्षाएं प्राप्त करनी पड़ती हैं।'[10]

प्रथम परीक्ष्यमाण पथ पर आने के लिए साधक को निम्नलिखित गुणों को अभ्यास द्वारा विकसित करना पड़ता है- तदोपरांत दीक्षा द्वार पर पहुँचता है-

‖1‖ **विवेक :** नित्य और अनित्य तथा सत् और असत् के भेद को पहचानने की शक्ति को विवेक कहते हैं। यह वह तीक्ष्ण दृष्टि है जो हर अवस्था में सत्य और असत्य के भेद को पहचान सके।

‖2‖ **वैराग्य और निस्पृहताः** सुख देने वाली वस्तुओं के लिए राग और आकर्षण तथा दुःख देने वाली वस्तुओं के लिए द्वेण और विकर्षण से परे हो जाने को वैराग्य कहते हैं। अर्थात् सांसारिक वस्तुओं से अनासक्त भाव रखना, अपने देहात्मा से सर्वातीत होना और अपनी अशुद्ध प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करना ही वैराग्य है।

‖3‖ **षट्-सम्पत्ति अथवा सदाचार** भी साधक के आवश्यक गुण हैं। ये षट्सम्पत्ति इस प्रकार है-

‖क‖ मन का नियंत्रण ‖ख‖ इन्द्रियों का नियंत्रण -वाचा और कार्य का ‖ग‖ सहन शीलता ‖घ‖ मन की प्रसन्नता ‖ङ.‖ समता या एकाग्रमा ‖च‖ विश्वास

प्रथम दीक्षा

(4) **प्रेम या मुमुक्षुत्व-** ये ही वे गुण हैं जिनका अपने अंदर विकास करना प्रथम दीक्षा की तैयारी है। साधक को दृढता के साथ इनके अभ्यास में लग जाना चाहिए, अगर उसने विकास पथ पर अग्रसर होकर मानव सेवा के योग्य बनने का निश्चय कर लिया है। जब साधक अपने अंदर उपरोक्त गुणों का विकास पर्याप्त रूप से कर लेता है और प्रथम दीक्षा के द्वार पर पहुँचने योग्य हो जाता है तब वह वास्तविक साधन पथ पर चलने का अधिकारी होता है। हिन्दू धर्म में ऐसे प्रथम दीक्षा प्राप्त साधक को परिव्राजक कहते हैं तथा बौद्धधर्म में स्त्रोतापन्न। द्वितीय दीक्षा प्राप्त करने के पूर्व् उसे 'पृथकत्व' की भावना तथा 'शंका' से छुटकारा पाना आवश्यक होता है। कर्म व पुर्नजन्म के तथ्यों में पूर्ण विश्वास तथा अंध विश्वास की भावना से दूर होना चाहिए।

द्वितीय दीक्षा

जब प्रथम दीक्षा प्राप्त साधक उपरोक्त तीनों अंध विश्वासों के बंधन से मुक्त हो जाता है तब वह द्वितीय दीक्षा के योग्य समझा जाता है। द्वितीय दीक्षा प्राप्त साधक को हिन्दू धर्म में 'कुटी चक' तथा बौध धर्म में 'सकदागामिन्' कहते हैं। इस अवस्था में साधक को अपने सूक्ष्म शरीरों मे कार्य करने का अभ्यास करना होता है।

तृतीय दीक्षा

तृतीय दीक्षा प्राप्त साधक को हिन्दू धर्म में 'हंस' (मैं 'वह' ही हूँ - सोऽहम्) की उपाधि देते हैं। इस अवस्था में साधक व्यक्तित्व एवं जीवात्मा मे तादात्म्य स्थापित कर लेता है। ऐसे व्यक्ति के लिए संसार में जन्म लेना अनिवार्य नहीं रह जाता क्योंकि इसी जन्म में चौथी दीक्षा भी प्राप्त हो जानी चाहिए। बौद्ध धर्म ने इस व्यक्ति को 'अनागामिन्' अर्थात् फिर जन्म न लेने के लिए बाध्य न होने वाला कहते हैं।

चौथी दीक्षा

इस स्थिति पर आने पर साधक राग और द्वेष का (जो थोड़ा भी अंश था) परित्याग करना पड़ता है। उसमें किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं रहनी चाहिए। क्योंकि वह सभी में व्याप्त दैवी जीवन के दर्शन करने लगता है। अब वह चौथी दीक्षा प्राप्त करके हिन्दू धर्म के 'परमहंस' पद को प्राप्त हो जाता है। बौद्ध धर्म में उसे अर्हत् कहते हैं।

पाँचवी दीक्षा

चाथी दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भी साधक को पाँच अत्यंत सूक्ष्म बंधन जकड़े रहते हैं इनसे छुटकारा पाना इतना कठिन है कि अर्हत् से सिद्ध पद तक पहुँचने में कभी कभी सात जन्म लग जाते हैं। सिद्ध पद तक पहुँचे हुए व्यक्ति को इस सृष्टि से कुछ सीखना शेष नही रह जाता। वह जो कुछ भी जानना चाहे अपने ध्यान मात्र को एकाग्र करके जान सकता है। ये सूक्ष्म बंधन है -

(1) रूप राग- शरीर धारण करने की इच्छा
(2) अरूप राग- शरीर विहीन दशा में जीवित रहने की इच्छा
(3) मद - उच्च पद प्राप्त करने का अभिमान
(4) मोह- किसी घटना से विचलित होने की सम्भावना
(5) माया (अविद्या) - यह वह अंतिम बंध है जो सत्य को विकृत कर सकता है।

जब दीक्षित पुरुष इन सब बंधनों से मुक्त हो जाता है तब वह मानवता का विजयी पुत्र बन जाता है, जो मानव श्रेणी को पार कर चुका है तथा अब वह ईश्वर के मनोरम मंदिर का एक दृढ स्तम्भ बन गया है जो अब पुनः बाहर नहीं जा सकता। वह पूर्णत्व को प्राप्त कर चुका है तथा मानव जाति का ज्येष्ठ भ्राता बन जाता है। अर्थात् अब उसने जीवात्मा व परमात्मा के बीच तादात्म्य स्थापित कर लिया है। और उपनिषद में वर्णित 'अहम् ब्रह्मास्मि' की अनुभूति प्रापत कर ली है।

सारांश में हम कह सकते है कि श्रीमती बेसेण्ट ने परम सत या परब्रह्म की अनुभूति हेतु बाह्यजगत एवं अर्न्तजगत दोनों के सम्यक ज्ञान को आवश्यक बताया। अपने कथन की पुष्टि हेतु उपनिषद , बाइबिल व बौद्ध धर्म ग्रंथों से तत्सम्बंधी विचार प्रस्तुत किए। सृष्टि के सात लोकों के क्रमिक विकास हेतु मानव को उसका ज्ञान देना आवश्यक है जिससे वह ईश्वर की विकास योजना में स्वयं का विकास कर सके। सर्वप्रथम मनुष्य को उसके भौतिक शरीर की संरचना का ज्ञान देना होगा जिससे वह अपने विभिन्न अंगों, इन्द्रियों, मस्तिष्क व स्नायुतंत्र का उपयोग करना जाने उसकी यर्थाथता का अनुभव करे। इसके साथ साथ वह भौतिक शरीर के अलावा और किन तत्वों से सम्बंधित है, उसका भी ज्ञान देना आवश्यक है। भूलोक सम्बंधी ज्ञान तो कोई भी शिक्षक दे सकता है परन्तु आत्यिक या आध्यात्मिक लोक सम्बंधी ज्ञान आध्यात्मिक गुरु, जिसने उस लोक की स्वयं अनुभूति की है, ही दे सकता है। अतः ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य को गुरू का सतत सानिध्य एवं व्यक्तिगत पथ-प्रदर्शन अत्यंत आवश्यक है। दूसरी आवश्यकता है गुरू के वचन श्रवण करने के बाद उन पर मनन व चिंतन करने की। शिष्य को गुरू के प्रति शंकालु नहीं होना चाहिए। गुरू द्वारा बताये बचनों को सुनने व मनन करने के उपरांत अपने आचरण में कार्यान्वित करना होगा। यही सत्यानुभूति का मार्ग है।

मूल्य मीमांसा

मूल्यमीमांसा में हम श्रीमती एनी बेसेण्ट के नीति सम्बंधी तथा सौन्दर्यात्मक विचारों का अध्ययन करेंगे-

ईश्वर या ब्रह्म का तात्विक विवेचन एवं ज्ञान के साधन की व्याख्या तब तक अधूरी है जब तक उसको नैतिक आधार नहीं प्रदान किया जाता है। किसी भी धर्म , दर्शन या विज्ञान का सम्बंध नैतिकता से अवश्य होता है। चूंकि थियोसॉफी धर्म, दर्शन व विज्ञान का सम्मिश्रण है अतः नैतिकता का थियोसॉफी से अटूट सम्बंध है। नैतिकता के सम्बंध में थियोसॉफिकल सोसायटी की शिक्षा मौलिक एकता या एकरूपता की है अर्थात् एक ही ब्रह्म प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त है अतएव किसी एक व्यक्ति को हानि पहुँचाना सभी को हानि पहुँचाना है। दुष्कर्म मानवता के जीवन रक्त में विष फेंकना है जो एकता के विरुद्ध किया गया महापाप है। आचार नीति आदि के विषय में थियोसॉफी का कोई पृथक नियम या विधान नहीं है। वरन् इनका मानना है कि ब्रह्मविद्या तो स्वयं एक उच्चतम नीति का मूर्तिमान स्वरूप है। सभी धर्मो की उच्चतर नीतियों को विश्व-विश्वास के उपवन के अति सुगन्धित पुष्पों को एकत्र कर यह अपने साधकों को प्रदान करती है। थियोसॉफी मानव में बाह्य नियमों का बोझ न डाल कर उनकी आन्तरिक नियमितता को जागृत करना चाहती है। अविकसित सदस्यों के प्रति निष्कासन व वहिष्कार की नीति को न अपना कर वास्तविक सुधार करना चाहती है।

सब धर्मो में निहित नैतिकता सम्बंधी विचारों की एकता में विश्वास करती हुई श्रीमती एनी बेसेण्ट सद्विचार को सदाचार रूपी भवन की नींव मानती हैं। और सद्बुद्धि के बिना सद्वर्तन या सद्व्यवहार सम्भव नहीं है। ब्रह्मविद्या द्वारा सद्विचार और सदाचार दोनों सधते हैं।

थियोसॉफिस्ट का मानना है कि मनुष्य के भाग्य का निर्माण इच्छा या संकल्प शक्ति, विचार शक्ति और क्रिया शक्ति द्वारा होता है। और ये तीनों शक्तियाँ मनुष्य

के अन्दर स्थित हैं बाहर नहीं। इसी भाग्य रज्जु से मानव का बंधन या उसकी मुक्ति होती है। मनुष्य का भाग्य या प्रारब्ध स्वयं उसका अपना बनाया हुआ है। अविद्या और अज्ञान के कारण मनुष्य की अपनी शक्तियाँ वह रज्जु तैयार करती हैं जो उसे बाँधती हैं और ठीक उसी प्रकार उसकी ही अपनी शक्तियाँ ज्ञान के द्वारा परिचालित होने पर बेड़ियों को काट कर मुक्त कर देती हैं।

भाग्य रज्जु की इन तीनों शक्तियों में सबसे अधिक बलवती विचारशक्ति होती है। विचार रूपी सूत्र से ही मानसिक और भौतिक गुणरूपी वस्त्र प्रस्तुत होते हैं तथा इन गुण समूहों से ही चरित्र बनता है। विचार और चरित्र का यह सम्बंध सभी धर्मो में स्वीकृत किया गया है। ईसाई धर्म पुस्तक में लिखा है, 'जैसा मनुष्य सोचता है वैसा ही वह है।' एक अन्य स्थल पर विचार के सम्बंध में लिखा है- 'जो मनुष्य दूसरे की स्त्री को व्यभिचार की दृष्टि से देखता है वह पहले अपने हृदय में व्यभिचार कर चुकता है।'

आदर्शवादी दार्शनिकों की भाँति श्रीमती बेसेन्ट विचारों की महत्ता को स्वीकार करती हैं। इसीलिए वे मनुष्य जीवन के उत्थान व सत्यान्वेषण के लिए सद्विचार को प्रमुख स्थान प्रदान करती हैं। सद्विचार हेतु सद्ज्ञान आवश्यक है जो महात्मा या सिद्ध पुरुष के सानिध्य से प्राप्त हो सकता है । इन सिद्ध पुरुष* का शिष्य बनने के पूर्व मनुष्य में कुछ सद्गुणों का होना आवश्यक है तब वह विकास पथ या साधन पथ के प्रथम दीक्षा द्वार (परीक्ष्यमाण पथ) पर आ सकता है। मोक्ष प्राप्ति हेतु उसे चार और दीक्षा द्वार प्राप्त करने होते हैं। प्रथम दीक्षा द्वार तक पहुँचने के पूर्व मनुष्य में जिन गुणों का होना अनिवार्य है वे हैं- विवेक, वैराग्य, सदाचार व प्रेम। इन्हें साधन -चतुष्टय भी कहा जाता है।

---

* सिद्ध पुरुष मुक्त और अमर होता है। उसे 'महात्मा' या 'महामानव' भी कहते हैं।

विवेक

सत्य और असत्य में भेद पहिचानना ही सामान्यत विवेक कहलाता है। जो मनुष्य को सत्य के पथ पर ले जाता है। विवेक की प्राप्ति पर साधक यह जानने लगता है कि किस बात का पालन करना उचित है और किस बात का नहीं। किसी बात को इसलिए नहीं मानना चाहिए कि वह अनेक लोगां द्वारा मान्य है, शताब्दियों से उस पर विश्वास किया जाता रहा है, अथवा वह धर्मग्रंथों में लिखी है। साधक उस विषय को जाने, समझे और तब निर्णय करे कि वह युक्तिसंगत है या नहीं।

वैराग्य

साधक के लिए दूसरा आवश्यक गुण वैराग्य है। इसे निःस्पृहता भी कह सकते हैं। सुख देने वाली वस्तुओं के प्रति राग या आकर्षण तथा दुख देने वाली वस्तुओं के लिए द्वेष और विकर्षण से परे होने को वैराग्य कहा गया है। अर्थात् सांसारिक वस्तुओं से अनासक्त भाव रखना, अपने देहात्मा से सर्वातीत होना और अपनी अशुद्ध प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करना ही वैराग्य है। 'श्री गुरु चरणेषु' पुस्तक के भाष्य मे वैराग्य की महत्ता को इस प्रकार समझाया गया है-

' कामना एक जड़ है जिसमें शाखायें प्रशाखायें फूटती ही रहती हैं। आप शाखाओं को काट सकते हैं, किन्तु जब तक जड़ मौजूद है उसमें नई शाखाएं फूटती ही रहेंगी। परन्तु श्री गुरुदेव के साथ ऐक्य स्थापित होने पर आप सदा के लिए इच्छाओं की जड़ से छुटकारा पा लेंगे।' [1]

यहाँ पर श्री गुरुदेव को आत्मज्ञानी मानने के कारण उनसे ऐक्य होने का तात्पर्य परब्रह्म के प्रति ऐक्य हो जाने से है। संयमी पुरुष विषयों से तो निवृत्त हो

जाता है परन्तु उसमें रस का बोध बना रहता है। लेकिन परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने के पश्चात उसमें रस का भाव भी निःशेष हो जाता है। अतः अभीष्ट वस्तु (श्रीगुरुदेव) की झलक पाने के बाद तो इच्छामात्र का उन्मूलन हो जाता है। श्री कृष्णमूर्ति ने तो कामनाओं की मुक्ति हेतु 'संकल्प' को विशेष महत्व दिया है-

'जितनी संकल्प शक्ति आप अपने भौतिक कार्यो में लगाते हैं, उतनी ही यदि इस पथ पर अग्रसर होने में लगाएं तो आपकी त्वरित उन्नति सुनिश्चित है।'[12]

अत. साधक को कर्मफल के प्रति तटस्थता रखनी चाहिए। भगवान बुद्ध ने इस गुण के लिए 'परिकम्मा' शब्द का प्रयोग किया है। 'कम्मा' का अर्थ 'कर्म करना' और 'परिकम्मा' का अर्थ 'कर्म करने की तैयारी ' है। अर्थात् शुभ कर्म मंगल भावना से करने चाहिए स्वार्थ भावना से नहीं। मनुष्य कर्म करते समय कर्म के दूसरों पर पड़ने वाले प्रभाव को भी ध्यान में रक्खें। यदि किसी कर्म का प्रभाव दूसरे पर बुरा पड़ रहा हो तो वह कर्म निषिद्ध है।

सदाचार

इसमें हिन्दू शास्त्रों में वर्णित 'षट्सम्पत्ति' अर्थात् छः नियमों का समावेश है। भगवान् बुद्ध ने भी अपने उपदेशों में सदाचार के लिए 'उपचार' शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् साधक को इसके अन्तर्गत बताए गये छः गुणों के पालन के प्रति सचेत रहना चाहिए। सदाचार के छः नियम इस प्रकार हैं:-

1- मनोनिग्रह (सम बौद्ध धर्म के अनुसार)

2- इन्द्रिय निग्रह (दम ,,)

3- सहिष्णुता (उपरति ,,)

4- प्रफुल्लता अर्थात मुदिता (तितिक्खा)

5- एक निष्ठा (समाधान)

6- श्रद्धा (सद्धा)

वैराग्य के गुण से हम वासना शरीर पर नियंत्रण करते हैं लेकिन इसके बाद मनस् शरीर पर भी नियंत्रण करना है। इसका तात्पर्य स्वभाव पर नियंत्रण, ताकि साधक में क्रोध या अधीरता का भाव न आये, मनस् पर नियंत्रण से विचार सदा शान्त व स्थिर रहेंगे, तथा मन द्वारा स्नायुओं पर भी नियंत्रण रहेगा।

प्रेम

प्रेम का महत्व अन्य सभी गुणों से अधिक है, क्योंकि यदि किसी का हृदय गहन प्रेम से परिपूर्ण है, तो अन्य सभी गुण उसे स्वतः उपलब्ध हो जायेंगे, और बिना इसके अन्य सभी गुण कभी भी पर्याप्त नहीं होते। इस गुंण को प्रायः आवागमन के चक्र से मुक्ति की एवं परमात्मा के साथ एकाकार होने की तीव्र इच्छा (मुमुक्षुत्व) कहा जाता है।

अधिकांश हिन्दुओं की मोक्ष सम्बंधी धारणा अनिर्वचनीय आनंद की उस स्थिति से होती है, जो द्वैत की भ्रांति से परे है, और जिसे 'कैवल्य' अर्थात्‌परम मुक्ति कहते है। बौद्धों में कुछ लोग मोक्ष या निर्वाण का अर्थ मनुष्य के पूर्णतया मिट जाने से लेते हैं, और कुछ इसे प्रज्ञा एवं आनन्द की प्राप्ति मानते हैं, जिसे पाकर मनुष्य की 'स्व' सम्बंधी सभी पूर्व धारणायें मिट जाती हैं।

थियोसॉफिस्ट 'आत्मिकलोक' या 'आध्यात्मिकलोक' में सचेतन रहने की स्थिति को निर्वाण कहते हैं, परन्तु थियोसॉफिस्ट उस स्थिति को भी निर्वाण कहते हैं, जिसमे मे प्रज्ञापुरुष या जीवन्मुक्त महात्मा स्थित हैं, जो पाँचवी दीक्षा को उपलब्ध कर चुके

हैं। एक जीवनमुक्त महात्मा स्थूल लोक के किसी बड़े से बड़े लोकोपकारी व्यक्ति की अपेक्षा भी कहीं अधिक लोकोपकारी कार्य करता है, और उच्च लोकों में उन कार्यो को निरन्तर करता ही रहता है।

निर्वाण या मोक्ष प्राप्ति के साधन को 'प्रेम' की संज्ञा इसलिए दी गयी है-क्यों कि इसमें आत्मा परमात्मा के साथ तदाकार होने का प्रयत्न करता है। चूँकि वह परमात्मा प्रेम स्वरूप है अतः उसके साथ तदाकार होने के लिए प्रेममय बनना ही होगा। संकल्प, ज्ञान व प्रेम- इनमें से किसी भी ए. ी परिपूर्णता को उपलब्ध करके सेवामय जीवन बिताने पर शेष दोनों की स्वत उपलब्धि हो जाती है। अत. यह पूर्णतया सत्य है कि 'प्रेम ही प्रभु के विधान का परिपूरक है।'
पूर्णत्व प्राप्त करने की दिशा मे प्रेम के महत्व को ईसा मसीह ने इन शब्दों में व्यक्त किया है-

मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम अपने शत्रुओं से प्रेम करो। जो तुम्हे शाप दें उन्हें तुम आर्शीवाद दो । जो तुमसे घृणा करें उनके प्रति तुम भलाई करो और जो तुमको क्लेश दे या जो तुम्हारे साथ द्रोह करें उनके कल्याण के लिए तुम प्रार्थना करो। तुम भी वैसी ही पूर्ण बनो जैसे भगवान पूर्ण हैं। जो अपने प्राणों को बचाने की चिन्ता करता है वह उसे खोयेगा और जो मेरे लिए प्राण गवाता है वही अखण्ड जीवन पायेगा।'

वेदान्त मत के समान श्रीमती एनी बेसेण्ट परब्रह्म को सत्, चित् एवं आनन्द मानती हैं। अतः वास्तविक ज्ञान ही आनन्ददाता है। उसी शाश्वत् अखण्ड एवं चिरन्तन सत् की अनुभूति ही सौंदर्यमयी है। अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि वे भूलोक के क्षणिक व परिवर्तनीय वस्तुओं से प्राप्त आनन्द को ही सर्वस्व न मानकर आत्मिक लोक तथा देव लोक के परमानन्द को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। परमानन्द को प्राप्त करने की तीन मार्ग हैं । महान ऋषि संघ के गुरुदेव के वचनों के अनुसार-

'यदि तुम्हें परमात्मा के साथ एकत्व स्थापित करना है, तो तुम्हें भी पूर्ण निःस्वार्थता एवं प्रेम से परिपूरित हो जाना चाहिए। संकल्प, ज्ञान व प्रेम- इनमे से किसी भी एक की परिपूर्णता को उपलब्ध करके सेवामय जीवन बिताया जाए, तो शेष दोनों की स्वतः उपलब्धि हो जाती है।' [13]

* * * * *

सन्दर्भ

1- जीवन की पहेली, डा0 एनी बेसेन्ट, अनुवादक- श्री जलेश्वर प्रसाद, द्वितीय सस्करण, 1984 पृ0 1-2

2- सनातन ज्ञान, डा0 एनी बेसेण्ट, अनुवादक- राय बहादुर पडया बैजनाथ, द्वितीय सस्करण, 1974, पृ0 8

3- वही, पृ0 9

4- मनुष्य के सात तत्व, डा0 एनी बेसेण्ट, अनुवादक श्रीमती मालती रानी, प्रथम सस्करण 1984, पृ0 1

5- सनातन ज्ञान, एनी बेसेण्ट अनुवादक- राय बहादुर पाड्या बैजनाथ, द्वितीय सस्करण, 1974, पृ0 250

6- मुण्डकोपनिषद्, खण्ड 2, श्लोक 90

7- सीक्रेट डॉक्ट्रिन , खण्ड 1, मैडम ब्लैब्टैस्की, 1893, पृ0 176

8- वही

9- जीवन की पहेली, एनी बेसेण्ट, 1984, पृ0 67

10- वही पृ0 67-68

11- आध्यात्मिक जीवन, एनी बेसेण्ट, 1987 पृ0 130

12- वही

13- वही, पृ0 307

धर्म सम्बंधी विचार

धर्म शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से प्रत्यय लगकर बना है जिसके अनेक अर्थ होते हैं। कुछ मुख्य अर्थ हैं- 'अस्तित्व रखना, जीविन रहना, बने रहना, पकड़े रहना, आधार देना, कायम रखना'। धर्म शब्द भी अनेक अर्थो में प्रयुक्त होता है जिनमें अधिकांश का भावार्थ सत्यनिष्ठा, सद्‌गुण, कर्त्तव्य आदि होता है।

व्यापक अर्थ में धर्म किसी वस्तु के मूलभूत स्वभाव को इंगित करता है। इस प्रकार हम निर्जीव पदार्थो, पेड़-पौधों तथा पशु जगत के प्राणियों के धर्म की चर्चा कर सकते हैं। जैसे- अग्नि का धर्म या स्वभाव उष्णता तथा प्रकाश है। गाय का धर्म घास खाना व दूध देना है। शिकार पकड़ना या मारना नहीं। पेड़ का धर्म दूसरों को छाया तथा फल देना है स्वयं खाना नहीं।

व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से धर्म की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है। 'धरति धारयति व लोकम् इति धर्म' एवं 'घ्रियते लोकः अनेन इति् धर्मः' । तात्पर्य यह है कि जो लोक अथवा समाज को धारण करें एवं जिसके द्वारा समाज को धारण किया जाये वह धर्म है। धर्म के इसी गुणार्थ को ध्यान में रखकर महाभारत कार ने लिखा है कि 'धारणात् धर्ममित्याहु धर्मो धारयति प्रजा.'।[1] इसीलिए भारतीय मनीषियों ने धर्म के अन्तर्गत उन सभी गुणों का समावेश किया है जो समाज एवं प्रजा को एक सूत्र में बांध देने के लिए आवश्यक है। मनुस्मृति मे कहा गया है-

'धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।[2]

इस दृष्टि से यह मनुष्य की मूल सत्ता से सम्बद्ध हो जाता है और मानवता, मनुष्यता जैसे प्रत्ययों का बोध कराते हुए कर्तव्य का अर्थ देने लगता है।

यद्यपि धर्म को अंग्रेजी मे 'रिलीजन' शब्द से अभिहित किया जाता है किन्तु 'रिलीजन' शब्द धर्म का द्योतक नहीं है। क्योंकि रिलीजन शब्द से तात्पर्य ईश्वर और मनुष्य के सम्बध तक ही सीमित है। इस प्रकार यह एक व्यक्तिगत जीवन मार्ग ही बनकर रह गया। जबकि धर्म शब्द अत्यधिक व्यापक है। यह मत या सम्प्रदाय जैसा सकुचित नहीं है। मत या सम्प्रदाय सीमित एव निश्चित विचारधारा है जिसकी अपनी विशेषताएं होती हैं, नियम होते हैं, अपने ग्रंथ होते है, अपने मत प्रवर्तक होते हैं। किन्तु धर्म मानवता से सम्बंधित होता है। भारतीय संस्कृति मे धर्म को सामाजिक संरचना का आधार एव व्यक्तिगत जीवन मार्ग दोनों अर्थो में लिया गया है। धर्म को व्यक्ति के इहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन की सफलता प्रदान करने वाला भी स्वीकार किया गया है। इसीलिए वैशेषिक दर्शन के रचयिता कणाद ने लिखा है-

'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धि स धर्म'[3]

इस प्रकार धर्म रिलीजन की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टिकोण रखता है। यह मनुष्य और ईश्वर के सम्बंध तक ही सीमित नहीं है अपितु यह मनुष्य और मनुष्य के बीच भी सम्बंध स्थापित करता है। यह मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन दोनों को नियंत्रित करता है। इसी कारण परम्परावादी भारतीय मनीषियों ने धर्म एवं आचार शास्त्र में भेद नहीं किया। उनके अनुसार धर्म के क्षेत्र में आचार शास्त्र का समावेश रहता ही है। 'आचारो परमो धर्मः' अब हम धर्म शब्द पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करते हैं:-

ऋग्वेद में 'धर्म' शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर भिन्न भिन्न रूपों में किया गया है। इसी ग्रंथ में 'ऋत' और 'सत्य' की धारणाओं का विवेचन हुआ है। 'ऋत' और 'सत्य' के सिद्धान्त का अभिप्राय सारे विश्व-प्रपंच में व्याप्त उसके नैतिक आधार से है। इस आधार के दो रूप हैं। बाह्य जगत की सारी प्रक्रिया जिन विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है उसको ऋत कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के

प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं उन सबका आधार सत्य है। वैदिक आदर्श ऋत और सत्य को एक ही भौतिक तथ्य के दो रूप मानता है। ऋग्वेद के बहुत से मंत्र अथर्ववेद में मिलते हैं, जिनमें 'धर्मन्' - शब्द का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में 'धर्म' शब्द का प्रयोग 'धार्मिक क्रिया संस्कार करने से अर्जित गुण' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण मे 'धर्म' शब्द सकल धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[4]

उपनिषदों में धर्म शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से नैतिक आदर्श अथवा सदाचार के अर्थ में हुआ है। जैसेः- तैत्तरीय उपनिषद् में दीक्षान्त समारोह के समय कहा गया है- (हे स्नातक) तुम सत्य बोलो और धर्म का आचरण करो' [5] छान्दोग्य उपनिषद वाणी को धर्म और अधर्म के स्वरूप का निर्धारक बताती है यथा - 'वाग्धर्ममधर्म विज्ञापयति।'[6]

वृहदारण्यक उपनिषद में 'धर्म' शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक, नैतिक तथा भौतिक जगत के संचालक मौलिक तत्व के अर्थ में हुआ है। जैसे- यह धर्म सब भूतों का मधु है, और सब वस्तुएं इस धर्म की मधु हैं। और जो इस धर्म में प्रकाशमय अमृतमय पुरुष है, वह आत्मा ही है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है।[7]

इसी उपनिषद् में धर्म और सत्य को एक रूप देखा गया है। सत्य के समान धर्म भी समस्त बाह्य और आन्तरिक पदार्थो के स्वरूप का सम्पादन करने के साथ साथ उनकी अपने स्वरूप में स्थिति का नियामक भी है। इसी उपनिषद में धर्म और सत्य की अभिन्नता का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि यह जो धर्म है वह सत्य ही है, इसीलिए सत्य बोलने वाले के प्रति कहा जाता है कि वह धर्म बोल रहा है। क्योंकि निश्चय ही धर्म और सत्य में भेद नहीं है।[8]

भगवद्गीता मे 'धर्म' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर आया है जिसका भिन्न भिन्न अर्थो में प्रयोग किया गया है। यथा- 'धर्म क्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेतायुयुत्सवः।[9] यहाँ पर धर्म से तात्पर्य सत्य आचरण से है। अन्य स्थल पर 'स्वधर्मेनिधनं श्रेयः'[10] में धर्म

से आशय व्यक्ति द्वारा आचरित कर्तव्य कर्म से है। इसी प्रकार 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य नं विकम्पितुमर्हसि'[11] में क्षत्रिय के लिए जो युद्धरूप स्वधर्म है उसके लिए कहा गया है। आगे यह भी स्पष्ट किया गया है कि यदि व्यक्ति स्वधर्म का पालन नहीं करता है तो वह अपकीर्ति एवं पाप को प्राप्त होता है । जैसे- ' ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि'[12] इसी ग्रंथ में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा- 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'।[13] यहाँ पर धर्म से आशय कर्म से है। भगवद्गीता के शांकर भाष्य में धर्म का अर्थ इस प्रकार दिया गया है- 'जो जगत् की स्थिति का कारण तथा प्राणियों की उन्नति का और मोक्ष का साक्षात् हेतु है एवं कल्याण-कामी ब्राह्मणादि वर्णाश्रम अवलम्बियों द्वारा जिसका अनुष्ठान किया जाता है उसका नाम धर्म है।[14] मनु ने तीन प्रकार से धर्म को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। प्रथम- आचार ही परम धर्म है। द्वितीय- धृति , क्षमा, दम आदि धर्म के दस लक्षण हैं- तृतीय - वेद, स्मृति, सदाचार तथा अपनी आत्मा को प्रिय लगना ये धर्म के चार साक्षात् लक्षण हैं। पूर्व मीमांसा सूत्र में जैमिनी ने धर्म को 'वेद विहित प्रेरक' लक्षणों के अर्थ में स्वीकारा है। अर्थात् वेदों मे प्रयुक्त अनुशासनों के अनुसार चलना ही धर्म है। धर्म का सम्बंध उन क्रिया संस्कारों से है जिनसे आनन्द मिलता है और जो वेदों द्वारा प्रेरित एव प्रशंसित हैं। वैशेषिक सूत्रकार ने धर्म को आनन्द एवं निःश्रेयस का सिद्धिदाता स्वीकारा है।[15] महाभारत शांतिपर्व मे धर्म का निरूपण इस प्रकार किया गया है- 'अपने विधि पक्ष में धर्म शारीरिक , बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का साधन है। अपने निषेध के पक्ष में धर्म वह है जो किसी को क्लेश न पहुँचाएं।[16] इस प्रकार इसमें धर्म के विधेयात्मक एवं निषेधात्मक पक्षों को ध्यान में रखकर धर्म का निरूपण किया गया है।

बौद्ध दर्शन में 'धर्म' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक है और इसका अर्थ भी कुछ विचित्र है। भूत और चित्त के उन सूक्ष्म तत्वों को 'धर्म' कहते हैं जिनके आघात तथा प्रतिघात से समस्त जगत् की स्थिति होती है, अर्थात् यह जेगत् 'धर्मों' का एक संघात मात्र है। ये सभी 'धर्म' सत्तात्मक है, तथा 'हेतु' से उत्पन्न हैं। प्रत्येक धर्म अपनी पृथक् सत्ता रखता हैं। सभी स्वतंत्र हैं। ये सभी क्षणिक हैं। प्रत्येक क्षण में बदलते रहते

हैं। परिणाम के कारण ये 'धर्म' स्वय विनाश को प्राप्त हो जाते है। कहा जाता है कि 'सर्वास्तिवाद' में धर्मो की सख्या पचहत्तर है।[17]

धर्म के उपरोक्त भावार्थो को जानने के बाद यह प्रतीत होता है कि देश काल व परिस्थिति के अनुसार इसको भिन्न भिन्न रूपों मे प्रयुक्त किया जाता है। व्यवहार मे हम मत या सम्प्रदाय क लिए ही धर्म शब्द का प्रयोग करते है जो धर्म को सीमित कर देता है। प्रस्तुत अध्याय मे धर्म से तात्पर्य इसी व्यावहारिक प्रयोग से है। यद्यपि भारत में अति प्राचीन काल से ही धर्म के विस्तृत स्वरूप का वर्णन उपलब्ध है। जैसा कि पूर्व पृष्ठों पर वेद, स्मृति, उपनिषद, आदि से उद्धरण देकर स्पष्ट किया गया है। परन्तु कालान्तर में अन्य मतावलम्बियों ने धर्म के क्षेत्र व विषय को संकीर्णता का जामा पहना कर संघर्षात्मक बना दिया। विवेकानन्द के शब्दों में- 'प्रत्येक धार्मिक पंथ अपने अस्तित्व के अनन्य अधिकार का दावा करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि दुनिया मे मनुष्य के लिए धर्म से बढ़कर कोई चीज शुभ नहीं है फिर भी धर्म ही ने मनुष्य को सबसे अधिक कष्ट पहुँचाया है, धर्म ने ही सबसे अधिक प्रेम ओर शांति दी है । और धर्म ने ही सबसे भयानक घृणा पैदा की है। धर्म ने ही सबसे अधिक मानव बंधुत्व को सार्थक बनाया है, धर्म ने ही मनुष्य-मनुष्य के बीच सबसे अधिक कटुता पैदा की है। धर्म ने ही मनुष्यों के लिए और पशुओं के लिए भी सबसे अधिक दानार्थ संस्थाएं और अस्पताल बनवाए हैं और धर्म ने ही सबसे अधिक मनुष्य का रक्तपात करवाया है।'[18]

विवेकानन्द ने भारत के शास्त्रों, पुराणों, वेदों, उपनिषदों, गीता और भाष्य ग्रंथों के अध्ययन के अतिरिक्त इस्लाम, ईसाई, बुद्ध जैन आदि धर्मो के शास्त्रों का भी अध्ययन किया था। उनकी धर्म की व्याख्या की आधार वेदान्त है। फलस्वरूप उनकी धर्म की व्याख्या बड़ी विशद, विस्तृत एवं युक्ति संगत है। जिसे सुनकर भारतीय जन एवं पाश्चात्य जगत के धर्माधिकारी एवं गणमान्य विद्वतजन भी मंत्रमुग्ध हो गये। शिकागो धर्म महासभा के आयोजन का जो प्रमुख उद्देश्य था, कि सब धर्मो में ईसाई धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित

करना, यह विवेकानन्द के 'हिंदू धर्म पर निबंध' से ध्वस्त हो गया। विवेकानन्द ने धर्म को मानव की जन्मगत आवश्यकता बताया। उनके ही शब्दों में - धर्म कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि वह व्यक्ति के अभ्यतर से ही उदित होता है। धार्मिक विचार मनुष्य की संरचना मे ही सन्निहित है और यह बात यहाँ तक सत्य है कि चाहकर भी मनुष्य धर्म का त्याग तब तक नहीं कर सकता जब तक उसका शरीर है, मस्तिष्क है, जीवन है। जब तक मनुष्य मे सोचने की शक्ति रहेगी तब तक यह संघर्ष चलता ही रहेगा और तब तक धर्म किसी न किसी रूप में रहेगा ही।[19] अर्थात् धर्म का प्रारम्भ संघर्ष से होता है।

मानव मन मे धर्म का प्रादुर्भाव कैसे हुआ और क्यों हुआ? इस सम्बंध में विवेकानन्द ने बड़े व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप मे व्याख्या दी है जो वैज्ञानिक एवं युक्ति सगत प्रतीत होती है। सर्वप्रथम 'धर्म' का सम्बध मानव से है। चूँकि मानव चिन्तनशील प्राणी है। उसका मस्तिष्क अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक उन्नत है। इसलिए वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। यही कारण है कि जबकि अन्य प्राणियों ने आत्मरक्षा की सहज प्रवृत्ति से अपने आपको प्रकृति के अनुरूप ढाला है, वहाँ मनुष्य ने प्रकृति से विद्रोह करके उसे अनुरूप ढाला है और निरन्तर ढालता चला जा रहा है। मनुष्य प्रकृति का दास नहीं विजेता है। उसने अपनी इस विचार शक्ति द्वारा आग, पानी , बिजली का प्रयोग तथा यंत्र आविष्कार द्वारा प्रकृति के नियमों की खोज कारके उस पर विजय पाई है। प्रकृति को बदलने में वह स्वयं भी बदला है। अपने इस संघर्ष में वह पशु से मनुष्य, और हैवान से इंसान बना। मनुष्य के बदलने की प्रक्रिया में किसी दैवी शक्ति का हाथ नहीं बल्कि इस संघर्ष के दौरान उसने स्वयं देव, दानव तथा ईश्वर आदि दैवी शक्तियों का निर्माण किया। सभी विचार भौतिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुए, मनुष्य ने उन्हें व्यवहार की कसौटी पर परखा, असारतत्व को त्यागकर सारत्व को भौतिक शक्ति में परिणत कर सिद्धात का रूप दिया। इस प्रकार क्रमशः ज्ञान, साहित्य, कला, संस्कृति व धर्म का विकास हुआ।

संसार के लगभग सभी धर्मो ने इस प्रश्न को उठाया है। संसार में यह असामंजस्य क्यों है? संसार में यह अशुभ क्यों? आदिम धर्मभाव के आविर्भाव के समय हम इस प्रश्न को उठते नहीं देखते। कारण कि आदिम मनुष्य की बुद्धि विकसित नहीं हुई थी जिससे उसे जगत् असामंजस्यपूर्ण नहीं लगा। उसके हृदय मे केवल दो बातों का संग्राम हो रहा था। एक कहती थी यह करो और दूसरी उसको करने का निषेध करती थी। आदिम मानव संवेग का मानव था। इस समय उसमे अनुसंधान की प्रवृत्ति ही नहीं थी। इस समय उसमें भले बुरे की कोई धारणा नहीं थी। उसके मन में जो आता था, वही शरीर से कर डालता था। वह इन संवेगों के सम्बंध में विचार करने अथवा उनका संयम करने का बिल्कुल प्रयत्न नहीं करता था।[20] आदिम युग का मानव प्रकृति की भयंकर शक्तियों के विरुद्ध जूझ रहा था। वह उसको समझने में असमर्थ था। परन्तु वह उसको बदलने और अपने वश में करने का संकल्प मन में लिए था। वह प्रकृति को कर्म और कल्पना दोनों से बदलने का प्रयास कर रहा था। इसी प्रयास में उसने भयंकर शक्तियों में देवत्व आरोपित करके उनकी उपासना अर्चना की। ताकि वे उसके लिए अभिशाप के बजाए वरदान बन जाएं और फिर कल्पना द्वारा ऐसे देवताओं की सृष्टि की जो इन शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष में उनकी सहायता करे। उदाहरणार्थ- वैदिक काल के मनुष्य को उपासना द्वारा वरुण, पवन और अग्नि को रिझाते देखते हैं और इन्द्र अपने वज्र द्वारा उसके लिए पहाड़ तोड़ता और असुर बल को छिन्न भिन्न करता प्रतीत होता है। इस काल में मनुष्य निपट भौतिकवादी है। वह भी धरती पर है और उसके देवता भी धरती पर हैं। इससे परे किसी स्वर्ग नरग अथवा आत्मा-परमात्मा का कोई भाव या विचार उसके मन में नहीं है। मृत्यु का भय और अमरत्व की इच्छा भी उसे नहीं सताती। वैसे ही उसकी उपासना भी सीधी सादी है-

यथा-

जीवेम शरदः शतं, श्रुणुयाम शरदः शतं।

प्रब्रवाम शरदः शतं, अदीनास्याम शरदः शतं।।

शनैः शनैः मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त की और विभिन्न दिशाओं में उसकी विचारशक्ति का विकास हुआ। अब उसने नैतिक धारणाओं की उन्नति के साथ साथ एक नयी इन्द्रिय का आविर्भाव किया। इस नयी इन्द्रिय ने मनुष्य के स्वाभाविक संवेगों को दमन करने वाली शक्ति के रूप में कार्य किया। हमारे मन का एक संवेग कहता है, करो, इसके पीछे एक दूसरा स्वर उठता है, जो कहता है , मत करो। हमारे मन में धारणाओं का एक समूह है, जो सर्वदा इन्द्रियों के द्वारा बाहर जाने की चेष्टा करता रहता है, और उनके पीछे चाहे कितना ही क्षीण क्यों न हो, एक स्वर कहता है बाहर मत जाना। इन दो बातों के सुन्दर संस्कृत नाम हैं- प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति ही हमारे समस्त कर्मो का मूल है। निवृत्ति से धर्म का आरम्भ है। धर्म का आरम्भ होता है- इस 'मत करना' से, आध्यात्मिकता भी इस 'मत करना' से ही आरम्भ होती है। जहाँ यह 'मत करना' नहीं है, वहाँ जानना कि धर्म का आरम्भ ही नहीं हुआ।

अब मानव के हृदय में कुछ प्रेम जाग्रत हुआ। पहले पहल यह प्रेम कबीले तक सीमित रहा। फिर बाद में यह प्रेम किंचित और बढ़ा, एक दूसरे के प्रति थोड़ा कर्त्तव्य भाव आया, कुछ सामाजिक श्रृंखला की उत्पत्ति हुई, और इसके साथ ही साथ यह भावना भी आने लगी कि एक दूसरे का दोष सहन या क्षमा किए बिना हम कैसे एक साथ रह सकेंगे? अतः मनुष्य ने अपनी प्रवृत्तियों का संयम करना प्रारम्भ किया। उसने सोचा कि संयम के बिना वह कैसे दूसरों के साथ रह सकता है? इस संयम की भावना पर ही सम्पूर्ण सामाजिक रचना आधारित है। यह सत्य है कि आज भी जिस नर या नारी ने इस सहिष्णुता या क्षमारूपी महान पाठ को नहीं पढ़ा है वे अत्यंत कष्ट में जीवन बिताते हैं। अर्थात् धर्म में सहिष्णुता का भाव समाहित हुआ।

अतएव , जब इस प्रकार के धर्म का भाव आया, तब मनुष्य के मन में एक अपेक्षाकृत उच्चतर एवं नीतिसंगत भाव की झलक उदित हुई। तब वे अपने उन्हीं प्राचीन देवताओं में कुछ असंगति देखने लगे। उनके मन में देवताओं के कार्यो के उद्देश्यों के

सम्बध में पूँछताछ करने का भाव जागत हुआ। जिन देवताओं के कार्यो को वे संगत नहीं कर सके, उन्हे त्याग दिया तथा जो अच्छे थे, जिन्हें वे समझ सकते थे , एकत्र किया। इन सब अच्छे भावों की समष्टि को उन्होंने एक नाम देवताओं का देवता दे दिया।

तब उनके उपास्य देवता केवल शक्ति के परिचायक मात्र नहीं रहे, शक्ति से अधिक और भी कुछ उनके लिए आवश्यक हो गया। अब वे नीतिपरायण देवता हो गये, वे मनुष्यों से प्रेम करने लगे, मनुष्यों का हित करने लगे। अब वे देवता विश्व में सर्वश्रेष्ठ नीतिपरायण तथा एक प्रकार से सर्वशक्तिमान भी हो गये।

जब मनुष्य को प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष से कुछ फुर्सत मिली, सांस लेने और सोचने की सुविधा प्राप्त हुई तभी उसने आत्मा और परमात्मा का निर्माण किया। अब उसका धर्म का स्वरूप भी विस्तृत हो गया। विवेकानन्द के अनुसार ' यह संसार इन्द्रियों, बुद्धि और युक्ति सभी ओर से अनन्त, अज्ञेय और अज्ञान से परिसीमित है। यह अनन्तता ही हमारी खोज है। इसी में तथ्य है, इसी में अनुसंधान के विषय हैं और इसी से प्राप्त होने वाले प्रकाश को संसार धर्म कहता है'[2] यह है धर्म की सर्वोच्च व्याख्या।

विवेकानन्द के द्वारा दी गयी धर्म की उपरोक्त व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्म का विषय अनन्तता और अलौकिकता को जानना है। परन्तु यह अनन्तता इन्द्रिगोचर नहीं है। इसको प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय तथा बुद्धि से भी परे जाना पड़ता है। क्योंकि ससीम शरीर से असीम की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अर्थात् असीम को जानने के लिए मनुष्य को अपने ही अंदर स्थित असीम को जानना पड़ता है। इन्हीं बातों की पुष्टि विवेकानन्द के शब्दों में-

'कुछ भी हो धर्म मूलत इन्द्रियातीत भूमि की वस्तु है, ऐन्द्रिय भूमि की नहीं। यह समस्त तर्क के परे हैं तथा यह बुद्धि के स्तर का विषय नहीं। यह एक अलौकिक दिव्य दर्शन है, एक अन्त प्रेरणा है, यह मानो अज्ञात और अज्ञेय में डूबना है, जिससे ज्ञानातीत ज्ञात से भी अधिक ज्ञात हो जाता है। ..... जैसा कि मेरा विश्वास है , यह खोज मानवता के आदि काल से ही जारी है। विश्व के इतिहास मे ऐसा समय कभी नहीं हुआ, जब मनुष्य की बुद्धि इस संघर्ष, अनन्त की खोज में व्यस्त न रही हो'[22] यह है धर्म की सर्वोच्च धारणा। जिसका विकास उपनिषद काल मे हो गया था। 'ससार मे जितने भी प्राचीन धर्म हैं सब इस बात मे एक मत हैं कि मनुष्य का मन कुछ खास क्षणों में इन्द्रियों की सीमाओं के ही नहीं, बुद्धि की शक्ति से भी परे पहुँच जाता है। उस अवस्था में वह उन तथ्यों का साक्षात्कार करता है, जिनका ज्ञान न कभी इन्द्रियों से हो सकता था और न चिंतन से। ये तथ्य ही संसार के सभी धर्मो के आधार हैं।'[23]

अतः हम कह सकते हैं कि धर्म सम्पूर्ण मानव में परिव्याप्त है, न केवल वर्तमान में अपितु भूत और भविष्य में भी। हम उसे शाश्वत् आत्मा का शाश्वत् ब्रह्म से शाश्वत् सम्बंध कह सकते हैं। विवेकानन्द ने धर्म के लक्ष्य की व्याख्या इस प्रकार की है-

'हम सब धर्मो में निम्न सत्य से उच्च सत्य की ओर जाते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि के पीछे एक एकता है, पर मनों में बड़ी विविधता है। वह जो है, एक है ज्ञानी उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। निम्नतम धर्म केवल सत्य के निम्न पाठ पात्र हैं। शैतान की उपासना भी चिरन्तन सत्य और अनन्त ब्रह्म का ही विकृत पाठ मात्र है।'[24]

उपरोक्त कथन धर्म की आवश्यकता और महत्ता का प्रतिपादन करते हैं अब हम धर्म के प्रार्दुभाव को समझने के लिए जो अनेक प्रयास किए गये हैं उनका अध्ययन करते हैं । जितने भी प्राचीन धर्म हैं वे सब एक यह दावा करते हैं कि वे सभी अलौकिक हैं, मानों उनका उद्‌गम मानव मस्तिष्क से नहीं, बल्कि उस स्रोत से हुआ है जो उसके बाहर है।

आधुनिक विद्वान दो सिद्धांतों के बारे में कुछ अंश तक सहतम हैं। एक है धर्म का आत्मामूलक सिद्धांत और दूसरा असीम की धारणा का विकास मूलक सिद्धांत। पहले सिद्धांत के अनुसार पूर्वजों की पूजा से ही धार्मिक भावना का विंकास हुआ, दूसरे के अनुसार प्राकृतिक शक्तियो को वैयक्तिक स्वरूप देने से धर्म का प्रारम्भ हुआ। मिस्र, बेबिलॉन, चीन तथा अमेरिका आदि के प्राचीन धर्मो के अध्ययन से ऐसे स्पष्ट चिन्हों का पता चलता है, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि पितर-पूजा से ही धर्म का आविर्भाव हुआ है।

किन्तु कुछ ऐसे भी विद्वान है, जो प्राचीन आर्य साहित्य के आधार पर सिद्ध करते है कि धर्म का आविर्भाव प्रकृति की पूजा से हुआ। जो प्रस्तुत दृश्य के परे है, उसकी एक झाँकी पाने के लिए मानव मन आकुल प्रतीत होता है। ऊषा, सध्या, चक्रवात, प्रकृति की विशाल और विराट् शक्तियॉ, उसका सौन्दर्य - इन सब ने मानव मन के ऊपर ऐसा प्रभाव डाला कि वह इन सब के परे जाने की, और उनको समझ सकने की आकाक्षा करने लगा। इस प्रयास मे मनुष्य ने इन दृश्यों में वैयक्तिक गुणों का आरोपण करना शुरू किया। उन्होंने उनमें आत्मा तथा शरीर की प्रतिष्ठा की, जों कमी सुन्दर और कभी इन्द्रियातीत होते थे। उनको समझने के हर प्रयास मे उन्हें व्यक्ति रूप दिया गया, या नहीं दिया गया, किन्तु उनका अत उनको अमूर्त कर देने में ही हुआ। इस प्रकार प्राचीन यूनानियों, जर्मनी तथा स्कैन्डिनेविया तथा सभी आर्य जातियों ने प्रकृति की शक्तियों का मानवीकरण करने को ही धर्म माना।

यद्यपि ये दोनों सिद्धांत परस्पर विरोधी लगते हैं, किन्तु उनका समन्वय विवेकानन्दने एक तीसरे आधार पर किया । वह तीसरा आधार है- इन्द्रियों की सीमा का अतिक्रमण करने के लिए संघर्ष। एक ओर मनुष्य अपने पितरों की आत्माओं की खोज करता है, मृतकों की प्रेतात्माओं को ढूँढता है, अर्थात् शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह जानना चाहता है कि उसके बाद क्या होता है? दूसरी ओर मनुष्य प्रकृति की विशाल दृश्यावली के पीछे काम करने वाली शक्ति को समझना चाहता है। इन दोनों ही स्थितियों में इतना

तो निश्चित है कि मनुष्य इन्द्रियो की सीमा के बाहर जाना चाहता है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म की पहली झॉकी मनुष्य को सम्भवत स्पप्न मे मिली होगी। क्योंकि मनुष्य अमरता की कल्पना स्वप्न के आधार पर कर सकता है। जैसे बच्चे और कोरे मस्तिष्क वाले स्पन और जाग्रत स्थिति मे कोई भेद नही कर पाते। उनके लिए साधारण तर्क के रूप मे इससे अधिक और क्या स्वाभाविक हो सकता है कि स्वप्नावस्था मे भी जब शरीर मृतप्राय सा हो जाता है, मन के सारे जटिल क्रिया कलाप चलते रहते हैं। अत इसमे क्या आश्चर्य, यदि मनुष्य हठात् निष्कर्ष निकाल ले कि शरीर के विनष्ट हो जाने पर इसकी क्रियाए जारी रहेगी? विवेकानन्द ने स्पष्ट किया कि प्राचीन मानव की (जब उसकी बुद्धि अपरिपक्व थी) अलौकिकता की इससे अधिक स्वाभाविक व्याख्या और कोई नहीं हो सकती, और स्वप्न पर आधारित इस धारणा को क्रमश विकसित करता हुआ मनुष्य ऊँचे से ऊँचे विचारो तक पहुँच सका होगा। धीरे धीरे अन्वेषण की धारा अर्न्तमुखी हो गयी और मनुष्य ने अपने ही अदर अधिक गम्भीरता से मन की विभिन्न अवस्थाओं का अन्वेषण करते करते जागृतावस्था और स्वप्नावस्था से भी परे कई उच्च अवस्थाओं का आविष्कार किया। ससार के सभी सगठित धर्मो मे इन अवस्थाओं की चर्चा 'परमानन्द' या 'अन्त स्फुरण' के रूप मे मिलती है। सभी संगठित धर्मो मे ऐसा माना जाता है कि उनके सस्थापक पैगम्बरो एवं संदेशवाहकों ने मन की इन अवस्थाओं में प्रवेश किया था और उनमें उन्हें एक ऐसी नवीन तथ्यमाला का साक्षात्कार हुआ जो आध्यात्मिक जगत से सम्बध है।

इस प्रकार सभी धर्मो ने यह अत्यत महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि मनुष्य का मन कुछ खास क्षणो मे इन्द्रियो की सीमाओ को ही नहीं, बुद्धि की शक्ति से भी परे पहुँच जाता है। इस अवस्था मे वह उन तथ्यों को साक्षात्कान करता है, जिनका ज्ञान न कभी इन्द्रियों से हो सकता था और न चिन्तन से ही। ये तथ्य ही ससार के सभी धर्मो के आधार हैं। संसार के सभी वर्तमान धर्मो का दावा है कि मन को ऐसी कुछ अद्‌भुत शक्तियाँ प्रापत हैं जिनसे वह इन्द्रिय तथा बौद्धिक अवस्था का अतिक्रमण कर जाता है। और उसकी इस शक्ति को वे तथ्य के रूप में मानते हैं।

इस प्रकार धर्म की उत्पत्ति के सम्बंध में स्वामी विवेकानन्द के विचार न केवल युक्ति संगत लगते हैं अपितु विज्ञान सम्मत भी हैं। उन्होंने धर्म और विज्ञान का चरम लक्ष्य एकत्व या पूर्णता की प्राप्ति बताया। विवेकानन्द के शब्दों में- विज्ञान एकत्व की खोज के सिवा और कुछ नहीं है । ज्यों ही कोई विज्ञान पूर्ण एकता तक पहुँच जाएगा, त्योंही उसकी प्रगति रुक जायेगी, क्योंकि तब वह अपने लक्ष्य को प्रापत कर

लेगा । वैसे ही धर्मशास्त्र भी उस समय पूर्णता को प्राप्त कर लेगा, जब वह उसको खोज लेगा, जो इस मृत्यु के इस लोक मे एकमात्र जीवन है, जो इस परिवर्तनशील जगत का शाश्वत आधार है, जो एकमात्र परमात्मा है, अन्य सब आत्माए जिसकी प्रतीयमान अभिव्यक्तियाॅ है।[25]

विवेकानन्द ने स्पष्ट शब्दों मे घोषणा की है कि 'धर्म सम्पूर्ण मानव मे परिव्याप्त है, न केवल वर्तमान मे अपितु भूत और भविष्य मे भी। अत हम उसे शाश्वत् आत्मा का शाश्वत् ब्रह्म से शाश्वत् सम्बध कह सकते है।'[24]

स्वामी विवेकानन्द मानव की वैयक्तिक विभिन्नता मे विश्वास करते थे इसीलिए उन्होने धर्म का एक ही स्वरूप सभी के लिए उपयुक्त नहीं बताया। उन्होंने कहा है, 'धर्म एक ही है परन्तु इसकी साधना में विभिन्नता होनी ही चाहिए। अत. सभी अपना धार्मिक संदेश तो दें, परन्तु दूसरे धर्मो मे कोई त्रुटि न देखें।' उन्होंने सभी धर्मो को एक सूत्र मे गुथे मोतियों के समान माना। अत लोगों को अन्य सब बातों को अलग रखते हुए सभी मे व्यक्तित्व को खोजने की चेष्टा करनी चाहिए। मनुष्य किसी धर्म मे जन्म नहीं लेता, उसका धर्म तो उसकी आत्मा में सन्निहित है। कोई पद्धति जिससे व्यक्तिगत विशेषता का नाश होता है, वह अन्ततोगत्वा विनाशक सिद्ध होती है। हर जीवन मतें एक धारा प्रवाहित हो रही है और वही अंत में उसे ईश्वर को प्राप्त करा देगी।

विवेकानन्द के विचार में धर्म केवल सिद्धात और मत की बात नहीं है। कोई व्यक्ति क्या पढ़ता है अथवा किस मत में विश्वास रखता है यह उतना महत्व नहीं रखता जितना यह कि वह अनुभव या व्यवहार में उसे कितना लाता है? इस बात को उन्होंने जिस उदाहरण से समझाया है वह दृष्टव्य है-

'जो व्यक्ति धर्म के लिए केवल किताबें पढ़ता है उसकी हालत तो गल्पवाले उस गदहे की भाँति है जो पीठ पर चीनी का भारी बोझ ढोता हुआ भी उसकी मिठास को नहीं जान पाता।'[27]

ने धर्म एवं विज्ञान के बीच समरसता का आह्वान किया। उन्होंने धर्म की विशद व्याख्या द्वारा प्रमाणित किया कि धर्म और विज्ञान दोनों का लक्ष्य है - एकत्व की प्राप्ति। धर्म तात्विक (आध्यात्मिक) जगत के सत्यों से उसी प्रकार सम्बंधित है, जिस प्रकार रसायन शास्त्र तथा दूसरे भौतिक विज्ञान भौतिक जगत के सत्यों से। धर्म और विज्ञान दोनों के अध्ययन का आधार अनुभव है। धर्म एव विज्ञान दोनों का उद्देश्य ज्ञान द्वारा मानव का कल्याण तथा मुक्ति है। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि जो धर्म विज्ञान की तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है उसे त्याग देना ही उत्तम होगा। तर्क और धर्म के सम्बध की व्याख्या करते हुए उन्होने कहा - 'बाह्य ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र मे जिन अन्वेषण पद्धतियों का प्रयोग होता है, क्या उन्हे धर्म विज्ञान के क्षेत्र मे भी प्रयुक्त किया जा सकता है? मेरा विचार है कि ऐसा अवश्य होना चाहिए। और मेरा अपना विश्वास भी है कि यह कार्य जितना शीघ्र हो, उतना ही अच्छा। यदि कोई धर्म इन अन्वेषणों के द्वारा ध्वस प्राप्त हो जाए तो वह सदा से निरर्थक धर्म था।[28]

विवेकानन्द ने धर्म और विज्ञान के मध्य घनिष्ठ सम्बंध की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया कि विज्ञान और धर्म एक ही गन्तव्य के दो पथिक है। इन दोनों को परस्पर सहयोग से मानवजाति का कल्याण करना है। जहॉ एक ओर विज्ञान व्यक्ति को निरा भौतिकवादी बनाती है वहॉ दूसरी ओर धर्म भौतिक धरातल से ऊपर उठाने का अर्थात् मानव पशु से देव मानव बनाने का प्रयास करता है। एक मानव को क्षणिक सुख देकर उसकी आवश्यकताओं में निरन्तर वृद्धि कर अततोगत्वा उसे दुख सागर मे डुबो देता है। दूसरा मनुष्य को दुखों से पूर्णतयामुक्ति प्रदान करता है। अतः विज्ञान के तर्क का प्रयोग धर्म मे किया जाये। धार्मिक चिंतन की प्रणालियॉ भी वैज्ञानिक हो तभी ये दोनों मिलकर मानवजाति का कल्याण कर सकते हैं। विज्ञान को भी धर्म के सारतत्व को ग्रहण करना होगा- विविधता में एकता का भाव । विवेकानन्द ने धर्म की अनेक बातों को विज्ञान के उदाहरणों द्वारा समझाकर यह स्पष्ट किया कि जिस प्रकार (अन्य बातें समान रहने पर) विज्ञान के नियम सार्वलौकिक व सर्वग्राही होते हैं उसी प्रकार धर्म जगत में भी सार्वभौमिक.. सत्य विद्यमान हैं। धर्म जगत के प्रत्येक

इस प्रकार विवेकानन्द पुस्तक पुस्तिकाओं को धर्म नहीं कहते। बल्कि अर्न्तदृष्टि द्वारा मानव हृदय मे प्रवेश कर ईश्वर तथा अमरत्व सम्बधी सत्यों को ढूँढ निकालने को धर्म कहते हैं। अर्थात धर्म स्वानुभूति की वस्तु है। धर्म के लिए सभी पुस्तकों और औपचारिकताओं से परे होना पडता है। पुस्तकें मनुष्य को विमूढ़ तथा विक्षिप्त बना देती है। जब मनुष्य सम्प्रदाय, औपचारिकता और कर्मकाण्ड को ही सर्वस्व समझ लेता है तभी वह बधन मे बँध जाता है। इसलिए इन सब का उपयोग दूसरों को सहायता देने के लिए ही करना चाहिए स्वय को बधन मे बाँधने के लिए नहीं।

धर्म और जीवन दोनों का लक्ष्य एक ही होता है। जीवन का प्रथम लक्ष्य ज्ञान व द्वितीय लक्ष्य सुख है। ज्ञान और सुख मानव को मुक्ति की ओर ले जाते है। और मुक्ति ही धर्म का लक्ष्य है। प्रत्येक धर्म का प्रारम्भ इसी मुक्ति की भावना से हुआ है। जिस भी वस्तु मे जीवन है, उसके भीतर एक यथार्थ सत्ता है वह उस सत्ता को प्राप्त करने का सतत प्रयास करती रहती है। जड़ और जीव में यही प्रमुख भेद है कि जड मे चाहे कितनी ही शक्ति क्यों न हो, उसकी गति और वेग कितना ही प्रबल क्यों न हो वह एक जीवनहीन जड़ मात्र ही है। वह स्वतंत्र नही है वह नियमों में आबद्ध है। इसलिए वह जहाँ है वहाँ रहेगा। उसमें परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं। परन्तु मनुष्य की समस्त क्रियाओं का लक्ष्य स्वाधीनता प्राप्त करना है। जब पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त होगी तभी पूर्णत्व की प्राप्ति हो सकती है। अतः मनुष्य सर्वदा ही स्वाधीनता का अनुसंधान कर रहा है, मनुष्य का समग्र जीवन ही केवल इस स्वाधीनता प्राप्ति की चेष्टा है।

धर्म और विज्ञान

उन्नीसवीं शताब्दी मे संशयवाद और भौतिकवाद के ज्वार में जब व्यक्ति ने धर्म को निःसार एवं अनुपयोगी समझ कर उससे मुँह मोड़ लिया था। धर्म पर अधिकार सिर्फ पुरोहितों, पादरियों और मुल्लाओं का ही माना जाने लगा था उस समय विवेकानन्द

वस्तु मे कार्य कारण का नियम उसी प्रकार घटित होता है जिस प्रकार विज्ञान जगत की प्रत्येक घटना पर । उन्होंने धर्म के सार्वभौमिक तथ्यों का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है- यथा सभी धर्म,प्रेम बधुत्व की दया, क्षमा, सहानुभूति, परोपकार, सेवा आदि आदर्शो का पालन करनेकी बात कहते है।

धार्मिक समन्वय

विभिन्न धर्मो के मध्य होने वाले विवादों के निराकरण के लिए स्वामी विवेकानन्द ने धार्मिक समन्वय की जो व्यावहारिक व्याख्या दी वह आज भी उतनी ही ग्रहणशील है जितनी शताब्दी पूर्व। आज हम लोग जिस अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की भावना का प्रसार करते हैं यह धार्मिक समन्वय उसी का बीज मत्र है। यह सर्वविदित है कि देश काल व परिस्थितियों की भिन्नता के कारण अनेक धर्मो का होना अवश्यंभावी है। और शारीरिक समानता होते हुए भी मानसिक भिन्नता के कारण मनुष्यों की रुचियों तथा स्वभाव में भिन्नता भी स्वाभाविक है। अत यह कहना निर्मूल है कि विश्व में सिर्फ एक ही धर्म हो और सभी उसको मानें। विवेकानन्द ने सभी धर्मो का तुलनात्मक अध्ययन कर यह प्रमाणित किया कि सभी धर्म उस ईश्वर रूपी केन्द्र की अनन्त त्रिज्जाएं हैं। सभी सत्य है। अत. आवश्यकता है धर्म को उदार बनाने की। सभी धर्मो की उत्पत्ति अन्त-स्फुरण या आत्मज्ञान द्वारा हुई हैं। विभिन्न धर्मो की स्वतंत्र सत्ता तथा उसके औचित्य को विवेकानन्द ने अत्यत प्रभाव शाली दृष्टांत द्वारा समझाया है। जिसमें उन्होंने ब्रह्म को जल और विभिन्न् धर्मो को भिन्न भिन्न आकार के पात्र माना है - 'मान लीजिए हम बर्तन लेकर झील से पानी लेने के लिए जाते हैं। किसी के हाथ में प्याला है, किसी के हाथ में घड़ा, किसी के हाथ में बाल्टी आदि आदि और हम सब अपने अपने बर्तन मे जल भर लेते हैं। स्वभावत जल का वही रूप हो जाता है जो हमारे बर्तन का है। .... किन्तु हर स्थिति में बर्तन में जल और केवल जल है।'

यही स्थिति धर्म के बारे में है।

अत सभी धर्मो को ग्रहणशील होना चाहिए और ईश्वर सम्बधी अपने आदर्शो मे भिन्नता के कारण एक दूसरे का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। विवेकानन्द के अनुसार - 'जब धर्म इतने उदार बन जायेगे तब उनकी कल्याणकारिणी शक्ति सौगुनी अधिक हो जायेगी। धर्मो मे अद्‌भुत शक्ति है, पर केवल इनकी सकीर्णताओं के कारण इनसे कल्याण की अपेक्षा हानि ही हुई है।'[29]

विवेकानन्द अनेक धर्मो के अस्तित्व को स्वीकारते हुए कहते हैं कि विश्व मे जितने धर्माचार्य आयेंगे, जितने धर्मग्रथ बनेंगे, जितने द्रष्टा आयेंगे, जितनी विधियॉ बनेंगी विश्व का उतना ही कल्याण होगा । जिस प्रकार सामाजिक जीवन मे जितने अधिक प्रकार की जीविकाएं रहेगी समाज को उतना ही अधिक लाभ होगा, लोगों को जीविका चुनने की उतनी ही, अधिक स्वतत्रता रहेगी। उसी प्रकार दर्शन और धर्म के क्षेत्र में भी है। उन्होंने नित नए-नए धर्म की वृद्धि होने की कामना करते हुए कहा- 'ईश्वर की यह सबसे बड़ी कृपा है कि संसार मे अनेक धर्मो का सृजन हुआ है। और मैं तो ईश्वर से प्रार्थना करूँगा कि नित्य ही इनकी और भी वृद्धि होती रहे, जब तक प्रत्येक व्यक्ति का अपना अपना धर्म न हो जाए।'[30]

कहीं कहीं विवेकानन्द के बचनों से विरोधाभास प्रगट होता है। जैसे- एक ओर वे विभिन्न धर्मो के अस्तित्व को सत्य मानते हैं वहीं दूसरी ओर वह एक विश्व धर्म के होने की बात तथा उसकी योजना प्रस्तुत करते है। तो हम देखते हैं कि उनकी विश्व धर्म की संकल्पना क्या है? क्या इन दोनों कथनों में कोई विरोध है या नहीं। किसी भी धर्म को समझने के लिए उसके अंग प्रत्यंग को समझना आवश्यक है। सभी विद्वान इस पर एकमत हैं कि धर्म के तीन भाग होते हैं। पहला भाग दार्शनिक इसमे धर्म का सारा विषय अर्थात् मूल तत्व, उद्‌देश्य , और उसकी प्राप्ति के साधन होते हैं। दूसरा भाग पौराणिक होता है। यह स्थूल उदाहरणों के द्वारा दार्शनिक भाव के सूक्ष्म

तत्वों को स्पष्ट करता है। इस भाग मे धर्म प्रवर्तक या अतिप्राकृतिक पुरुषो के थोडे बहुत वास्तविक तथा काल्पनिक जीवन के चरित्र का विशद वर्णन रहता है। तीसरा है, आनुष्ठानिक भाग। यह धर्म का स्थूल भाग होता है। इसमे धार्मिक कृत्यों यथा पूजा, प्रार्थना, उपासना, आचार, अनुष्ठान, विविध शारीरिक अंगविन्यास, पुष्प, धूप, धूनी प्रभृति नाना प्रकार के बाह्याचारो का विवरण रहता है। इस भाग को हम कर्मकाण्ड की सज्ञा भी दे सकते है। कोई धर्म के दार्शनिक भाग पर तो कोई आनुष्ठानिक भाग पर विशेष महत्व देते हैं तथा कुछ लोग धर्म के सिद्धान्त और कर्मकाण्ड को भुलाकर सिर्फ महापुरुषों के जीवन चरित्र को ही धर्म का सार मान बैठते है। इस प्रकार धर्म पूर्ण रूप से पालित न होने के कारण विवाद का विषय बन जाता है। यह विवाद तब और भी उग्र रूप ले लेता है जब एक धर्म के मानने वाले यह कहते है कि मेरा ही धर्म सबसे अच्छा है । और जो इस धर्म को नहीं मानेगा उसे अनंत यातनाएं सहनी होंगी । और इस तरह धर्म के नाम पर युद्ध, तलवार आदि के द्वारा मानवता को कलंकित किया जाता है। तो इतने वैषम्यपूर्ण धर्मो के बीच एक विश्व धर्म की कल्पना करना जो सभी मतभेदों से दूर हो, असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है-

स्वामी विवेकानन्द ने धार्मिक समन्वय के रूप में जिस धर्म को सार्वभौम धर्म के आसन पर प्रतिष्ठित किया उस धर्म को 'विश्व धर्म' की संज्ञा दी। इस धर्म के दो भाग बताये। पहला सैद्धान्तिक- इस भाग में उन्होंने दार्शनिक दृष्टिकोण से मानव मानव की विभिन्नता तथा सृष्टि के बहुत्व में एकत्व का विधान समझाया। उन्होंने इस बात की पुष्टि की कि सभी व्यक्ति मानव जाति के होने के नाते समान अवश्य हैं फिर भी एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा बल, बुद्धि, क्षमता, योग्यता तथा शरीर में असमान है। तो इस विश्वधर्म का पहला सिद्धात यह है कि इसमें हम विभिन्नता के बीच एकता का बोध करे और सभी धर्मो को सत्य मानते हुए उसमें विद्यमान एकत्व स्वरूप ईश्वर की अनुभूति करे। अपने मत के समर्थन ने उन्होंने सृष्टि के वैचित्र्य में विराट् सत्ता के रूप में एकत्व का परिचय दिया। विवेकानन्द के शब्दों में-

'ईश्वर है वह विराट् सत्ता- इस वैचित्र्यमय जगत् प्रपच का चरम एकत्व। उस ईश्वर मे हम सभी एक है, किन्तु व्यक्त प्रपच में यह भेद अवश्य चिरकाल तक विद्यमान रहेगा। हमारे प्रत्येक बाहरी कार्य और चेष्टा मे यह भेद सदा ही विद्यमान रहेगा। इसलिए विश्व धर्म का यदि यह अर्थ हो कि एक प्रकार के विशेष मत मे ससार के सभी लोग विश्वास करे, तो यह सर्वथा असम्भव है। यह कभी नहीं हो सकता। ऐसा समय कभी नहीं आयेगा, जब सब लोगों का मुँह एक रग का हो जाये। और यदि हम आशा करे कि समस्त ससार एक ही पौराणिक तत्व में विश्वास करेगा, तो यह भी असम्भव है, यह कभी नहीं हो सकता। फिर समस्त ससार मे कभी भी एक प्रकार की अनुष्ठान पद्धति प्रचलित हो नहीं सकती। ऐसा किसी समय हो नहीं सकता, अगर कभी हो भी जाय तो सृष्टि लुप्त हो जायेगी। कारण, वैचित्र्य ही जीवन की मूल भित्ति है। सम्पूर्ण साम्यभाव होने से ही हमारा विनाश अवश्यम्भावी है।[31]

अत यह मानना कि विश्वधर्म का कोई सार्वभौमिक दर्शन, कोई सार्वभौमिक पौराणिक तत्व या कोई सार्वभौमिक अनुष्ठान पद्धति होगी जिसको मानकर सबको चलना पडेगा, भूल है। नैसर्गिक एकत्व के समान नैसर्गिक वैषम्य को स्वीकार करना होगा। एक ही सत्य का प्रकाश लाखों प्रकार से होता है और प्रत्येक भाव ही अपनी निर्दिष्ट सीमा के अन्दर प्रकृत सत्य है। इस विचार को समझाने के लिए विवेकानन्द ने सूर्य का उदाहरण दिया- 'मान लो कोई मनुष्य भूतल पर से सूर्योदय देख रहा है, उसको पहले एक गोलाकार वस्तु दिखाई पड़ेगी। अब मान लो, उसने एक कैमरा लेकर सूर्य की ओर यात्रा की और जब तक सूर्य के निकट न पहुँचे, तब तक बार बार सूर्य की प्रतिच्छवि लेने लगा। एक स्थान से लिया हुआ सूर्य का चित्र दूसरे स्थानों से लिए हुए सूर्य के चित्र से भिन्न है - वह जब लौट आयेगा, तब उसे मालूम होगा कि मानों वे सब भिन्न भिन्न सूर्यो के चित्र है। परन्तु हम जानते हैं कि वह अपने मन्तव्य पथ के लिए भिन्न भिन्न स्थानों से एक ही सूर्य के अनेक चित्र लेकर लौटा है। ईश्वर के सम्बंध मे भी ठीक ऐसा ही होता है।'[32]

प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक धर्म और प्रत्येक जाति, जाने या जनजाने मे अग्रसर होने की चेष्टा करते हुए ईश्वर की ओर बढ रहा है। मनुष्य चाहे जितने प्रकार से सत्य की उपलब्धि करे, उसका प्रत्येक सत्य भगवान के दर्शन के सिवा और कुछ नहीं है। जहाँ तक सिद्धांत कथन की बात है तो सभी इसे स्वीकृति दे देते है। परन्तु व्यवहार मे यह बात उतनी आसान नहीं है।

विवेकानन्द ने विश्व-धर्म के दूसरे भाग को व्यावहारिक प्रणाली की सज्ञा दी। इस वैषम्य के बीच एकत्व कैसे कार्य रूप में परिणत किया जाये इस हेतु उन्होंने एक योजना बताई। योजना मे दो बातों को कार्यान्वित करने का आग्रह किया। उनके ही शब्दोंमे- 'सर्वप्रथम मै मनुष्य जाति से यह मान लेने का अनुरोध करता हूँ कि 'कुछ विनाश न करो।' ... किसी वस्तु को तोड़कर धूल में मत मिलाओ, वरन् उसका गठन करो। यदि हो सके तो सहायता करो, नहीं तो चुपचाप हाथ उठाकर खड़े हो जाओ। .. जब तक मनुष्य कपटहीन रहे, तब तक उसके विश्वास के विरुद्ध एक भी शब्द न कहो। दूसरी बात यह है कि जो जहाँ पर है, उसको वहीं से ऊपर उठाने की चेष्टा करो। यदि यह सत्य है कि ईश्वर सब धर्मो का केन्द्र स्वरूप है और हममे से प्रत्येक एक एक व्यासार्ध से उसकी ओर अग्रसर हो रहा है तो हम सब निश्चय ही उस केन्द्र में पहुँचेंगे और सब व्यापारों के मिलन स्थान में हमारे सब वैषम्य दूर हो जायेंगे।'[33]

कहावत भी ऐसी है कि 'सब रास्ते रोम में पहुँचते हैं।' प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार बढ़ रहा है और पुष्ट हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति उचित समय पर चरम सत्य की उपलब्धि करेगा। जैसे व्यक्ति बीज बो देता है उसके बढ़ने के लिए हवा, पानी, प्रकाश तथा चारों ओर घेरा बना देता है। और वृक्ष अपने आप बढ़ता है। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति भी स्वयं व्यक्ति के अन्दर स्थित प्रकृति या स्वभाव के अनुसार होती है। संसार में सहस्रों प्रकार के मन और संस्कार वाले लोग वर्तमान हैं। उन सबका सम्पूर्ण सामान्यीकरण असम्भव है। विभिन्न मनोवृत्ति के लोगों

को भिन्न भिन्न मार्ग या साधन का अनुसरण करना होगा। तभी चरम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। स्वामी विवेकानन्द ने प्रकृति अनुसार मानवों को चार श्रेणियों मे विभक्त किया और प्रत्येक श्रेणी के लिए एक विशेष मार्ग द्वारा आत्मज्ञान करना बताया। (1) प्रथम श्रेणी- कर्मठ व्यक्तियों की है जो कर्मेच्छुक है। जिनके नाड़ीतंत्र और मासपेशियों मे विपुल शक्ति है। ऐसे व्यक्तियों का उद्देश्य कार्य करना, अस्पताल तैयार करना, पौशाला खुलवाना, सत्कार्य करना, रास्ता बनाना, योजना बनाकर सघबद्ध होना आदि है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि इस श्रेणी मे श्रमिक वर्ग आता है जो शारीरिक श्रम द्वारा ईश लाभ प्राप्त करता है। (2) द्वितीय श्रेणी भावुक लोगों की है। जो संसार की प्रत्येक वस्तु मे सौन्दर्य एवं प्रेम का रस-पान करते हैं। इनका अन्त करण उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण रहता है। प्रकृति के मनोरम दृश्यों तथा जगत की प्रत्येक वस्तु से प्रेम करते है। ये विश्व के तमाम महापुरुषों और अवतारों पर अटूट विश्वास करते हुए सबकी अन्त करण से पूजा करते हैं, प्रेम करते हैं। इनके लिए सम्पूर्ण विश्व प्रेममय होता है। (3) तृतीय श्रेणी योग मार्गी व्यक्ति की है जो अपने मन का विश्लेषण करते है तथा मन की विभिन्न क्रियाओं व शक्तियों का अध्ययन करते है, उन्हें पहचानते है, उन शक्तियों को परिचालित करते तथा वशीभूत करने का प्रयास करते हैं। (4) चतुर्थ श्रेणी दार्शनिक की है। ये व्यक्ति बौद्धिक दृष्टि से उच्च स्तर के होते है। अत ये बुद्धि द्वारा ज्ञान लाभ करते हैं तथा कभी कभी ये बुद्धि के परे क्या है? उस तक भी पहुँचने की इच्छा रखते हैं।

वही धर्म ही सर्वग्राही हो सकता है जिसमें इस विभिन्न वर्गों के लोगों के उपयुक्त सामग्री हो। इस सभी प्राचीन धर्मो के अध्ययन के उपरांत उन्होंने वेदान्त धर्म को इस सिंहासन पर आरूढ़ कर उसकी व्याख्या व उपादेयता प्रमाणित की। उन्हीं के शब्दों में - 'मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ जो सब प्रकार की मानसिक अवस्था वाले लोगों के लिए उपयोगी हों, उसमे ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म समभाव से रहेंगे।'[34]

उपरोक्त कथन से आश्य यह निकलता है कि इन चारों तत्वों को पूर्ण रूप में और समभाव मे रहना है। यदि किसी चरित्र मे इन भावों मे से एक या दो भाव ही प्रस्फुटित हुए है तो वह एक पक्षीय चरित्र होगा। वह अपने ही भाव को उचित और अन्य भावों को अनुचित कहेगा। विवेकानन्द ने भारतवर्ष मे व्यवहृत योग को इस विश्व धर्म का व्यावहारिक पक्ष बताया। उन्होंने कहा- 'भारतवर्ष में हम जिसको योग कहते हैं, उसी के द्वारा इस आदर्श धर्म को प्राप्त किया जा सकता है। कर्मी के लिए वह मनुष्य के साथ मनुष्य जाति का योग है, योगी के लिए जीवात्मा और परमात्मा का योग भक्त के लिए अपने साथ प्रेममय भगवान का योग और ज्ञानी के लिए बहुत्व के बीच एकत्वानुभूति रूप योग है।[35]

इस प्रकार के योग साधना करने वाला व्यक्ति योगी कहलाता है। कर्म के माध्यम से योग साधन करने वाले को कर्मयोगी, भगवान के भीतर से योग साधन करने वाले को भक्तियोगी, रहस्यवाद के माध्यम से योग करने वाले को राजयोगी और ज्ञान विचार के बीच योग करने वाले को ज्ञानयोगी कहते है। कोई भी योग युक्ति तर्को को परित्याग करने को नहीं कहता। अत मनुष्य को अपनी मानसिक अवस्था के अनुरूप योग साधन करना चाहिए। मुण्डकोपनिषद के वाक्य 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' के अनुसार पहले श्रुत विषयों पर चिन्ता करनी होगी। फिर उन सबको भली प्रकार विचार पूर्वक समझना होगा, जिससे मन मे उसकी छाप पड़ जाये। तदुपरांत उनका ध्यान और उपलब्धि करनी पड़ेगी - जब तक कि हमारा समस्त जीवन सद्भाव भावित न हो उठे। इस स्थिति पर पहुँचने पर व्यक्ति आत्मस्वरूप हो जायेगा। तब उसे मत परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होगी। यह है उनका विश्वधर्म का आदर्श जिसे हम अद्वैत वेदान्त का व्यावहारिक रूप कह सकते है। विवेकानन्द के धर्म सम्बंधी विचारो. के निचोड़ को इन शब्दों में कहा जा सकता है-

धर्म अनुभूति की वस्तु है - वह मुख की बात, मतवाद अथवा मुक्तिमूलक कल्पना मात्र नहीं है- चाहे वह कितना ही सुन्दर हो। आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को

को जान लेना, तद्रूप हो जाना- उसका साक्षात्कार करना, यही धर्म है- वह केवल सुनने या मान लेने की चीज नही है। समस्त मन-प्राण विश्वास की वस्तु के साथ एक हो जायेगा। यही धर्म है।

सारांश

धर्म और जीवन दो सहचरी जिनका लक्ष्य मानव जीवन के चरम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है। धर्म मानव की एक अपरिहार्य आवश्यकता है। जब से मनुष्य ने सृष्टि में अस्तित्व स्थापित किया तभी से धर्म का प्रादुर्भाव हुआ और जब तक मनुष्य का जीवन है तब तक धर्म किसी न किसी रूप मे अवश्य रहेगा। मानव के विकास के साथ साथ धर्म के स्वरूप में परिवर्तन आता रहा और भविष्य में भी परिवर्तन आता रहेगा। विश्व चारों ओर अनन्त, , अज्ञेय , और अज्ञात से परिसीमित है। यह अनन्तता ही मानव को अनुसधान के प्रति जागृत करती है। परिणामस्वरूप जो तथ्य तथा प्रकाश प्राप्त होता है वही धर्म है। इस प्रकार धर्म न तो सिर्फ सिद्धांत है न किसी मत में विश्वास। अपितु धर्म वह अनुभूति है जिसकी प्राप्ति न तो इन्द्रियो और न बुद्धि द्वारा वरन् अन्तः स्फुरण द्वारा होती है। मानवों में निहित विभिन्नता के कारण संसार में विभिन्न धर्म है और भविष्य मे और अधिक होंगे। विभिन्न धर्मो की साधना प्रणाली मे विभिन्नता स्वाभाविक है परन्तु विभिन्न धर्मो का लक्ष्य एक ही है- ईश्वर की प्राप्ति । अत· विभिन्न धर्मावलम्बियों को परस्पर एक दूसरे धर्म का आदर करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करे। धर्म परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। क्योंकि यदि एक धर्म सत्य है तो सभी धर्म सत्य है।

धर्म और विज्ञान में घनिष्ठ सम्बध है। अत वैज्ञानिक ज्ञान के विकास में धर्म बाधक नहीं सहायक है। क्योंकि विज्ञान का चरम लक्ष्य भौतिक जगत में व्याप्त विषमता में एकत्व का पता लगाना है और धर्म का लक्ष्य है- अन्तर्गत में स्थित विविधता मे एकत्व की प्राप्ति। धर्म जगत के प्रत्येक तथ्य को तर्क की कसौटी पर परखना

होगा तथा असारत्व को त्यागना होगा। अत प्रत्येक धर्म से धार्मिक कुरीतियों तथा अध विश्वासों को हटाना होगा। अधविश्वास से भी खराब धर्मान्धता है। जिसे दूर करनाहोगा। विभिन्न धर्मो के अस्तित्व को स्वीकारते हुए स्वामी विवेकानन्द ने एक विश्व धर्म की योजना बताई जिसमे मनुष्यो को मानसिक अवस्था के अनुसार चार श्रेणी मे विभक्त किया। कर्मठ, भक्त, योगी तथा ज्ञानी। अत विश्व धर्म ऐसा हो जिसमे इन चारों मानसिक अवस्थानुरूप धर्म का साधन हो। उन्होंने विभिन्न धर्मो का समन्वय करके वेदान्त को ही विश्व धर्म के योग्य प्रमाणित किया क्योंकि इसी मे चारों प्रकार की मन स्थिति वाले व्यक्तियों के लिए चार अलग अलग मार्ग कर्म योग, भक्तियोग, राजयोग, व ज्ञानयोग वर्णित हैं। इस प्रकार विवेकानन्द ने धार्मिक समन्वय द्वारा विश्वबोध की भावना प्रदर्शित की जो आज के अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की ही धुन है।

*****

सन्दर्भ-सूची

1- धर्म दर्शन, लक्ष्मीनिधि शर्मा, पृ0 82

2- मनुस्मृति, 6/92

3- कणाद, वैशेषिक सूत्र, 1.1

4- धर्मशास्त्र का इतिहास, डा0 पाण्डरग वामन काणे, पृ0 -4

5- तैत्तरीय उपनिषद- 1/11/1

6- छान्दोग्य उपनिषद 7/2/1

7- वृहदारण्यक उपनिषद, 2/5/11

8- वही , 1/4/14

9- गीता, 1/1

10- वही,

11- वही, 2/31

12- वही, 2/33

13- वही, 18/66

14- वही, शांकर भाष्य पृ0 13

15- वैशेषिक सूत्र, 1/1/1

16- महाभारत शांतिपर्व, 109, 58

17- भारतीय दर्शन, उमेश मिश्र पृ0 152

18- आधुनिक भारत के निर्माता, स्वामी विवेकानन्द, वी0के0 आर0वी0राव पृ0 150

19- धर्म तत्व, विवेकानन्द पृ0 20

21- धर्मतत्व, विवेकानन्द पृ0 19

22- वही पृ0 19

23- धर्म तत्व, स्वामी विवेकानन्द, पृ0 10

24- विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थखण्ड, पृ0 243

25- वही, प्रथमखण्ड पृ0 16

26- धर्म तत्व, विवेकानन्द पृ0 26

27- विवेकानन्द साहित्य द्वितीय खण्ड पृ0 235-236

28- धर्मतत्व, विवेकानन्द पृ0 48

29- वही, पृ0 17

30- वही, पृ0 80

31- विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खण्ड, पृ0 145

32- वही, प0 146

33- वही, पृ0 148

34- वही पृ0 150

35- विवेकानन्द साहित्य तृतीय खण्ड , पृ0 151

36- वही, पृ0 159

डा0 एनी बेसेन्ट के धर्म सम्बंधी विचार

धर्म सम्बंधी विचार

धर्म को यदि सम्प्रदाय के पर्याय के रूप मे लिया जाये तो इसका अर्थ हुआ किसी समय विशेष मे किसी विशेष स्थान पर किसी महान आत्मा द्वारा ईश्वर प्राप्ति हेतु दिया गया उपदेश। अर्थात् प्रत्येक धर्म मे ईश्वर तक पहुँचने के लिए कोई न कोई मार्ग या कर्तव्य कर्मो का निर्देश रहता है। उसके धर्म प्रवर्तक की जीवन गाथा रहती है। विश्व के उद्‌गम के विषय मे विचार करते हैं इसके अतिरिक्त नैतिक संहिता प्रत्येक धर्म का आवश्यक अग होती है।

धर्म के इस अर्थ मे विश्व मे अनेक धर्म हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, बौद्ध , पारसी, यहूदी प्रमुख हैं। प्राय माता-पिता जिस धर्म के अनुयायी होते हैं बच्चों का भी वही धर्म होता है। कुछ धर्म कट्टर होते है उनमे बच्चों को धार्मिक परिवर्तन की स्वतत्रता नहीं होती जैसे इस्लाम। जबकि कुछ धर्म व्यापक दृष्टिकोण रखते है। उनमें यह स्वतत्रता रहती है कि परिवार का कोई भी व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक किसी भी धर्म को स्वीकार कर सकता है। वैसे खुले मस्तिष्क से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी धर्मो का लक्ष्य है ऐक्य। सभी धर्म विभिन्न मार्गो से होते हुए परमात्मा तक पहुँचते है।

श्रीमती एनी बेसेण्ट के धर्म सम्बंधी विचार उनके व्यापक दृष्टिकोण को दर्शाते है। ईसाई धर्म मे जन्म लेने के कारण प्रारम्भ में वह ईसाई धर्म की अनुयायी थीं । उनकी माता कट्टर धार्मिक महिला थीं। श्रीमती बेसेण्ट का विवाह भी धार्मिक व्यक्ति पादरी फ्रैंक बेसेण्ट से हुआ। लेकिन इनके साथ रहते हुए इनके धार्मिक विश्वास को ठेस लगी। धर्म के सम्बंध में इन्होंने जो कुछ पढ़ा था व्यवहार में उसके विपरीत आचरण देखकर यह संशयवादी बन गई। और ईसाई धर्म के एक एक सिद्धान्त को तर्क के आधार पर प्रमाणित करने लगीं। इन्होंने निश्चय किया कि वह ईसाई धर्म और उसके एक एक करके तमाम सिद्धान्तों को जाँचेंगी जिससे भविष्य में वह कभी प्रमाण के अभाव मे यह न कह सकें कि 'मैं विश्वास करती हूँ' उनके सम्मुख धर्म के सम्बंध में चार

समस्साए आई -

1- मृत्यु के पश्चात् ताकयामत दण्ड और पीडा।

2- ईश्वर को 'मगलमय' और 'प्रेमस्वरूप' कहते है , तो उसने तमाम पापों और कष्टों सहित यह दुनिया क्यों बनाई है?

3- ईसा के बलिदान का स्वरूप/न्यायी ईश्वर ने ईसा को ससार के पाप के लिए पीड़ा क्यों सहने दी और पापियों को पाप से मुक्ति क्यों देता है?

4- बाइबिल के सन्दर्भ मे 'प्रेरणा' का अर्थ। यदि बाइबिल ईश्वर रचित है तो इसमे असगत और नैतिकता के विरुद्ध स्थल क्यों हैं?

इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए उन्होंने राबर्टसन , स्टापफोर्ड, ब्रूक, स्टेनली, ग्रेग, मैथ्यू आर्नल्ड, लिडल, मैन्सेल आदि सशयवादियों की पुस्तकों का अध्ययन किया। इसी समय इनका परिचय श्री एव श्रीमती स्काट से हुआ जिनका घर विधर्मी विचारों का अड्डा बना हुआ था। इनके सम्पर्क में आने पर श्रीमती एनी बेसेण्ट ने ईसाई धर्म से सम्बंध तोड़ दिया और नास्तिक बन गई। नास्तिक बन जाने पर भी विश्व रचना सम्बंधी अनेक प्रश्न मस्तिष्क मे घूमते रहते और उनका सम्यक् हल जानने को व्यग्र रहती थीं। इसी समय इन्होंने ए0पी0 सिनेट की पुस्तक 'ओकल्ट बर्ल्ड' का अध्ययन किया जिसने नियमों पर आधारित प्रकृति का प्रतिपादन किया गया था। इस पुस्तक के पढ़ने के बाद इनका झुकाव आध्यात्मिक जगत की ओर आकृष्ट हुआ और इन्होंने यह देखा कि अतीन्द्रिय दृष्टि, अतीन्द्रिय श्रवण, परिचित ज्ञान, ये सभी घटनाएं वास्तविक थीं। अत यह इस निष्कर्ष पर पहुँची कि कोई न कोई छिपी चीज, छिपी शक्ति है अवश्य और तय कर लिया कि जब तक उसे प्राप्त न कर लूँगी तब तक तलाश करती रहूँगी। इसी खोजबीन के दौरान एक दिन श्री स्टेड ने इन्हें 'सीक्रेट डाक्ट्रिन' के दो खण्ड समालोचनार्थ दिए, इस पुस्तक को ज्यों ज्यों यह पढ़ती गई त्यो त्यों इनकी गुत्थियाँ सुलझती गयी। और तब यह इस ग्रंथ की लेखिका मैडम एच0पी0 ब्लैवट्स्की से मिलीं और 1889 में मैडम ब्लेवट्स्की द्वारा संस्थापित थियोसोफिकल सोसायटी में शामिल हों

गयी। जिस की सदस्या अत तक रहीं अत श्रीमती बेसेण्ट के धर्म सम्बधी विचारों को जानने के लिए 'थियोसॉफी' को जानना आवश्यक है। क्योंकि थियोसॉफिस्ट होने के बाद से उनके धार्मिक विचारो पर इस सस्था की छाप पड़ी है।

थियोसॉफी क्या है ?

प्रत्येक धर्म के दो भाग होते है। एक आन्तरिक भाग जिसमे शाश्वत् ईश्वर ज्ञान का अध्ययन किया जाता है। और दूसरा बाह्य भाग- जिसमें उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए कुछ बाह्य क्रियाएं रीति रिवाज का वर्णन दिया होता है। धर्म के आंतरिक भाग को जिसमें रहस्यमय ईश्वरीय ज्ञान का अध्ययन होता है पश्चिम में ईसा की तीसरी शताब्दी से थियोसॉफी के नाम से जाना जाता था। इसको ही प्राच्य देशों में संस्कृत मे ब्रह्मविद्या, ईश्वरीय ज्ञान, या ईश विज्ञान के नाम से जाना जाता है। मनुष्य द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करना ही सभी धर्मो का मुख्य लक्ष्य है। ब्रह्मज्ञान का अधिकारी वह व्यक्ति भी हो सकता है जो किसी धर्म सगंठन का सदस्य नहीं है। इस प्रकार 'थियोसॉफी' ग्रीक भाषा के 'थियास' और 'सोफिया' दो शब्दों से मिलकर बना है। 'थियास' का अर्थ दैवी व्यक्ति (जो ईश्वर से भिन्न होता है) और 'सोफिया' का अर्थ 'ज्ञान' है। अत. थियोसॉफी दैवी ज्ञान है- ईश्वरीय ज्ञान नहीं। डा0 एनी बेसेण्ट के अनुसार-

'थियोसॉफी का अर्थ है दैवी ज्ञान, और यह ज्ञान एक ऐसी ज्योति है जो विश्व में पैदा हुए हर व्यक्ति को ज्योतिर्मय करती है। ब्रह्म विद्या किसी व्यक्ति या धर्म की निजी सम्पत्ति नहीं है, अपितु इस पर मानव मात्र का समान अधिकार (सहयोगिता या एक दूसरे से बॉटने का) है। हर धर्म, हर दर्शन-शास्त्र, हर विज्ञान तथा हर कार्य पद्धति इस दैवी ज्ञान से सत्य और सुन्दरता ग्रहण करती है। 'थियोसॉफी' थियोसॉफिकल सोसायटी की अपनी सम्पत्ति नहीं है, वरन् थियोसॉफिकल सोसायटी थियोसॉफी का अंश है।'[1]

थियोसॉफी का सारत्व

ब्रह्म का अश होने के कारण मानव में उस ब्रह्म को जानने की पूर्ण क्षमता है, पर इस पर वे एक दूसरे से पृथक् अपना विशेष अधिकार नहीं प्रदर्शन कर सकते, यही थियोसॉफी का सारतत्व है। इस तथ्य का अनिवार्य परिणाम मानव मात्र के भाईचारे का तथ्य है।

अत हम कह सकते है कि थियोसॉफी इन अटल सत्यों का समूह है जो कि सभी धर्मो की आधार शिला कही जा सकती है। और कोई भी एक धर्म उनको केवल अपनी सम्पत्ति नही कह सकता। यह एक सरल जीवन दर्शन देती है जिसकी सहायता से जीवन की जटिलताए समझ मे आ जाती है। विकास किस प्रकार न्याय व प्रेम की सहायता से चलता है यह स्पष्ट हो जाता है। यह मृत्यु को उसके उचित स्थान पर रखती है। एक अनन्त जीवन में बार बार होने वाली घटना के रूप मे। यह इस बात को घोषित करती है कि मृत्यु के बाद का जीवन अधिक व्यापक और ओजपूर्ण होता है। वह मनुष्य से आग्रह करती है कि वह अपने को आत्मा के रूप में देखे और मन तथा शरीर को स्वामी नहीं बल्कि नौकर के रूप मे देखे। थियोसॉफी धर्म के जटिल और छिपे सिद्धान्तों के अर्थ को व्यक्त करके, बुद्धि की कसौटी पर जॉचने योग्य बनाती है।

ब्रह्म विद्या में बताई हुई जो धर्म, नीति और तत्वदर्शन की बातें हैं, उनसे प्रत्येक धर्म, सम्प्रदाय एवं पंथ को पुष्टि मिलती है। इसलिए यदि ब्रह्मविद्या को इन सब की माता कहे तो अतिशयोक्ति न होगी। इसके कोई कोई सिद्धान्त इतने सरल और सुगम है कि एक साधारण बुद्धि का मनुष्य भी उनको समझ सकता है और उनके अनुसार अपना आचरण बना सकता है। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ सिद्धान्त इतने गूढ़ है कि बड़े बड़े पंडितों की तीव्र बुद्धि भी उनके रहस्य को समझने के प्रयास में थककर स्तंभित हो जाती है।

अत थियोसॉफी न तो धर्म है, न दर्शन और न विज्ञान अपितु यह तीनों का सम्मिश्रण है जैसा कि इसके उद्देश्यों के अवलोकन से पता लगता है।

थियोसॉफी के तीन उद्देश्य है -

1- मानव मात्र के विश्व बंधुत्व का, बिना जाति, धर्म, नर-नारीत्व , वर्ण तथा रग के भेदभाव के, एक सजीव केन्द्र स्थापित करना।

2- तुलनात्मक धर्म, दर्शन तथा विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहित करना।

3- प्रकृति के अज्ञात नियमो तथा मानव मे अन्तर्निहित शक्तियों का अनुसधान करना।

इसमें सभी धर्मो के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया जाता है और संस्था के प्रत्येक सदस्य को स्वतत्रता रहती है कि वह अपने धर्म या मत के अनुसार ब्रह्म ज्ञान हासिल करे। वह जिस उपदेश को चाहे स्वीकार कर सकता है अथवा किसी दूसरे को अस्वीकार भी कर सकता है। परन्तु सघ एक सामूहिक सस्था होने के कारण सभी उपदेशों का प्रचार करती है। थियोसॉफी ब्रह्म की व्यापकता को स्वीकार करती है। ब्रह्म आत्मा के रूप में हर वस्तु में विद्यमान है, अणु से लेकर देवदूत तक, धूल का एक कण भी ऐसा नहीं है जहाँ ब्रह्म की स्थिति न हो। श्रेष्ठतम फरिश्ता सब अग्नि की चिंगारी है जो ईश्वर है। एक महान् आत्मा के सभी अंश हैं, अतएव सबकी एक मौलिक एकता है, अत. सभी आपस मे भाई-भाई हैं। ईश्वर की सर्वव्यापकता एवं मानव मात्र की एकता ही ब्रह्म विद्या का मूल सत्य है।

विभिन्न धर्मो का तुलनात्मक अध्ययन करने पर इस संस्था के सदस्यों का मानना है कि दैवी गुरुजनों के एक महान ऋषिसंघ से कभी कभी कोई सदस्य संसार में अवतीर्ण होकर किसी नवीन धर्म की संस्थापना करते हैं। इस नवीन धर्म का सार उपदेश वही

रहता है जो पुराने धर्मो का रहा है। परन्तु इसका बाह्यरूप समय, परिस्थिति तथा तत्कालीन मनुष्यों की योग्यता व समाज के गठन के अनुसार कुछ परिवर्तित रहता है। सभी धर्मो के मौलिक उपदेश एक ही रहते हैं केवल बाह्यरूप मे भेद रहता है। धर्मो के प्रतीकों या चिन्हों से यह समता प्रदर्शित होती है, चक्र, त्रिकोण, क्रास, नेत्र, सूर्य, तारा, चन्द्रमा प्रभृति प्रतीक सभी धर्मो की मौलिक एकता के मूल प्रमाण है। इस तथ्य के आधार पर थियोसॉफिकल सोसायटी सभी धर्मो की सेवा समरूपेण करती है तथा बंधुत्व के रूप मे उन्हे एकता के सूत्र में बाँधने का अथक प्रयास करती है।

नैतिकता के सम्बंध में थियोसॉफिकल सोसायटी की शिक्षा मौलिक एकता या एकरूपता की है अर्थात् एक ही ब्रह्म प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त है। अतएव किसी एक व्यक्ति को हानि पहुँचाना सभी को हानि पहुँचाना है। आचार नीति आदि के विषय मे थियोसॉफी का कोई पृथक् नियम या विधान नहीं है, वरन् ब्रह्म विद्या तो स्वयं एक उच्चतम नीति का मूर्तिमान स्वरूप है। सभी धर्मो की उच्चतर नीतियों की विश्व-विश्वास के उपवन से अति संगंधित पुष्पों को एकत्रित कर यह अपने साधकों को प्रदान करती है। ब्रह्म विद्या संघ आचार नीति का एक विधान बनाकर अपने सदस्यों को संकीर्णता का जामा नहीं पहनाना चाहती, क्योंकि यह अपने अनुयायियों को साधारण स्तर से ऊँचे उठाने का प्रयास करती है, तथा इसके लिए उनके अंदर उच्च सकल्पों का भाव प्रसारित करती है। यह बुद्ध तथा ईसा के प्रभाव में सम्मिलित होने के लिए मूसा के नियमों को असंग रखकर छोड़ता है। ब्राह्य नियमों का बोझ न डालकर उनकी आंतरिक नियमितता को जागृत करना चाहती है। अपने अविकसित सदस्यों के प्रति निष्कासन और बहिष्कार की नीति को न अपना कर उनका सुधार करना ही अपना ध्येय समझती है। थियोसॉफी के द्वारा भौतिक और आध्यात्मिक जगत के बीच एक नवीन और दृढ सम्बंध स्थापित किया जाता है। यह वास्तव में एक धर्म विधि है। यह आन्तरिक और आध्यात्मिक कृपा का बाह्य तथा दृश्य चिह्न है जो मानव में ईश्वर के अस्तित्व का साक्षी है।

डा0 एनी बेसेण्ट ने थियोसॉफिस्ट होने के बाद अनेक धर्मो के ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन किया और निष्कर्ष स्वरूप धर्म के मुख्य तत्व इस प्रकार बताये -

1- एक अनादि , अनन्त, अगम्य, नित्य, सत्, परब्रह्म है।

2- उस सत्ता मे से व्यक्त ईश्वर का उद्भव होता है। यह ईश्वर एक से द्वैत भाव को और द्वैत से त्रिपुटी को या त्रिमूर्ति को प्राप्त होता है।

3- इस व्यक्त त्रिपुटी या त्रिमूर्ति मे से सृष्टि के व्यवस्थापक देवताओं की उत्पत्ति होती है।

4- मनुष्य व्यक्त ईश्वर का प्रतिबिम्ब है और इस कारण मूल मे वह भी त्रिमूर्ति रूप है। और उसकी अन्तरात्मा अनादि है और ईश्वर रूप है।

5- वासना के कारण मनुष्य को बारम्बार जन्म लेना पड़ता है और इस आवागमन के द्वारा उसका विकास होता है। ज्ञान और आत्मसमर्पण या स्वार्थ त्याग द्वारा वह इस आवागमन से मुक्ति पाता है, और तब उसका छिपा हुआ दिव्य स्वरूप प्रकट हो जाता है।

श्रीमती एनी बेसेण्ट के कथनानुसार 'ब्रह्म विद्या' सब धर्मो का मूल है। यह सब धर्मो का भीतरी गुह्य तत्व प्रकट करती है और धर्मो को विशुद्ध बनाती है। प्रत्येक धर्म में जो कुछ भी 'अपना' पाती है , उसे स्वीकार कर यह उस धर्म का रक्षण करती है और प्रत्येक धर्म के भीतरी रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न करती है। 'प्राचीन काल में जिस प्रकार ब्रह्म विद्या अथवा थियोसॉफी ने सब धर्मो को जन्म दिया, उसी प्रकार इस आधुनिक काल मे वह उन सबकी सत्यता को प्रकट कर उनका संरक्षण करती है। उसी थियोसॉफी रूपिणी शिला में से सब धर्म रूपी पत्थर गढ़े गये हैं। उनके द्वारा मानव हृदय की अन्तरतम आशाएं और गहन भावनाएं बुद्धि की न्यायसिद्ध प्रतीत होने लगती है और उसी के द्वारा हमारी श्रद्धा पुन: ईश्वर में सुन्दर रूप से प्रतिष्ठित हो जाती है।'[2]

अत हम कह सकते है कि श्रीमती एनी बेसेण्ट के धर्म सम्बधी विचार अत्यत विस्तृत दृष्टिकोण के परिचायक है। उन्होने विभिन्न धर्मो के तुलनात्मक अध्ययन से विभिन्न धर्मो मे निहित सार्वभौमिक सत्यो व नियमो मे एकरूपता बताई। धर्म के दो पक्षो (आन्तरिक एव बाह्य) के सन्दर्भ मे उनका मानना है कि सभी धर्मो के आन्तरिक भाग मे एक अखण्ड, अगम्य, नित्य परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने का अध्ययन किया जाता है। उन्होने ससार के सभी प्राचीन धर्मो से उद्धरण देते हुए अपने मत की पुष्टि की। धर्म का बाह्य पक्ष देश, काल व परिस्थिति के अनुसार भिन्न हो जाता है। लेकिन मनुष्य को चाहिए कि वह धर्म के सारतत्व को ग्रहण करे जो तत्व सार्वभौमिक , सौर्वलौकिक व सर्वदेशीय है। उनका यह भी विश्वास है कि 'थियोसाफी' ही सब धर्मो का मूल है अत उसका किसी धर्म से विरोध नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने स्वयं द्वारा संस्थापित विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा की अनिवार्यता पर जोर दिया। साथ ही साथ किसी एक धर्म की शिक्षा न देकर विभिन्न धर्मो के सार्वभौम सत्यों व सिद्धान्तो की शिक्षा दी जाने पर महत्व दिया। शिक्षा के विस्तृत पाठ्यक्रम में उन्होंने विभिन्न स्तरों पर दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा का पाठ्यक्रम निश्चित किया है तथा उसको कार्यान्वित भी किया है। वे धर्म के कोरे सिद्धान्तो में विश्वास नहीं करती हैं बल्कि सिद्धान्तों को व्यावहारिक बनाने की समर्थक हैं। इसी विचार ने उन्हें ईसाई मत परिवर्तन की ओर मोड़ा था। क्योंकि उन्होंने देखा कि जो व्यक्ति ईश्वरीय ज्ञान का उपदेशक है उसका व्यवहार इसके बिल्कुल विपरीत है। अत· उन्होंने धर्म की उन बातों को ही स्वीकारा जिनके सिद्धांत और व्यवहार में साम्यता दिखाई दी। इस दृष्टिकोण से वह भारतीय ब्रह्मण धर्म के प्रति विशेष आकृष्ट थीं। इसीलिए उन्होंने थियोसॉफिस्ट बनने के तीन-चार वर्ष बार सन् 1893 से भारत को ही अपनी मातृभूमि मानकर उसी के पुनरुत्थान में अपना जीवन समर्पित कर दिया। यहाँ रहने पर उन्होंने भारतीय धर्म , दर्शन, शास्त्रों व पुराणों का भी अध्ययन किया। तदोपरान्त उनके धार्मिक विचार अधिकांशत· सनातन धर्म को ही प्रतिध्वनित करते हुए प्रतीत हुए हैं। उन्होंने भारत के बारे में कहा था-

'अभी भी यही एक देश है जिसकी हवा में भी आध्यात्मिकता है, जिस देश

मे धार्मिक जीवन बिताना अन्य देशों की अपेक्षा ज्यादा आसान है। जिस दिन भारत से धर्म लुप्त हो जायेगा उसी दिन ससार से भी धर्म लुप्त हो जायेगा'।

*****
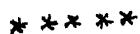
सन्दर्भ

1- जीवन की पहेली - एनी बेसेण्ट , पृ0 1

2- सनातम ज्ञान, एनी बेसेण्ट, पृ0 5

****

अध्याय- 6

स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनीबेसेण्ट के शैक्षिक आदर्श

****

स्वामी विवेकानंद

शैक्षिक आदर्श

यद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा पर कोई पृथक् ग्रथ नहीं लिखा जिससे उनके शिक्षा सम्बंधी विचार मालूम हो। परन्तु व्याख्यानों तथा अपने मित्रों व सहयोगियों को जो पत्र लिखे हैं उससे ही उनके शिक्षा सम्बंधी विचारों को एकत्र कर व्यवस्थित किया गया है।

'भारतीय शिक्षा की किसी समस्या को हल करने के लिए, सबसे पहले सामान्य शिक्षा कार्य का अनुभव होना आवश्यक है, और इसके लिए शिक्षार्थी की आँखों से ससार की ओर चाहे वह क्षण भर के लिए ही क्यों न हो- देखने रहना सबसे बड़ा और नितांत वांछनीय गुण है। शिक्षार्थी की आकांक्षाओं के विपरीत शिक्षा देना, भलाई की अपेक्षा दुष्परिणामों का निश्चित रूप से आह्वान करना है।' [1]

विवेकानन्द के उपर्युक्त विचार से यह आशय स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह प्रकृतिवादी दार्शनिकों के समान शिक्षा का केन्द्र बिन्दु बालक को स्वीकारते हैं। इन्होंने प्रकृतिवादियों के 'प्रकृति की ओर लौटो' नारे के स्थान पर 'वेदान्त की ओर लौटो' पर विशेष बल दिया। वैदिक और औपनिषदिक काल में जो शिष्य जिस योग्य होता था गुरु द्वारा उसको उसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। अतः शिक्षा के सम्बंध में पहली आवश्यक शर्त यह है कि शिक्षा शिक्षार्थी के दृष्टिकोण से उसकी योग्यता, क्षमता व आवश्यकतानुसार दी जाये। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा से क्या तात्पर्य है? इस पर पहले विचार कर लेना युक्ति संगत होगा।

शिक्षा का तत्व

विवेकानन्द के अनुसार, शिक्षा की व्याख्या शक्ति के विकास के रूप में की जा सकती है। उनका मानना है कि सभी ज्ञान मनुष्य मे स्वभाव सिद्ध है अर्थात् मनुष्य के अन्दर स्थित है सिर्फ उसके ज्ञान को बाहर प्रगट करने योग्य बनाना है। इसी को हम कहते हैं कि

मनुष्य सीखता है। विवेकानन्द कहते हैं कि मनुष्य जो कुछ सीखता है वह मानस शास्त्र सगत भाषा में 'आविष्कार' करता है, 'अनावृत्त' या 'प्रकट' करता है। 'आविष्कार का अर्थ है- मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञान स्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना। मानव में कुछ शक्तियाँ विद्यमान रहती है। शिक्षा उसकी इन्हीं शक्तियों का, उसमें उपस्थित गुणों का विकास करती है। पूर्णता बाहर से नहीं आती है, वरन् मनुष्य के भीतर छिपी रहती है। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त अपने प्रतिपादन के लिए न्यूटन की खोज की प्रतीक्षा नहीं कर रहा था। वह न्यूटन के मस्तिष्क में पहले से ही विद्यमान था। पेड़ से सेव का गिरना उस खोज के लिए सिर्फ प्रेरक मात्र था जिसे उसने अपने मन मे विचार की पुरानी कड़ियों को व्यवस्थित कर नई कड़ी को जोड़ा और उसे हम गुरुत्वाकर्षण का नियम कहते है।

इस प्रकार समस्त ज्ञान लौकिक व आध्यात्मिक मनुष्य के मन में है। यह आवरण द्वारा ढका हुआ है। जब यह आवरण धीरे-धीरे हटता जाता है तो व्यक्ति सीखता जाता है। जैसे जैसे इस आविष्करण की क्रिया बढ़ती जाती है वैसे वैसे मनुष्य के ज्ञान मे वृद्धि होती जाती है। जिस व्यक्ति के ऊपर से यह आवरण उठता जाता है वह अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक ज्ञानी होता जाता है। जिस व्यक्ति के ऊपर से यह आवरण पूर्णतः हट जाता है वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाता है। ज्ञान को एक रूपक द्वारा समझाया गया है। जैसे, चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि निहित रहती है उद्दीपक कारण घर्षण द्वारा उस अग्नि को प्रकाशित किया जाता है। इसी प्रकार सभी ज्ञान और शक्तियाँ मनुष्य के मन मे अवस्थित है, बाह्य वातावरण उस ज्ञानाग्नि को प्रकाशित कर देता है।

शिक्षा की यह व्याख्या अंग्रेजी के एजूकेशन शब्द की उस व्याख्या से मिलती जुलती प्रतीत होती है जिसमें 'एजूकेशन' शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के 'एजूकेटम' से मानी जाती है। इसके अनुसार 'एजूकेटम' 'ए' और 'डूको' दो शब्दों के योग से बना है। 'ए' का अर्थ अन्दर से और 'डूको' का अर्थ अंदर से बाहर लाना' है।

अत. हम कह सकते है कि विवेकानन्द ससार की तमाम सूचनाओं के संग्रह को शिक्षा नहीं मानते। उन्होंने तत्कालीन शिक्षा की जो कठोर निन्दा की उसका कारण भी यही था कि वह शिक्षा आन्तरिक शक्तियो के विकास की अपेक्षा बाह्य सूचनाओं को प्रदान करना ही शिक्षा का लक्ष्य मानती थी। विवेकानन्द के शब्दों में - 'शिक्षा विविध जानकारियों का ढेर नहीं है, जो तुम्हारे मस्तिष्क में ठूँस दिया गया है और जो आत्मसात् हुए बिना वहाँ आजन्म पडा रहकर गड़बड़ मंचाया करता है।[2]

विवेकानन्द दार्शनिक लॉक के इस कथन से सहमत नहीं थे कि बालक का मस्तिष्क स्वच्छ स्लेट की तरह होता है उस पर गुरु जो कुछ लिख देता है वही अकित रहता है। बल्कि इनका विचार इसके विपरीत प्रतीत होता है। 'वास्तव में कभी किसी व्यक्ति ने किसी दूरे को नहीं सिखाया। हममें से प्रत्येक को अपने आपको सिखाना होगा। बाहर के गुरु तो केवल सुझाव या प्रेरणा देने वाले कारण मात्र हैं, जो हमारे अंतःस्थ गुरु को सब विषयों का मर्म समझने के लिए उद्बोधित कर देते है।[3]

जैसे विशाल वट वृक्ष की सारी शक्ति राशि बीज में निबद्ध होती है वैसे ही मनुष्य की समस्त शक्ति उकी आत्मा में निहित होती है। **उसको जानना या इसका बोध होना ही शिक्षा कहलाती है।** यह अन्तस्थ दिव्य ज्योति बहुतेरे मनुष्यों में अवरुद्ध रहती है। वह लोहे की पेटी में बंद दीपक के समान है। जिसमें से थोड़ा सा भी प्रकाश बाहर नहीं आ सकता। पवित्रता और निःस्वार्थता के द्वारा इस अवरोधक की सघनता धीरे-धीरे झीनी होती जाती है और अंत में वह कॉच के समान पारदर्शक हो जाती है। गुरु का कार्य इस अवरोधक की सघनता को कम करना है।

आधुनिक दृष्टिकोण भी शिक्षा को विकास की प्रक्रिया मानता है। जैसा कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक एवं शिक्षा शास्त्री फ्रोबेल का विचार है- 'शिक्षा विकास की प्रक्रिया है जो भीतर से निश्चित होती है- ... बालक की अन्तर्निहित आध्यात्मिकता

को बाहर प्रकट करती है, वह उनके भीतर छिपी है जिसका सकेत बहुत थोडा ही चाहे मिले और यह अदर से बाहर की ओर विकसित होगी।'

फ्रोबेल ने बालक के लिए शिक्षा के महत्व की उपमा बीज और पेड से दी है। जैसे बीज अनुकूल वातावरण मिलने पर स्व विकास द्वारा वृक्ष का रूप धारण करता है ठीक उसी प्रकार बालक स्व विकास द्वारा मनुष्य बनता है। फ्रोबेल की तरह विवेकानन्द ने भी बालक के विकास की पौधे से उपमा दी है।

'तुम किसी बालक को शिक्षा देने मे उसी प्रकार असमर्थ हो, जैसे कि किसी पौधे को बढ़ाने मे। पौधा अपनी प्रकृति का विकास आप ही कर लेता है। बालक भी अपने आपको शिक्षित करता है। ..... तुम केवल बाधाओं को हटा सकते हो, और बस, ज्ञान अपने स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जाएगा।'[4]

विवेकानन्द के शब्दों में -'मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।'[5] यह विचार वेदान्ती दर्शन को आधार मानने के फलस्वरूप प्रकट हुए है जिसमे यह स्वीकारा गया है कि मानव मे ईश्वरीय पूर्णता विद्यमान होती है यह पूर्णता चिरकाल से हमारे भीतर उपस्थित है, यह प्रत्येक व्यक्ति का जन्म स्वत्व है। इसी जन्म स्वत्व की अभिव्यक्ति करना ही शिक्षा है। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते है कि शिक्षा व्यक्ति में स्थित पूर्णता का ज्ञान और अनुभूति है। लौकिक व आध्यात्मिक समस्त ज्ञान मनुष्य के भीतर होता है। परन्तु मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति पूर्णरूप से सचेत नहीं रहता है। इस कारण वह अपना आध्यात्मिक परिचय आत्मा जो सत्, चित् और आनन्द है, से नहीं कर पाता। **जिस क्रिया द्वारा व्यक्ति में पूर्णता का ज्ञान होता है और पूर्णता की अभिव्यक्ति होती है वही वास्तव में शिक्षा है।** आधुनिक शिक्षा की व्याख्या और विवेकानन्द की शिक्षा की व्याख्या में अन्तर केवल इतना ही है कि स्वामी जी ने आध्यात्मिक तत्व पर विशेष बल दिया है उनका विश्वास है कि शिक्षा द्वारा आत्म विश्वास आता है और आत्म विश्वास से छिपे हुए 'ब्रह्मन' की जागृति होती है।

'समस्त ज्ञान मनुष्य के अन्तर मे अवस्थित है, उसे केवल जागृति- केवल प्रबोधन की आवश्यकता है। हमे बालकों के लिए केवल इतना ही करना है कि वे अपने हाथ,पैर, कान और आँखों के उचित उपयोग के लिए अपनी बुद्धि का प्रयोग करना सीखें।[36]

बालको के स्वाभाविक विकास हेतु यह आवश्यक है कि 'हम उन पर अनुचित दबाव नहीं डालें और निषेधात्मक की अपेक्षा विधेयात्मक विचार प्रस्तुत करे। क्योंकि निषेधात्मक विचार सदा लोगो को दुर्बल बना देते है। जो माता-पिता सदा अपने बच्चों से पढ़ने लिखने के लिए पीछे लगे रहते हैं और कहा करते है कि तुम कभी कुछ सीख नहीं सकते, तुम गधे बने रहोगे- वहाँ बालक यथार्थ में वैसे ही हो जाते हैं। यदि हम उनसे सहानुभूति पूर्वक बातें करें और उन्हें उत्साहित करे तो समय पाकर उनकी उन्नति होना निश्चित है।

शिक्षा के उद्देश्य:

विवेकानन्द अपने समय की प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की कड़ी आलोचना की तथा कहा कि यह शिक्षा भारतीयों को अपनी संस्कृति के विपरीत बनाती है। विश्वविद्यालय की शिक्षा प्रणाली के सम्बंध में उनका विचार था कि यह बाबू पैदा करने मशीन के सिवाए कुछ नहीं है। अगर इतना ही होता तब भी ठीक था पर नहीं- इस शिक्षा से लोग जिस प्रकार श्रद्धा और विश्वास रहित होते जा रहे हैं। अतः उनके अनुसार शिक्षा का प्रथम व सर्वोपरि उद्देश्य छात्रों में देश प्रेम की भावना का समावेश करना होना चाहिए। स्वामी जी के अनुसार शिक्षा के अन्य उद्देश्य इस प्रकार हैं:-

(1) शिक्षा का प्रथम लक्ष्य व्यक्ति की आन्तरिक पूर्णता को बाह्य जगत में प्रकट करना है जिससे वह अपने आपको भली भाँति समझे। अपने आपको समझने

का अर्थ है मनुष्य की आत्मा का उस परमात्मा से, जिसका वह अश है, पूर्ण सम्बध स्थापित करना। ऐसे ही विचार फ्रोबेल के भी दृष्टिगत होते है। इनके अनुसार शिक्षा का लक्ष्य बालक को यह अनुभूति कराना है कि उसके भीतर ईश्वर है। इस प्रकार हम कह सकते है कि शिक्षा का प्रथम उद्देश्य आध्यात्मिक विकास है।

(2) शिक्षा का दूसरा उद्देश्य मानव निर्माण है। इसे धर्म शिक्षा का लक्ष्य कहा जाता है। व्यक्ति मे मनुष्यत्व को लाना धर्म का कार्य है। यह मनुष्यत्व क्या है? मनुष्य द्वारा उन लौकिक एव अलौकिक गुणों का धारण करना है जिससे वह दिव्य पुरुष बनता है। ये सद्गुण है आत्म विश्वास, आत्म श्रद्धा, आत्म-त्याग, आत्म-नियत्रण, आत्म निर्भरता, मानच-प्रेम आदि। विवेकानन्द के शब्दों मे-

'सभी प्रकार की शिक्षा और अभ्यास का उद्देश्य मनुष्य निर्माण ही हो। सारे प्रशिक्षणों का अंतिम ध्येय मनुष्य का विकास करना ही है।'[7]

आत्म विश्वास महानता का रहस्य है । इससे व्यक्ति मे श्रद्धा भाव जागृत होता है तथा वह क्रियाशील बनता है। श्रद्धा के लिए आत्म त्याग, आत्म नियंत्रण एवं आत्म निर्भरता की आवश्यकता होती है। इससे व्यक्ति भौतिक सुख के साथ साथ आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति करता है। आत्म विश्वास की महत्ता स्वामी विवेकानन्द ने इस प्रकार व्याख्यादित की है-

'जो अपने आप में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। प्राचीन धर्मो में कहा है, वह नास्तिक है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। नया धर्म कहता है वह नास्तिक है जो अपने आप में विश्वास नही करता। ....विश्वास, विश्वास अपने आप में विश्वास, ईश्वर में विश्वास यही महानता का रहस्य है। यदि तुम पुराण के तैंतीस करोड़ देवताओं और विदेशियों द्वारा बतलाए हुए सब देवताओं में भी विश्वास करते हो, पर यदि अपने आप मे विश्वास नहीं करते, तो तुम्हारी मुक्ति नहीं हो

सकती। अपने आप मे विश्वास करो, उस पर स्थिर रहो और शक्तिशाली बनो।[18]

आधुनिक शिक्षा के उद्देश्य मे जिसे हम चारित्रिक विकास के नाम से अभिहित करते है उसे ही विवेकानन्द ने मानव निर्माण का उद्देश्य कहा है। इसके अन्तर्गत धार्मिक, नैतिक व चारित्रिक विकास आता है। विवेकानन्द ने विभिन्न प्रवृत्तियों की समष्टि तथा मन के समस्त झुकावों के योग को चरित्र कहा है। सुख और दु ख दोनों ही अपनी छाप या ससार छोड जाते है और इन सब विभिन्न छापों की समष्टि ही मनुष्य का चरित्र कहलाता है। अच्छे चरित्र के लिए विचार, अभ्यास तथा इच्छा शक्ति का होना आवश्यक है। चरित्र गठन में विचारों की अह भूमिका होती है। अत मनुष्य विचारों के सम्बंध में सावधान रहे। विचार सजीव होते हैं, उनकी दौड़ बहुत दूर तक हुआ करती है। अत व्यक्ति सद् विचार करे तदनुरूप सत्कर्म करे उससे अच्छे चरित्र का निर्माण होगा। विवेकानन्द ने विचार की महिमा इस प्रकार बताई है-

'जब मनुष्य इतने सत्कार्य एवं सत् चिंतन कर चुकता है कि उसकी इच्छा न होते हुए भी उसमें सत्कार्य करने की एक अनिवार्य प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, तब फिर यदि वह दुष्कर्म भी करना चाहे, तो इन सब संस्कारों का समष्टिरूप उसका मन उसे वैसा करने से की एक अनिवार्य प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, तब फिर यदि वह दुष्कर्म भी करना चाहे तो इन सब संस्कारों का समष्टिरूप उसका मन उसे वैसर करने से तुरंत रोक देगा।..... जब ऐसी स्थिति आ जाती है, तभी उस मनुष्य का चरित्र गठित या प्रतिष्ठित कहलाता है।'[52]

शिक्षा का उद्देश्य ऐसे चरित्र का गठन होना चाहिए जो सदैव और सभी अवस्थाओं में महान रहे।

मनुष्य का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक अंग-संचालन, प्रत्येक विचार उसके चित्त पर एक प्रकार का संस्कार छोड़ जाता है और मनुष्य का चरित्र इन संस्कारों के समुदाय

द्वारा ही नियमित होता है। यदि शुभ सस्कारो का प्राबल्य रहता है तो मनुष्य का चरित्र अच्छा होता है, और यदि अशुभ सस्कारों का , तो बुरा। मन मे इस प्रकार के बहुत से सस्कार पड़ने पर वे इकट्ठे होकर आदत या अभ्यास के रूप में परिणत हो जाते है। कहा भी गया है कि आदत द्वितीय स्वभाव है। परन्तु विवेकानन्द आदत को प्रथम स्वभाव मानते हैं। वे यह मानते हैं कि मनुष्य का अभी जो स्वभाव है, वह पूर्व अभ्यास का फल है। यही कारण है कि विवेकानन्द वर्तमान खराब स्वभाव को अच्छी आदतों द्वारा दूर करने का सुझाव देते हुए कहते हैं-

'बुरी आदत का एकमात्र प्रकार है- उसकी विपरीत आदत। . .. ऐसा कभी मत कहो कि अमुक व्यक्ति गया बीता है, उसके सुधरने की आशा नहीं की जा सकती। क्यों? इसलिए कि वह व्यकित केवल एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र का - कुछ अभ्यासों की समष्टि का द्योतक मात्र है, और ये अभ्यास नये एवं अच्छे अभ्यास से दूर किए जा सकते हैं। चरित्र बस पुन पुन· अभ्यास की समष्टि मात्र है और इस प्रकार का पुन पुन अभ्यास ही चरित्र का पुनर्गठन कर सकता है।'[10]

चरित्र गठन की तीसरी आवश्यक बात है इच्छाशक्ति। आधुनिक क्रम विकास वादी भी क्रम विकास का कारण इच्छा ही बतलाते हैं। इनका मानना है कि जीवधारी कुछ करना चाहता है, परन्तु परिस्थिति मे अनुकूल नहीं पाता, इसलिए नए शरीर का निर्माण कर लेता है। इसी प्रकार विवेकानन्द भी इच्छाशक्ति को सर्वशक्तिमान् मानते हैं और कहते हैं-

'क्या तुम उसकी सर्वशक्तिमत्ता को अस्वीकार कर सकते हो ? जिसने तुम्हें इतने ऊँचे तक उठाया, वह तुम्हें ओर भी ऊँचा ले जा सकती है। आवश्यकता है चारित्र्य की, इच्छा शक्ति के सबल बनाने की।'[11]

अतः प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने चरित्र का निर्माण करे। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को इस योग्य बनाने के लिए प्रेरित करना है।

(3) शिक्षा का तृतीय उद्देश्य मानव एव समाज सेवा है। यदि मनुष्य अनेक सद्गुणों युक्त है परन्तु उसने उन गुणों को कार्यरूप मे परिणित नहीं किया है तो वैसे ही व्यर्थ है जैसे पुस्तको मे निहित महान सत्य। अत मानव सेवा द्वारा व्यक्ति अपने सद्गुणों का उपयोग करेगा। वर्तमान शिक्षा मे कोठारी आयोग द्वारा शिक्षा के उद्देश्य मे जिसे कार्यानुभव की संज्ञा दी गयी है वह विवेकानन्द के मानव सेवा या समाज सेवा का ही रूप है। मानव सेवा से व्यक्ति कैसे समाज सेवा करता है? इसका उत्तर स्वामी जी ने इस प्रकार दिया है। स्वामी जी के विचार मे प्रत्येक मनुष्य के भीतर ईश्वर है, सारे प्राणी ब्रह्म के अश रूप है।

इस प्रकार प्राणी की सेवा द्वारा व्यक्ति समाज और ईश्वर की सेवा करता है। इस तरह व्यक्ति का दृष्टिकोण आत्म सुख की अपेक्षा सामाजिक सुख होता है। यह गुण लोकतांत्रिक देश के लिए परम आवश्यक है। जॉन डीवी ने इस उद्देश्य को सामाजिक कुशलता का उद्देश्य कहा है। जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों पर देखा है कि स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों का आधार वेदान्त दर्शन है अत. इनके प्रत्येक विचार और कथन का आधार भी वेदान्त है। आधुनिक विचारक सामाजिक भावना को महत्व देते हैं तो स्वामी जी विश्व चेतना और विश्व बंधुत्व की भावना के विकास पर महत्व देते हैं। इस भावना का आधार उनके ही शब्दों में-

'क्या तुम नहीं जानते कि प्रत्येक आत्मा ईश्वर का ही स्वरूप है? हर एक को भगवत् स्वरूप समझो। तुम केवल सेवा कर सकते हो। प्रभु की संतानों की सेवा करो- जब कभी तुम्हे अवसर मिले। यदि प्रभु की इच्छा से तुम उनकी किसी संतान की सेवा कर सको तो सचमुच तुम धन्य हो।.... उस कार्य को पूजा ही की भावना से करो।'[12]

यही कारण है कि स्वामी जी ने रामकृष्ण संघ का आदर्श भी 'आत्मनो मोक्षार्थम् जगद्धिताय च' रक्खा है। वे व्यक्ति में छिपी दिव्यता का प्रकाशन सेवा रूप में करने

के पक्षपाती है। वे इस बात को भली भाँति समझते थे कि व्यक्ति के उचित विकास के लिए समाज और व्यक्ति दोनों का उचित विकास जरूरी है।

‡4‡ शिक्षा का चतुर्थ लक्ष्य शारीरिक विकास बताया है। उन्होंने बलिष्ठ शरीर की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा-

'आज हमारे देश को जिस चीज की आवश्यकता है, वह है लोहे की मांसपेशियाँ और फौलाद के स्नायु- दुर्दमनीय प्रचण्ड इच्छा शक्ति, जो सृष्टि के गुप्त तथ्यों और रहस्यो को भेद सके और जिस उपाय से भी हो अपने उद्देश्य की पूर्ति करने मे समर्थ हो। . . . हम 'मनुष्य' बनाने वाला सिद्धान्त ही चाहते हैं। हम सर्वत्र, सभी क्षेत्रों मे 'मनुष्य' बनाने वाली शिक्षा ही चाहते है।'[13]

स्वामी विवेकानन्द का मानना है कि हमारे दु खों के एक तृतीयांश का कारण है- शारीरिक दुर्बलता। हम आलसी है, हम मिलकर काम नहीं कर सकते। हम रट्टू तोते की भाँति बातों को रटते रहते है उनके अनुसार कार्य नहीं करते। मुख से कह देना और आचरण मे न लाना ही हमारा स्वभाव बन गया है। कारण है शारीरिक दुर्बलता। दुर्बल मस्तिष्क से कोई कार्य नहीं हो सकता। हमें उसे सबल बनाना होगा। सबल बनाने के लिए स्वामी जी ने इन शब्दों में आह्वान किया -

'मेरे नवयुवक मित्रों ! बलवान बनो। तुमको मेरी यही सलाह है। गीता के अभ्यास की अपेक्षा फुटबाल खेलने के द्वारा तुम स्वर्ग के अधिक निकट पहुँच जाओगे। तुम्हारी कलाई ओर भुजाएं अधिक मजबूत होने पर तुम गीता को अधिक अच्छी तरह समझोगे। तुम्हारे रक्त में शक्ति की मात्रा बढ़ने पर तुम श्री कृष्ण की महान प्रतिभा और अपार शक्ति को अधिक अच्छी तरह समझने लगोगे। तुम जब अपने पैरों पर दृढता के साथ खड़े होगे और तुमको जब प्रतीत होगा कि हम भी मनुष्य हैं, तब तुम उपनिषदों को और भी अच्छी तरह समझोगे और आत्मा की महिमा जान सकोगे।'[14]

शारीरिक ह्रष्ट-पुष्टता को आवश्यक मानते हुए स्वामी जी ऐसी शिक्षा प्रदान करने के पक्षधर थे जिससे शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता दूर हो। और मनुष्य बलशाली बने। क्योंकि उनके अनुसार-

'बल पुण्य है और दुर्बलता पाप। सभी पापों और सभी बुराइयो के लिए एक ही शब्द पर्याप्त है और वह है- 'दुर्बलता'। दुर्बलता ही सारे दुष्कर्मो की प्रेरक शक्ति है। दुर्बलता ही समस्त स्वार्थीपन की जड है।'[15]

अपने बाल्यकाल मे भी स्वामी जी शारीरिक विकास के प्रति सचेत दिखाई देते है। शारीरिक व्यायाम तथा खेलकूद उनकी दिन चर्या के आवश्यक अग थे। उनका वलिष्ठ शरीर उनके कथन की पुष्टि करता है।

(5) शिक्षा का पचम लक्ष्य आर्थिक लाभ है। जो शिक्षा जन समुदाय को जीवन सग्राम के उपयुक्त नहीं बनाती, उनमे चारित्र्य शवित का विकास नहीं करती, जो उनमें भूत दया का भाव और सिंह का सा साहस पैदा नहीं करती वह शिक्षा कहलाने योग्य नहीं है।

शिक्षा ऐसी होनी चाहिए , जिससे चरित्र बने, मानसिक बल बढ़े , बुद्धि का विकास हो और जिससे मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सके। विवेकानन्द ने इस बात पर अफशोष प्रगट किया कि अक्षय अन्न के भण्डार भारतवर्ष मे करोड़ों व्यक्ति भूख से करुण पुकार कर रहे है। कारण उचित शिक्षा का अभाव। अंग्रेजी शिक्षा से कुछ इने गिने लोग बाबू, मुंशी , वकली या अधिक से अधिक डिप्टी मैजिस्ट्रेट ही बन सकते हैं। भारत की अधिकांश जनता को इस शिक्षा से कोई लाभ नहीं। वे भूख से पीड़ित जन समुदाय की निर्वाह योग्य शिक्षा की बात सोच ही नहीं सकते। अतः शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य यह भी है कि वह व्यक्ति को इस योग्य बनाये जिससे वह भौतिक सुखों को प्राप्त करता हुआ आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर सके। विवेकानन्द के गुरु स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी भी प्राय: अपने शिष्यों से कहा करते थे कि

भूखे पेट भजन या आराधना नहीं होती। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम विदेशी अधिकार से स्वतत्र रहकर अपने निजी ज्ञान भण्डार की विभिन्न शाखाओं का तथा उसके साथ ही अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान का अध्ययन करे। यांत्रिक और उद्योग धंधों की शिक्षा के लिए अग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक है। देश के आर्थिक विकास के लिए औद्योगिक शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा दी जाने के वे हिमायती है। वे चाहते थे कि व्यक्ति नौकरी के पीछे भागने की अपेक्षा स्वरोजगार की ओर उन्मुख हो। अत शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों को उनकी योग्यता व आवश्यकताओं के अनुरुप व्यवसायिक शिक्षा प्रदान करना होना चाहिए। इससे व्यक्ति आत्म निर्भर बनेगा। फलस्वरूप देश का भी आर्थिक व औद्योगिक विकास होगा। विवेकानन्द के शब्दो में-

'हमे यांत्रिक और ऐसी सभी शिक्षाओं की आवश्यकता है, जिनसे उद्योग धधो की वृद्धि और विकास हो, जिससे मनुष्य नौकरी के लिए मारा मारा फिरने के बदले अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त कमाई कर सके और आपात काल के लिए संचय भी कर सके।'[16]

(6) शिक्षा का अंतिम लक्ष्य व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए। विवेकानन्द का मानना है कि किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रभाव उसके विचार व कार्य से अधिक पड़ता है। अत: शिक्षा तथा समस्त अध्ययन का एकमेव उद्देश्य होना चाहिए व्यक्तित्व का गढ़न। उनके शब्दों में-

'जैसा मैं कह चका हूँ, व्यक्तित्व दो तृतीयांश होता है, और शेष एक तृतीयांश होता है - मनुष्य की बुद्धि और उसके कहे हुए शब्द। सच्चा मनुष्यत्व या उसका व्यक्तित्व ही वह वस्तु है, जो हम पर प्रभाव डालती है। हमारे कर्म हमारे व्यक्तित्व की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र हैं। प्रभावी व्यक्तित्व कर्म के रूप में प्रकट होगा ही कारण के रहते हुए कार्य का आविर्भाव अवश्यम्भावी है।[17]

अत शिक्षा का उद्देश्य अच्छे एव प्रभावी व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए। उन्होंने मनुष्य जाति के अनेक बड़े-बडे नेताओं के व्यक्तित्व की स्मृति दिलाते हुए बताया कि यद्यपि नेताओं ने कोई नये एव स्वतंत्र विचार हमे नहीं दिए है परन्तु फिर भी वे अपने समय मे बहुत बड़े माने जाते थे। कारण उनका व्यक्तित्व। इन्होंने दार्शनिकों एवं धर्माचार्यो के व्यक्तित्व की तुलना करते हुए स्पष्ट किया कि यद्यपि दार्शनिकों ने बड़ी आश्चर्यजनक पुस्तके लिखी है, उच्च विचार प्रस्तुत किए हैं परन्तु उनके व्यक्तित्व ने शायद ही किसी अन्तर्मानव या व्यक्तित्व को प्रभावित किया हो। इसके विपरीत महान धर्माचार्यों ने अपने अपने समय में सारे देश को हिला दिया जैसे, ईसा, बुद्ध , मुहम्मद , महावीर, नानक, गुरुवर रामकृष्ण आदि। दार्शनिकों के व्यक्तित्व का असर किंचिन्मात्र होता है जो बुद्धि पर असर करता है और धर्म संस्थापकों का व्यक्तित्व प्रचण्ड व जीवन पर प्रभाव डालता है। इन दोनों के प्रभाव को विवेकानन्द ने इन शब्दों में वर्णित किया है-

'पहला मानों केवल एक रासायनिक क्रिया है, जिसके द्वारा कुछ रासायनिक उपादान एकत्र होकर आपस में धीरे धीरे संयुक्त हो जाते हैं और अनुकूल परिस्थिति होने से या तो उनमे से प्रकाश की दीप्ति प्रकट होती है या वे असफल ही हो जाते है। दूसरा एक जलती हुई मशाल के सदृश है, जो शीघ्र ही एक के बाद दूसरे को प्रज्वलित करता जाता है।'[18]

व्यक्तित्व के प्रभाव से हम सभी परिचित हैं। हम अपने जीवन में देखते हैं कि किसी किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली होता है कि वह हजारों लोगो पर अपनी छाप या असर डाल देता है। महात्मा गांधी को ही लीजिए। यद्यपि उनके विचार व कार्य साधारण ही थे परन्तु उनका व्यक्तित्व ऐसा था जिसने करोड़ों लोगों को आकर्षित किया। अत शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य को पूर्ण विकसित बनाना है और पूर्ण विकसित व्यक्तित्व ही दूसरों को प्रभावित कर सकता है।

इस प्रकार विवेकानन्द शिक्षा को मानव प्रगति का एक बहुत बड़ा साधन मानते थे। वे शिक्षा पद्धति मे सर्वांगीण पुनरुद्धार चाहते थे जिससे वह निष्ठावान मानव निर्माण और चरित्र निर्माणकारी पद्धति बन सके। जिससे राष्ट्रीय सम्पदा में गौरव भावना, जनसाधारण के प्रति प्रेम, आत्म विश्वास, बल और सकल्प शक्ति को अधिक महत्व दिया जाय।

पाठ्यक्रम

यद्यपि शिक्षा के पाठ्यक्रम के सम्बध मे प्रत्यक्ष रूप से स्वामी जी ने कोई विस्तृत रूप रेखा तो प्रस्तुत नही की। परन्तु अपने सुहृदजनों को पत्रों मे यदा कदा जो कुछ लिखा है तथा भारत वासियों को जो व्याख्यान दिए है उसके आधार पर यह कहा जा सक्ता है कि विवेकानन्द ने शिक्षा के उपरोक्त लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु लौकिक व आध्यात्मिक पाठ्यक्रम सुझाया। शारीरिक विकास, आर्थिक लाभ तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए लौकिक पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया जिसके अन्तर्गत भाषा (संस्कृत, मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा , अग्रेजी), विज्ञान, मनोविज्ञान, गृह विज्ञान, तकनीकी शास्त्र (कल यंत्रों की शिक्षा, उद्योग कौशल, कला (संगीत, अभिनय तथा चित्रण) कृषि, व्यवसायों की शिक्षा, इतिहास, भूगोल, गणित, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, खेलकूद व्यायाम, समाज एव राष्ट्रसेवा को स्थान दिया। वह यह अच्छी प्रकार समझते थे कि पहले व्यक्ति की शारीरिक भूख को तृप्त करना होगा तब आध्यात्मिक तृष्णा को। अत पाठ्यक्रम ऐसा हो जिससे प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता व इच्छानुसार शक्तियों के उचित विकास का अवसर प्राप्त हो। सभी के लिए एक सा पाठ्यक्रम उचित नहीं है। कृषि व्यवसाय मे संलग्न लोगो को उनके व्यवसाय की तथा अन्य लोगों को उनके रूचि के व्यवसायों की शिक्षा दी जानी चाहिए। आत्म निर्भर होने के लिए विभिन्न उद्योगों की शिक्षा को पाठ्यक्रम में यथेष्ट स्थान दिया जाए। वैदिक संस्कृति व ज्ञान को जानने के लिए उन्होंने संस्कृत भाषा की अनिवार्यता पर जोर दिया। उनका मानना था कि सस्कृत शब्दों की ध्वनि मात्र से हमारी जाति को प्रतिष्ठा, बल और शक्ति प्राप्त होती है। जनसाधारण को उनकी निजी भाषा में शिक्षा देने के वह पक्षधर हैं परन्तु साथ ही साथ संस्कृत शिक्षा भी दी जाये ऐसा उनका मानना था। आध्यात्मिक सत्यों को जानने के लिए भी संस्कृत का ज्ञान आवश्यक बताया। क्योंकि सभी आध्यात्मिक तथ्य संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध हैं। बालकों को पहले कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों के उचित प्रयोग का प्रशिक्षण दिया जाए। तब धीरे धीरे योग का अभ्यास कराया जाए। आध्यात्मिक ज्ञान हेतु धर्म, दर्शन, पुराण, उपदेश, श्रवण, भजन और साधु संगति आवश्यक बताई। स्वामी जी का कहना है कि जीवन को परम लक्ष्य को इसी संसार में निवास करके

और इसी शरीर के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। अत शिक्षा के पाठ्यक्रम मे लौकिक व आध्यात्मिक विषयो का होना नितात आवश्यक है। स्वामी जी के शब्दों मे-

'हमे अपने ज्ञान के विभिन्न अगों के साथ साथ अग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान का अध्ययन करने की आवश्यकता है। हमे प्राविधिक शिक्षा और उन सब विषयों का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है, जिनसे हमारे देश के उद्योगों का विकास हो और मनुष्य नौकरियाँ खोजने के बजाए अपने स्वयं के लिए पर्याप्त धन का अर्जन कर सके और दुर्दिन के लिए कुछ बचा भी सके।' [15]

पाठ्यक्रम के सम्बंध मे स्वामी जी के विचार सविस्तार संग्रहित तो नहीं मिलते हैं, यत्र तत्र संकेत स्वरूप हैं। उन्होंने यह नहीं बताया कि विभिन्न आयु वर्ग के छात्रों को क्या क्या और कितना पढ़ाया जाये।

शिक्षण विधि

शिक्षण विधि के सम्बध मे स्वामी विवेकानन्द ने धर्म को आधार मानते हुए आध्यात्मिक विधियों को स्थान दिया है। उनके अनुसार शिक्षा की एकमेव विधि है एकाग्रता। इसके अतिरिक्त योग विधि, तर्क विधि, व्याख्यान विधि, उपदेश विधि, अनुकरण विधि, व्यक्तिगत निर्देशन एवं परामर्श की विधि, साधु सगति, भ्रमण, क्रिया व अन्य व्यवहारिक विधियो का समर्थन किया है। स्वामी जी के अनुसार समर्थित शिक्षण विधियाँ इस प्रकार है:-

(1) केन्द्रीयकरण विधि:

यह विधि आन्तरिक अथवा आत्मिक सत्यों की खोज की विधि है। इस विधि मे निदिध्यासन का आधार लेकर व्यक्ति को अपने मन को एकाग्र अथवा केन्द्रित करना पडता है। एकाग्रता की शक्ति जितनी अधिक होती है, ज्ञान की प्राप्ति भी उतनी अधिक होती है। विवेकानन्द ने एकाग्रता को ज्ञान प्राप्ति का मूल मत्र मानते हुए कहा है-

'ज्ञान प्राप्ति के लिए केवल एक ही मार्ग है और वह है एकाग्रता। मन की एकाग्रता ही शिक्षा का सम्पूर्ण सार है। ज्ञानार्जन के लिए निम्नतम श्रेणी के मनुष्य से लेकर उच्चतम योगी तक को इसी एक मार्ग का अवलम्बन करना पड़ता है।'[20]

एकाग्रता की शक्ति द्वारा रासायनिक प्रयोगशाला मे तत्वों को विश्लेषित करता है। ज्योतिषी इसी शक्ति के बल से नक्षत्रों की गतिविधियों का पता लगाते हैं। रसोइया एकाग्रचित्त होने से अधिक अच्छा भोजन पकाता है। संगीतज्ञ तो एकाग्रता के बिना एक स्वर भी नहीं गा या बजा सकता। धनोपार्जन हो या ईश्वर भजन बिना एकाग्रता के कोई कार्य सम्भव ही नहीं है। यही एक खटखटाहट है, यही एक आघात है, जो प्रकृति के द्वारों को खुला कर देता है और ज्ञानरूपी प्रकाश को बाहर फैलाता है। विवेकानन्द के विचार में-

'किसी भी प्रकार के कार्य की सफलता इसी पर निर्भर करती है। कला, सगीत आदि में अत्युच्च प्रवीणता इसी एकाग्रता का फल है। जब मन को एकाग्र करके उसे अपने ही ऊपर लगाया जाता है, तब हमारे भीतर के सभी हमारे नौकर बन जाते है, मालिक नहीं रह जाते। ... यूनानियो ने इसके फलस्वरूप कला, साहित्य में पूर्णता प्राप्त की। हिन्दुओं ने चित्त को एकाग्र करके योगशास्त्र की उन्नति की।'[21]

विवेकानन्द ने यह स्वीकारा है कि साधारण मनुष्य नब्बे प्रतिशत विचार शक्ति को व्यर्थ खो देता है इसी कारण वह सदा बड़ी बड़ी भूलें किया करता है। यदि वह अपनी इस विचारशक्ति अर्थात एकाग्रता की शक्ति का सदुपयोग करे तो बड़े से बड़े कार्य कर सकता है। उन्होने मनुष्यों और पशुओ मे मुख्य भेद का कारण चित्त की एकाग्रता शक्ति बताया। पशुओं मे एकाग्रता की शक्ति बहुत कम होती है। पशु अपना मन अधिक समय तक किसी बात पर स्थिर नहीं रख सकता है। अतः मनुष्य अपने को पशुओं से श्रेष्ठ समझते हुए इस शक्ति का अधिक से अधिक प्रयोग करे। आज हमारा मन अनेकों परेशारियों से विक्षिप्त हो रहा है। हम अपने मन को किसी एक विषय पर स्थिर नहीं कर पाते हैं। मस्तिष्क में सैकड़ों अवांछित भावनाएं दौड़ने लगती है, हजारों चिन्ताएं मन मे एक साथ आकर मन को चंचल कर देती हैं। इन सबको नियंत्रित करने की एकमात्र विधि है एकाग्रता। विवेकानन्द ने तो इस विधि की महत्ता को इन शब्दों में संजोया है-

'मैं तो मन की एकाग्रता को ही शिक्षा का यथार्थ सार समझता हूँ- ज्ञातव्य विषयों के संग्रह को नहीं। यदि मुझे एक बार फिर से अपनी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिले, तो मैं विषयों का अध्ययन नहीं करूँगा। मैं तो एकाग्रता की और मन को विषय से अलग कर लेने की शक्ति को बढ़ाऊँगा, और तब साधन या यंत्र की पूर्णता प्राप्त हो जाने पर इच्छानुसार विषयों का संग्रह करूँगा।'[22]

उन्होंने केन्द्रीकरण की विधि के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक बताया। बारह वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने से प्रबल बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति

उत्पन्न होती है। वासनाओ को वश मे कर लेने से उत्कृष्ट फल प्राप्त होते है। जिस प्रकार जल का शक्तिशाली प्रवाह ही द्रवचालित खनन यत्र को चला सकता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य द्वारा मानवजाति पर अद्भुत प्रभुता प्राप्त की जा सकती है। आध्यात्मिक नेतागण ब्रह्मचर्य द्वारा बड़े से बडे कार्य कर सके हैं। इसके प्रमाण हमारे इतिहास मे दृष्टिगत हैं। यथा जगद्गुरू शकराचार्य, गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस आदि।

ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने से बालक में श्रद्धा और विश्वास की उत्पत्ति होती है और इसी आत्म विश्वास रूपी प्रेरणा शक्ति से मनुष्य सभ्यता की ऊँची से ऊँची सीढ़ी पर चढ़ सकता है। अत एकाग्रता के लिए ब्रह्मचर्य परमावश्यक है। और ब्रह्मचारी को सदैव तथा सभी अवस्थाओ मे मन, वचन और कर्म से पवित्र रहना होगा। तभी सच्ची एकाग्र शक्ति का उदय होगा।

(2) स्वामी विवेकानन्द ने अन्य विधियो में **व्याख्यान विधि** द्वारा शिक्षा का समर्थन किया। शिक्षा से उनका विचार गुरु -गृहवास से था। अत· गुरुकुल मे अध्यापक को उपदेश विधि द्वारा नित्य शिक्षा देना चाहिए। इस उपदेश विधि के साथ साथ अन्य विधियों का भी प्रयोग किया जाना चाहिए ऐसा विवेकानन्द का मानना था। उपदेश के बाद छात्रों को विचार विमर्श करने का अवसर दिया जाए। वे तर्क वितर्क द्वारा अपनी शंका का समाधान करे और इस प्रकार सत्यों व रहस्यों की जानकारी प्राप्त करें। इस विधि के प्रमाण हमे विवेकानन्द द्वारा अमेरिका, इंग्लैण्ड व यूरोप के विविध केन्द्रों पर ली जाने वाली कक्षा से मिलते हैं। वे उपदेश देने के बाद श्रोताओं तथा शिष्यों को तर्क व विचार विमर्श का अवसर देते थे। इससे शिष्यों की शंकाओं का समाधान हो जाता था।

(3) गुरु गृह वास में उपदेश विधि के साथ साथ **अनुकरण विधि** का भी महत्व होता है। क्योंकि छात्र पूरे समय गुरु के सम्पर्क में रहता है अतः अध्यापक के व्यक्तिगत जीवन का प्रभाव भी उस पर पड़ता है। इसलिए यह आवश्यक है कि शिष्य को बाल्यावस्था

से ऐसे गुरु के सम्पर्क मे रहना चाहिए जिसका चरित्र अनुकरणीय हो। गुरु जो उपदेश दे उसका वह स्वय भी पालन कर्ता हो। अन्य जो सद्गुण छात्रों को बताये वह उनसे युक्त हो। विवेकानन्द की वाणी मे-

'शिक्षक अथवा गुरु के व्यक्तिगत जीवन के बिना कोई शिक्षा नहीं हो सकती। शिष्य को बल्यावस्था से ऐसे व्यक्ति (गुरु) के साथ रहना चाहिए, जिनका चरित्र जाज्वल्यमान अग्नि के समान हो, जिससे उच्चतम शिक्षा का सजीव आदर्श शिष्य के सामने रहे।'[23] अनुकरण के साथ विवेक एव श्रद्धा का सम्मिश्रण भी आवश्यक है। अन्यथा अन्धानुकरण हानिकारक होता है।

(4) आधुनिक युग में मनोविज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण **व्यक्तिगत निर्देशन व परामर्श** का महत्व शैक्षिक जगत में बढ़ता जा रहा है। पर जिस समय मनोविज्ञान अपनी शैशवावस्था में विचरण कर रहा था उस समय स्वामी विवेकानन्द ने अपनी शैक्षिक योजना में इस विधि का प्रयोग करके व्यक्तियों की स्वतत्र विचार व निर्णय करने की शक्ति का विकास किया। न्यूयार्क, सैनफ्रांसिसको, तथा सहस्रद्वीपोद्यान में उनके द्वारा जो कक्षाएं ली जाती थीं उनमें इस विधि के उदाहरण मिलते हैं।वे व्यक्तिगत रूप से लोगो से मिलते थे और उनकी व्यक्तिगत या जातिगत समस्याओं पर परामर्श भी दिया करते थे। परन्तु वे कभी अपने विचार परामर्श लेने वाले व्यक्ति पर लादते नहीं थे। व्यक्तिगत निर्देशन के समय वह मित्रवत् बात चीत करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

(5) **प्रश्नोत्तर विधि** शिक्षा प्रदान करने की अति प्राचीन विधि है। उपनिषदों की शिक्षा इसी विधि द्वारा दी गयी है। स्वामी विवेकानन्द भी लोगों को अपने मठों तथा वेदान्त केन्द्रों पर समय समय पर वार्तालाप द्वारा शिक्षित किया करते थे। इस विधि का एक लाभ यह है कि गुरु के साथ साथ शिष्य भी शिक्षा प्रक्रिया में क्रियाशील रहता है और वह अपनी शंकाओं या अज्ञता का निराकरण प्रत्यक्ष रूप से कर लेता है।

उदाहरणार्थ-

22 जनवरी, 1898 ई0 शनिवार के दिन प्रात काल श्री सुरेन्द्र नाथ सेन बलराम बाबू के घर पहुँचे। वहाँ पर स्वामी जी श्रद्धा तथा आत्मविश्वास की आवश्यकता पर अपने विचार प्रस्तुत कर रहे थे। उनके विचार से देश के अध·पतन का कारण मनुष्य का श्रद्धाहीन होना था। स्वामी जी की इस बात को सुनकर सेन महोदय ने प्रश्न किया-

प्रश्न- हम श्रद्धाहीन कैसे बन गये?

उत्तर- बचपन से हमारी शिक्षा ही ऐसी रही है । उसमे निषेध और नकार का ही प्राबल्य है। हमने यही तो सीखा है कि हम नगण्य हैं, नाचीज हैं।..... हम केवल निर्बलता का पाठ पढ़ते हैं। पराजित राष्ट्र होने से, हमें अब यह विश्वास हो गया है कि हम शक्तिहीन और हर बात में परावलम्बी है। अत: श्रद्धा नष्ट न हो तो क्या हो? अब हमें पुन एक बार वह सच्ची श्रद्धा का भाव जागृत करना होगा , हमारे सोये हुए आत्म विश्वास को जगाना होगा, तभी आज देश के सामने जो समस्याएं हैं, उनका समाधान स्वयं हमारे द्वारा हो सकेगा।[24]

स्वामी विवेकानन्द ने वार्तालाप द्वारा जो शिक्षा प्रदान की है वह उनके शिष्यों द्वारा सगृहीत कर 'स्वामी विवेकानन्द जी से वार्तालाप' नामक पुस्तक में प्रकाशित की गयी है। स्वामी जी प्रत्येक व्याख्यान के बाद वार्तालाप द्वारा शंका समाधान किया करते थे। इस विधि से यह लाभ होता है कि प्रश्नकर्ता सक्षेप में अपनी शंका का हल पा लेता है। साथ ही उससे जुड़े हुए अन्य प्रश्न भी पूँछ सकता है।

(6) विवेकानन्द साधु संगति, भ्रमण तथा क्रिया विधि को भी शिक्षा में पर्याप्त महत्व देते हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने स्वय भी गृह त्याग के उपरांत अनेक साधु संतों के सम्पर्क में वेदान्त, दर्शन योग व धर्म की शिक्षा प्राप्त की। श्री रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आध्यात्मिक शिक्षा तथा गाजीपुर में पवहरी बाबा से राजयोग की शिक्षा ली। कलकत्ते से हिमालय तक के भ्रमणकाल में स्वामी विवेकानन्द ने अनेक साधु संतो के

सम्पर्क से तथा अन्य स्थानों के लोगो से मिलकर ज्ञान लाभ तथा नेत्र लाभ प्राप्त किया। भ्रमण को शिक्षा का क्रियाशील साधन बताते हुए उन्होंने पहले स्वदेश मे तत्पश्चात् विदेशों मे भ्रमण कर इसकी उपादेयता का परिचय दिया। आज तो भ्रमण के इतने साधन उपलब्ध है अत इस विधि का प्रयोग विशेष रूप से प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, उद्योग कला, तकनीकी शिक्षा व सस्कृति के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है। इस विधि के प्रयोग हेतु ही स्वामी जी ने रामकृष्ण मठ तथा मिशन की स्थापना कर साधारण लोगो को साधु सगति से लाभान्वित होने का अवसर प्रदान किया।

भ्रमण विधि से ज्ञान और अनुभव की अभिवृद्धि होती है तथा भिन्न भिन्न प्रातो के लोगों के सम्पर्क मे आने से उनकी सामाजिक, आर्थिक भौगोलिक धार्मिक व सास्कृतिक स्थिति का परिचय भी प्राप्त हो जाता है तथा साथ साथ प्राकृतिक दृश्यों से नेत्र लाभ भी होता है। इस विधि से सेवाकार्य भी सम्भव है। विवेकानन्द ने तो यहॉ तक कहा था कि साधु तथा परिव्राजक धर्मोपदेश के साथ साथ गॉव गॉव में जन शिक्षा का प्रचार भी करें। विवेकानन्द के शब्दों मे-

'हमारे देश में सहस्रों निष्ठावान, स्वार्थ त्यागी सन्यासी हैं, जो एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे धर्मोपदेश करते फिरते हैं। यदि उनमें से कुछ को भौतिक विषयों के शिक्षक के रूप में संगठित किया जा सके, तो वे एक स्थान से दूसरे स्थान को, एक दरवाजे से दूसरे दरवाजे को न केवल धर्मोपदेश करते हुए वरन् शिक्षा कार्य भी करते हुए जायेंगे।'[25]

क्रिया की विधि को खेलकूद, शारीरिक शिक्षा, उद्योग, शिल्प तथा कौशलों की शिक्षा के लिए आवश्यक बताया।

[7] कहानी कथा विधि का प्रयोग भी स्वामी जी किया करते थे। उनके जितने भी व्याख्यान होते थे उनमें एक दो कहानियॉ अवश्य होती थीं। इस विधि के प्रयोग से व्याख्यान विधि की नीरसता सरसता में परिणित हो जाती है। तथा गम्भीर विषय

आसान हो जाता है यही कारण है कि उनके गम्भीर से गम्भीर दार्शनिक व्याख्यानों मे श्रोतागण ऊबते नहीं थे और विषय को भी हृदयगम कर लेते थे। जैसे शिकागो विश्वधर्म महासभा मे 15 सितम्बर 1893 ई0 को 'हमारे मतभेद का कारण' विषय पर व्याख्यान के समय कुए मे रहने वाले मेढक की कहानी द्वारा मतभेद का कारण समझाना। छात्र के लिए दृढ लगन की अनिवार्यता को नचिकेता की कहानी द्वारा समझाया गया है। इसी प्रकार अन्य व्याख्यानो मे कहानी विधि के अनेक उदाहरण मिलते है। उनकी कहानियों का आधार उपनिषद पुराण तथा वेद होते थे।

अत. हम कह सकते हैं कि स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा प्राप्ति के लिए एकाग्रता या केन्द्रीकरण विधि को विशेष महत्व देते हुए व्याख्यान-विधि, अनुकरण विधि, व्यक्तिगत निर्देशन व परामर्शविधि, प्रश्नोत्तर विधि, साधु-संगति, भ्रमण व क्रिया विधि तथा कहानी विधि का समर्थन किया। वर्तमान सन्दर्भ मे भी यह विधियॉ सभी प्रकार के ज्ञान के लिए उपयुक्त प्रतीत होती है। बालकों की अवस्था, उनकी क्षमता, विषयानुसार व स्थान के अनुसार भिन्न भिन्न शिक्षण विधियों का प्रयोग उपयोगी है।

शिक्षक, शिक्षार्थी और शिक्षालय

विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा 'गुरुगृह वास' है। अर्थात् शिक्षक या गुरु के बिना कोई शिक्षा नहीं हो सकती। प्राचीन भारतीय आदर्शवादी परम्परा के अनुयायी होने के कारण स्वामी जी शिक्षा प्रक्रिया मे शिक्षक की अहं भूमिका स्वीकारते है। उनके विचार से शिक्षा व्यक्ति की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है अत· इस अभिव्यक्ति के विकास के लिए ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जिसने स्वयं पूर्णता की अभिव्यक्ति प्राप्त की हो। यह तो निश्चित है कि प्रत्येक आत्मा पूर्णता को प्राप्त करेगी और अत में सभी प्राणी उस पूर्णावस्था को प्राप्त करेंगे ही। आज हम जो है वह हमारे पिछले अस्तित्व और विचारों का परिणाम है तथा हमारा भविष्य हमारे वर्तमान कार्यो और विचारों पर अवलम्बित रहेगा। मानव की आत्मिक शक्तियों के विकास के लिए किसी बाह्य सहायता की आवश्यकता होती है। जैसे चकमक पत्थर में आग विद्यमान रहती है परन्तु उसे प्रस्फुटित करने के लिए रगड़ आवश्यक है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के आत्मिक विकास को प्रस्फुटित करने के लिए आध्यात्मिक गुरु का होना नितान्त आवश्यक है। हम पुस्तकों के अध्ययन से भले ही बौद्धिक विकास कर लें परन्तु आत्मिक विकास बिना स्फुरित आत्मा के नहीं हो सकता। जिस स्फुरित आत्मा से दूसरी आत्मा विकसित होती है उसे ही विवेकानन्द ने गुरु या आचार्य की सज्ञा दी है और जिस आत्मा को यह शक्ति प्रदान की जाती है, वह शिष्य या चेला कहलाता है । और जिस स्थान पर इस शक्ति का विकास किया जाता है उसे शिक्षालय कहा है। उनका विश्वास है कि त्यागी एवं जाज्वल्यमान चरित्र वाले गुरु ही ज्ञान दान कर सकते है। जैसा कि हमारे देश मे अति प्राचीन काल से होता रहा है। स्वामी जी के अनुसार शिक्षक में निम्नलिखित तीन गुणों का होना नितान्त आवश्यक है। उन्हें के शब्दों में-

'गुरु के सम्बंध में यह जान लेना आवश्यक है कि उन्हें शास्त्रों का मर्म ज्ञात हो। वैसे तो सारा ससार ही बाइबिल, वेद और कुरान आदि आदि धर्म शास्त्रों को पढ़ता है। पर वे तो केवल शब्द राशि विन्यास, वाक्य रचना, शब्द रचना और

भाषा विज्ञान, है, धर्म की सूखी ठठरी मात्र है। जो गुरु शब्दाडम्बर के चक्कर मे पड़ जाते है, जिनका मन शब्दो की शक्ति मे वह जाता है, वे भीतर का मर्म खो बैठते है। जो शास्त्रों के वास्तविक मर्मज्ञ है, वे ही असल मे सच्चे धार्मिक गुरु है। गुरु के लिए दूसरी आवश्यक बात है- निष्पापता। .... गुरु को पूर्ण रूप से शुद्धचित्त होना चाहिए, तभी उनके शब्दो का मूल्य होगा। . तीसरी आवश्यक बात है उद्‌देश्य के सम्बध मे। गुरु को धन, नाम या यश सम्बधी स्वार्थ सिद्धि के हेतु धर्म शिक्षा नहीं देनी चाहिए। उनके कार्य तो समस्त मानव जाति के प्रति विशुद्ध प्रेम से ही प्रेरित हों।[26]

स्वामी विवेकानन्द ने गुरु के लिए जिन गुणों की अपेक्षा की है वह आज के गुरु के लिए भी उतने ही महत्वपूर्ण है। हम व्यावहारिक जीवन में भी देखते है कि जो गुरु उपर्युक्त गुणो से सम्पन्न होता है उसकी छोटी सी बात का छात्र पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। क्योंकि छात्र कुछ बातें अनुकरण द्वारा भी सीखता है। स्वामी जी ने शिक्षक के लिए जो अन्य आवश्यक गुण नि स्वार्थतता , नाम व यश की इच्छा न होना बताया। इस गुण का आज के युग में अभाव ही दिखाई देता है। आज का शिक्षक नाम के पीछे दौड़ता है उसे अपने व्यवसाय में उन्नति के लिए नाम व यश का लम्बा चौड़ा हिसाब रखना होता है। इसका कारण शिक्षा का व्यवसाय की श्रेणी में आना है। भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षा प्रणाली की दुहाई देते हुए स्वामी जी का आग्रह था कि ज्ञान दान का भार पुन· त्यागियों के कन्धों पर पड़ना चाहिए। इनका मानना है कि ज्ञान इतना पवित्र है कि उसे बेचना नहीं चाहिए। प्राचीन प्रणाली की तरह धनाड्य लोग गुरु को दान देकर सहायता करें। शिक्षक में दिव्यता और आध्यात्मिकता होनी चाहिए तभी वह विद्यार्थी में दिव्यता देख सकता है। इसके साथ साथ उसमें धार्मिकता भी हो और धर्मग्रंथों के सारतत्वों को समझा हो , ग्रहण किया हो तथा जीवन में उतारा हो। धार्मिक ज्ञान के अलावा उसे लौकिक एवं व्यावहारिक ज्ञान भी होना चाहिए तभी वह मानव निर्माण में सफल हो सकता है। अध्यापक को सफल मनोवैज्ञानिक होना भी जरुरी है जिससे कि वह विद्यार्थी की आत्मा, प्रवृत्ति, स्वभाव, आवश्यकता

और रुझान आदि को पहचान सके और तदनुसार शिक्षा दे सके। गुरु को ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना भी आवश्यक है। ऐसे ही विचार स्वामी दयानन्द सरस्वती के भी है। क्योंकि ब्रह्मचर्य से विचार शक्ति तथा स्मरण शक्ति तीव्र होती है। एकाग्रता के लिए भी ब्रह्मचर्य का पालन भी आवश्यक है। अध्यापक को दण्ड नहीं देना चाहिए उसे तो शिष्यों का सेवक बनना चाहिए और सहानुभूतिपूर्वक स्वीकारात्मक रूप से पूर्णता की प्राप्ति में सहायता प्रदान करे। उसका कार्य बगीचे के पौधों की अबाधित रूप से वृद्धि करने वाले माली की तरह होना चाहिए। गुरु को शिष्य की प्रवृत्ति मे अपनी सारी शक्ति लगा देना चाहिए। सच्ची सहानुभूति के बिना हम अच्छी शिक्षा कभी नही दे सकते। शिक्षक किसी भी शिष्य की श्रद्धा को डॉवाडोल करने का प्रयत्न न करे। यदि हो सके तो उसे उच्चतर भाव दे, परन्तु शिष्य का भाव नष्ट न होने पाए। सच्चा गुरु वह है जो क्षण भर मे अपने आपको मानो सहस्र पुरुषों के रूप में परिवर्तित कर सकता है। सच्च गुरु वह है जो अपने को तुरंत शिष्य की सतह तक नीचे ला सकता है और अपनी आत्मा को शिष्य की आत्मा मे प्रविष्ट कर सकता है तथा शिष्य के मन द्वारा देख और समझ सकता है। ऐसा ही गुरु यथार्थ में शिक्षा दे सकता है, दूसरा नहीं।

शिक्षक सम्बंधी उपर्युक्त विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वामी जी ने आध्यात्मिक गुरु के लिए उपरोक्त गुणों का होना आवश्यक बताया और चूंकि मानव के जीवन का चरम लक्ष्य आत्मिक विकास मात्रा है अत उपरोक्त गुणों से युक्त गुरु हो। इसके अतिरिक्त मनुष्य को लौकिक जीवन के लिए भी तैयार करना शिक्षा का लक्ष्य होता है जिसके लिए गुरु को लौकिक शास्त्रों का ज्ञाता होना आवश्यक है। साथ साथ पवित्र, सहृदय, शीलवान, धैर्यवान क्षमाशील व हृष्टपुष्ट होना भी जरूरी है। गुरु चाहे आध्यात्मिक हो या लौकिक उसमें प्रेम, त्याग, सहयोग व सहानुभूति का भाव भी होना चाहिए। तत्कालीन भारत कें प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा देने वाले गुरुओं की उन्होंने कटु भर्त्सना करते हुए देशवासियों का आह्वान किया और कहा-

'एक लाख नर नारी पवित्रता के उत्साह से उत्तेजित, ईश्वर में अटूट विश्वास धारण किए, गरीब गिरे हुए तथा कुचले हुए लोगों के लिए अपनी सहानुभूति के द्वारा सिह के पराक्रम को प्राप्त कर क्रियाशील बने हुए यदि देश के चारों ओर मुक्ति के संदेश, सहायता के संदेश, समाज उत्थान के संदेश तथा समानता के संदेश का प्रचार करे तो अवश्य ही भारत की उन्नति होगी' इस कार्य का भार उन्होंने शिक्षकों पर डाला। उन्होने अग्रेजो द्वारा दी जाने वाली शिक्षा की कमियों की ओर इंगित करते हुए बताया कि-

'यह शिक्षा केवल तथा सम्पूर्णत निषेधात्मक है । निषेध की बुनियाद पर आधारित शिक्षा मृत्यु से भी भयानक होती है। कोमल मति बालक पाठशाला में भर्ती होता है तो सबसे पहली बात जो उसे सिखाई जाती है वह यह कि तुम्हारा बाप मूर्ख है। दूसरी बात जो वह सीखता है वह यह कि तुम्हारा दादा पागल है। तीसरी बात कि तुम्हारे जितने शिक्षक और आचार्य है, वे पाखण्डी हैं। और चौथी बात है कि जितने तुम्हारे धर्मग्रंथ हैं , उनमें झूठी और कपोल कल्पित बातें भरी हुई है।'

इस प्रकार की शिक्षा देने से बालक निषेधों की खान बन जाता है और वह अपनी सस्कृति का विरोधी बन जाता है। उसकी स्वतंत्र विचार क्षमता खत्म हो जाती है अत· शिक्षक ऐसा हो जो शिष्यों मे स्वतंत्र विचार शक्ति का उदय कर सके।

शिक्षक के साथ साथ शिष्य में भी कुछ गुणों का होना अनिवार्य है अन्यथा शिक्षक कितनाही प्रभावशाली व योग्य हो वह शिष्य की शक्तियों का विकास नही कर सकता। शिष्य के लिए पहली आवश्यक शर्त है इच्छाओं का त्याग। क्योंकि इच्छाओं के रहते व्यक्ति सत्य को नहीं समझ सकता। विवेकानन्द के शब्दों में-

'जो हम देखते हैं, वह उस समय तक सत्य नहीं है, जब तक हमारे मन में इच्छाएं घुस आती रहती हैं। जब तक हृदय में संसार के लिए तनिक भी इच्छा

है, सत्य का उदय नहीं होगा। बहुत धनी लोग सत्य को गरीबों की अपेक्षा कम समझ पाते है।'[27]

विवेकानन्द का विश्वास है कि प्रेम, सत्य और नि.स्वार्थता शक्ति की महान अभिव्यक्ति होने के कारण शिष्य के लिए महान आदर्श है। आत्म निग्रह अन्य सब बर्हिमुखी कर्मो की अपेक्षा शक्ति की अधिक महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से परिचालित होने पर मन की सारी शक्तियाँ बर्हिमुखी होकर इतस्तत बिखर जाती है, परन्तु यदि उनका निग्रह किया जाए, तो उससे बल की अभिवृद्धि होती है। इस आत्मनिग्रह से ऐसी महान इच्छा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जो बुद्ध या ईसा जैसे चरित्र का निर्माण करती है।

शिष्य के लिए दूसरी आवश्यक शर्त है **इन्द्रिय निग्रह।** शिष्य को अपनी अन्तरिन्द्रियों एवं बहिरिन्द्रियों को नियंत्रित करने में समर्थ होना चाहिए। इसके लिए उसे सतत अभ्यास की जरूरत है। वह मन द्वारा इन्द्रियों तथा प्रकृति के आदेशों का विरोध कर सके। वह अपने मन से यह कह सके: 'तुम मेरे हो, मैं तुम्हें कुछ न देखने की अथवा न सुनने की आज्ञा देता हूँ।' तत्पश्चात् मन को शांत करना होगा। जब तक मन चंचल है और वश से बाहर है, तब तक कोई आध्यात्मिक तथा लौकिक ज्ञान सम्भव नहीं है।

तीसरी शर्त है सहनशक्ति की। विवेकानन्द के विचार में-

'सारी बुराई और दु:ख को कष्ट की एक आह के बिना, दु:ख के, विरोध के, निराकरण के और प्रतिशोध के एक विचार के बिना सहन करो।'[28]

शिष्य मे इस प्रकार की सहनशक्ति होनी चाहिए। विवेकानन्द के गुरु रामकृष्ण जब बीमार पड़े तो एक ब्रह्मण ने उनसे कहा कि वे अपने मन को अपने शरीर के रोगी भाग पर केन्द्रित करे तो वह भाग अच्छा हो जाएगा। इस पर श्री रामकृष्ण

का उत्तर था- ' जो मन मैने ईश्वर को दे दिया है, उसे इस क्षुद्र शरीर के लिए नीचे उतारूँ?' इसी प्रकार ईसा मे भी सहनशीलता कूट कूट कर भरी हुई थी। वे क्रूस पर चढ़ाने वाले व्यक्ति के प्रति भी सहनशील थे। ऐसी सहनशीलता युक्त शिष्य होना चाहिए।

मुक्त होने की आकांक्षा शिष्य की चौथी आवश्यक शर्त है। मुक्त से तात्पर्य सासारिक बधनों से , इच्छाओं और वासनाओं से परे होना है। विवेकानन्द कहते है-

'शरीर की ये वासनाए केवल क्षण भर के लिए सतोष देती है और अनन्त दुःख लाती हैं। यह उस प्याले को पीने के समान है, जिसकी ऊपरी तह तो अमृत है, पर उसमें नीचे हलाहल भरा हुआ है।... इस क्लेश से निकलने का केवल एक मार्ग है , सब इन्द्रियों और वासनाओं का परित्याग।'[129]

शिष्य के लिए एक अन्य आवश्यक शर्त है उच्चतम सत्य के ज्ञान की प्राप्ति। शिष्य की शिक्षा का आचार आत्मा हो, मध्य आत्मा हो और अन्त आत्मा हो। संसार कहीं न हो। ऐसा उच्च आदर्श हो शिष्य का।

जब व्यक्ति इन उपरोक्त गुणों से युक्त होगा तभी वह शिष्य कहलाने योग्य होगा। और तभी गुरु द्वारा संचारित शक्ति से शिष्य की अन्तःशक्ति का स्फुरण होगा। और वह आत्मिक उन्नति प्राप्त कर सकेगा।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शिष्य को ब्रह्मचारी होना भी आवश्यक है। क्योंकि ब्रह्मचर्य से शिष्य में पवित्रता और शुद्धता आती है। विचार, वाणी और कार्य की पवित्रता नितांत आवश्यक है। ज्ञान की पिपासा शिष्य के लिए वैसे ही आवश्यक है जैसे थार्नडाइक के उद्दीपक अनुक्रिया सिद्धान्त में बिल्ली का भूखा होना। ज्ञान

की पिपासा से जुडा हुआ गुण है सच्ची लगन के साथ परिश्रम की। मान लीजिए हममे सत्य को जानने की प्रबल इच्छा तो हो लेकिन लगन नही है तब भी हम अपनी ज्ञान पिपासा शान्त नहीं कर सकेंगे। ज्ञान पिपासा के सम्बध मे एक पुराना नियम है कि हम जो कुछ चाहते है वही पाते है। जिस वस्तु की हम अन्त करण से चाह नहीं करते, वह हमे प्राप्त नहीं होती। अत हमे अपनी पाशविक प्रकृति के साथ तब तक निरन्तर जूझते रहना होगा जब तक हमारे लक्ष्य मे उच्चतर आदर्श के लिए सच्ची व्याकुलता उत्पन्न न हो जाए शिष्य के लिए इस प्रकार के अध्यवसाय की आवश्यकता है तभी सफलता प्राप्त होगी।

शिक्षक और गुरु के सम्बध के बारे में स्वामी विवेकानन्द के विचार प्राचीन वैदिक परम्परा से मिलते जुलते प्रतीत होते है। शिक्षक और शिष्य का सम्बंध वास्तव मे आत्मिक होना चाहिए। जैसा पूर्वज के साथ उसके वंशज का होता है। गुरु को शिष्य मे दिव्यता देखना चाहिए और शिष्य को गुरु की दिव्यता का बोध होना चाहिए। गुरु के प्रति विश्वास, नम्रता, विनय और श्रद्धा के बिना शिष्य में धर्मभाव पनप नही सकता। परन्तु विवेकानन्द ने अंधी भक्ति न करने का उपदेश देते हुए कहा है-

'पर यह भी सत्य है कि किसी के प्रति अत्यधिक अंधी भक्ति से मनुष्य की प्रवृत्ति दुर्बलता और व्यक्तित्व की उपासना की ओर झुकने लगती है। अपने गुरु की पूजा ईश्वर दृष्टि से करो, पर उनकी आज्ञा का पालन आँखे मूँदकर न करो। प्रेम तो उन पर पूर्ण रूप से करो, परन्तु स्वयं भी स्वतंत्र रूप से विचार करो।'[30]

उन्होंने शिक्षा को गुरु-गृहवास की सज्ञा दी है तो इससे यह अर्थ निकलता है कि गुरु को अपने शिष्यों को पिता-तुल्य स्नेह एवं सहानुभूति प्रदान करना चाहिए। वेदान्तीय आदर्श के समर्थक होने के नाते वे शिक्षक और शिष्य दोनों में उसी परमात्मा का अंश मानते हुए दोनों के बीच परस्पर आत्मिक एवं आध्यात्मिक संबंध प्रतिस्थापित करते है । उनके ही शब्दों में-

'गुरु को प्राप्त करो, बालकवत् उनकी सेवा करो, उनका प्रभाव ग्रहण करने के लिए अपना हृदय खोल दो, उनमे परमात्मा के व्यक्त रूप का दर्शन करो। गुरु को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति समझकर उनमें हमें अपना ध्यान केन्द्रीभूत कर देना चाहिए, और ज्यो ज्यों उनमे हमारी यह ध्यान शक्ति एकाग्र होगी, त्यों त्यों गुरु के मानव रूप का चित्र विलीन हो जायेगा, मानव शरीर का लोप हो जायेगा और यथार्थ ईश्वर ही वहाँ शेष रह जाएगा।'[3]

स्वामी जी ने गुरू और शिष्य के जो परस्पर सम्बध की व्याख्या की है वह वेदान्तिक आधार से तो उपयुक्त है । परन्तु व्यवहार मे शिक्षक या शिष्य में उपर्युक्त गुणों के अभाव में सही दिशा न मिलने का भी खतरा रहता है। अत. शिष्य को गुरु से शिक्षा लेते समय उसकी शक्ति का परीक्षण कर लेना चाहिए जैसा स्वयं स्वामी जी ने श्री रामकृष्ण को अपना गुरु स्वीकारने से पहले किया था। परन्तु यह भी उतना ही आवश्यक है कि छात्र भी पवित्र, ज्ञान-मुमुक्षु वासनारहित एवं धैर्ययुक्त हो।

शिक्षालय :

शिक्षालय के सम्बंध में स्वामी जी के विचार बहुत थोड़े ही मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्रचीन गुरु-कुल प्रणाली में विश्वास रखते थे अतः उन्होंने विद्यालय के स्वरूप पर विस्तार से कोई विचार नहीं दिए हैं। हम उनके उपदेशों तथा कक्षालापों द्वारा कल्पना ही कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त रामकृष्ण मिशन से सम्बंधित विद्यालयों के लक्ष्यों से हम उनकी विद्यालय की धारणा का अनुमान लगा सकते है।

भारत की तत्कालीन दशा को देखते हुए उन्होंने यह अनुभव किया था कि भारत की अवनति एवं पराधीनता का कारण सही शिक्षा का अभाव है। अंग्रेजों द्वारा प्रदान की जाने वाली शिक्षा के वे विरोधी थे। यद्यपि अंग्रेजी साहित्य व पाश्चात्य विज्ञान के वे समर्थक दिखाई देते हैं। उन्हें की वाणी में-

'हमें आवश्यकता इस बात की है कि हम विदेशी अधिकार से स्वतत्र रहकर अपने निजी ज्ञान भण्डार की विभिन्न शाखाओं का और उसके साथ ही अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान का अध्ययन करे।'[32]

वे चाहते थे कि हम पाश्चात्य भाषा व विज्ञान का अध्ययन तो करें लेकिन अपनी भाषा व सस्कृति को भुलाकर नहीं। चूँकि पाश्चात्य देशों ने विज्ञान के क्षेत्र मे उन्नति हासिल की है अत उनसे इस क्षेत्र की शिक्षा लेने के लिए उनकी भाषा सीखना अनिवार्य है परन्तु विदेशी हाव-भाव मे डूबना नही है। उन्होंने चहारदीवारी युक्त विद्यालयो की अपेक्षा प्राकृतिक वातावरण में शिक्षा हासिल करने को अधिक महत्व दिया। वे समझते थे कि भारत की अधिकांश जनता झोपड़ियों में गाँवों में बसती है और उनकी आर्थिक दशा शोचनीय है। उन्हे दिन भर परिश्रम करने के बाद भी मुश्किल से पेट भर भोजन मिल पाता है। अत उनके लिए यह संभव न हो सकेगा कि वे पाठशाला मे जाकर ज्ञानार्जन कर सकें, भले ही इन विद्यालयों में नि·शुल्क शिक्षा की व्यवस्था ही क्यो न हो इस बात की पुष्टि विवेकानन्द के इन शब्दों से होती है-

'मान लो , तुमने प्रत्येक गांव मे एक निःशुल्क पाठशाला खोल दी, पर तो भी उससे कोई लाभ न होगा, क्योंकि गरीब लड़के पाठशाला में आने की अपेक्षा अपने पिता की सहायता करने खेतों में जाना या जीविका के लिए और कोई धंधा करना अधिक पसंद करेंगे। अच्छा, यदि पहाड़ मुहम्मद के पास नहीं आता, तो तो मुहम्मद ही पहाड़ के पास क्यों न जाए। यदि गरीब बालक शिक्षा लेने नहीं आ सकता, तो शिक्षको को ही उसके पास पहुँचना चाहिए।'[33]

कहने का तात्पर्य यह है कि साध्य के साथ साथ साधन भी उतने ही महत्वपूर्ण होने चाहिए, साध्य तो उच्च हैं परन्तु साधन उपयुक्त न होने पर सफलता नहीं मिलती। विवेकानन्द साधनों के प्रति सावधानी बरतने के लिए इन शब्दों में कहते हैं-

'मेरा यह मत है कि सब प्रकार की सफलताओं की कुजी इसी तत्व में है- साधनों की ओर भी उतना ही ध्यान देना आवश्यक है, जितना साध्य की ओर।'[34]

प्राय होता यह है कि हम आदर्श या लक्ष्य से ही इतने आकृष्ट रहते हैं कि साधन की उपयुक्तता हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती है। अत आवश्यकता है अपने साधनो को पुष्ट करने और उन्हे पूर्ण बनाने की। यही बात शिक्षा के क्षेत्र मे लागू होती है। हमारी शिक्षा का लक्ष्य है चरित्रवान व लौकिक समस्याओं को सुलझाने योग्य मानव बनाना। अत यदि हम शिक्षा का साधन सिर्फ चहार दीवार युक्त विद्यालय रखेगे तो हम ध्येय को पूर्ण रूपेण प्राप्त नहीं कर सकते। आध्यात्मिक ज्ञान हेतु गुरु-गृह-या गुरुकुल होना आवश्यक है। परन्तु लौकिक व व्यावसायिक शिक्षा को गाव गाव , घर-घर पहुँचाना होगा। इस प्रकार की शिक्षा का भार उन्होंने देश के शिक्षित सन्यासी नवयुवको पर सौंपा। इन सन्यासी नवयुवकों को प्रशिक्षित करने का दायित्व रामकृष्ण मिशन के स्वार्थ त्यागी सन्यासियों को दिया। उन्हीं के शब्दों में-

'हमारे देश के सहस्रों निष्ठावान, स्वार्थ त्यागी सन्यासी हैं, जो एक ग्राम से दूसरे ग्राम में धर्मोपदेश करते फिरते है। यदि उनमें से कुछ को भौतिक विषयों के शिक्षक के रूप में संगठित किया जा सके, तो वे एक स्थान से दूसरे स्थान को, एक दरवाजे से दूसरे दरवाजे को न केवल धर्मोपदेश करते हुए वरन् शिक्षा कार्य भी करते हुए जायेंगे। मान लो , इनमें से दो मनुष्य सन्ध्या समय किसी गांव मे अपने साथ मैजिक लैन्टर्न, पृथ्वी का गोला और कुछ नक्शे आदि लेकर गये, तो वे अनजान मनुष्यों को बहुत सा ज्योतिष और भूगोल सिखा सकते हैं।'[35]

इसी प्रकार घूम घूमकर सन्यासी भिन्न भिन्न देशों की कहानियाँ बताकर गरीबों को पुस्तकीय ज्ञान से कई सौ गुना जानकारी प्रदान कर सकते हैं। ये शिक्षक आधुनिक विज्ञान की सहायता से उनके ज्ञान को प्रज्वलित कर सकते हैं। इतिहास, भूगोल और साहित्य के साथ साथ धर्म के गम्भीर सत्यों की भी शिक्षा दे सकते हैं। विवेकानन्द

की शिक्षा प्रदान करने की यह प्रणाली वर्तमान औपचारिक शिक्षा से सादृश्यता रखती हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार की शिक्षा को यदि हम सचल या आजीवन शिक्षा कहे तो अत्युक्ति न होगी। इस प्रकार शिक्षा को जन जन तक बिना लिग, जाति व आयु भेद के सुलभ कराया जा सकता है। आज हमारी वर्तमान नई शिक्षा नीति का भी लक्ष्य यही है परन्तु हमारे साधन उपयुक्त नहीं है। शिक्षा देने वाले उपर्युक्त गुणों से युक्त नहीं है और न ही शिष्य भी। अत प्रथम आवश्यकता है स्वार्थ त्यागी एव नि स्पृह शिक्षको की जो शिष्यो के समक्ष सदा जीवित आदर्श स्वरूप रहे।

जहाँ तक गुरु गृहवास मे शिक्षा का प्रश्न है वहाँ का वातावरण प्राचीन वैदिक कालीन आश्रम के समान होने के वे समर्थक हैं। उनका मानना है कि यदि अध्यापक पवित्र व शुद्ध हृदय युक्त है, अच्छे आचरण व सद व्यवहार वाला है तो नि सन्देह उसका वास स्थान भी शुद्ध, सुखद व सौम्य होगा और ऐसे वातावरण में छात्र आत्म विकास कर सकेगा अर्थात् स्वामी विवेकानन्द शिक्षा मे वातावरण को पर्याप्त महत्व देते हैं। इसी कारण उन्होने बच्चो के विद्यालय 'मठ' के साथ खोलने की योजना बनाई थी। पाश्चात्य देश से लौटने के बाद मद्रास के युवको को आह्वान करते हुए कहा था-

'इसलिए हमारा आदर्श यह होना चाहिए कि अपने देश की समग्र आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा के प्रचार का भार अपने हाथों में ले ले और जहाँ तक सम्भव हो, राष्ट्रीय रीति से राष्ट्रीय सिद्धान्तों के आधार पर शिक्षा का विस्तार करें।.... सबसे पहले हमें मंदिर की आवश्यकता है। यह मंदिर साम्प्रदायिक भेद-भावों के परे होगा। .... इस मंदिर मे वे ही धार्मिक तत्व समझाए जायेंगे, जो सब सम्प्रदायों में समान हैं। साथ ही सब सम्प्रदाय वालों को अपने मत की शिक्षा देने का यहाँ पर अधिकार रहेगा, पर एक प्रतिबंध रहेगा कि वे अन्य सम्प्रदायों से झगड़ा नहीं करने पायेंगे। इस मंदिर के सम्बंध में एक दूसरी बात यह है कि इसके साथ ही एक और संस्था हो, जिससे धार्मिक शिक्षक और प्रचारक तैयार किए जायें।.... ये केवल धर्म का ही प्रचार न करे वरन् उसके साथ-साथ लौकिक शिक्षा का भी प्रचार करें।'

इस प्रकार विवेकानन्द की विद्यालय सम्बधी सकल्पना मनुष्य को सम्पूर्ण जीवन के लिए तेयार करने वाली सस्था हे। शिक्षक में अभीष्ट गुणो की अनिवार्यता एव छात्र को अपनी ज्ञानाग्नि से प्रज्वलित करने की बात करते समय वे आदर्शवादी मत के पोषक लगते हैं। परन्तु जब वह उपयुक्त वातावरण पर महत्व देते हैं तथा प्राकृतिक वातावरण में शिक्षा की बात करते है वहाँ उनके विचार प्रकृतिवादी विचारकों से मिलते हैं। जब वह घूम घूम कर शिक्षा देना तथा व्यक्ति की आवश्यकता व रुचि के अनुसार शिक्षा प्रदान करने की योजना बताते हैं तब वह प्रयोजन वादी विचारधारा के निकट पहुँच जाते हैं। वे यह समझते थे कि सभी व्यक्ति गुरु-गृह मे जाकर शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता अत. ऐसे व्यक्तियों को उनके घर पर ही उनके समयानुसार शिक्षा देना होगा। अर्थात् वे अनौपचारिक और औपचारिक शिक्षा को यथेष्ट स्थान देते थे।

अनुशासन

शिक्षा और अनुशासन का सम्बंध अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह अवश्य है कि देश, काल व विभिन्न दार्शनिक विचारधारा के अनुसार अनुशासन की धारणा भिन्न दिखाई देती है। आदर्शवादी निश्चित मूल्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षक द्वारा दंड का सहारा लेकर अनुशासन कायम रखने की बात कहता है। जबकि प्रकृतिवादी प्राकृतिक दंड द्वारा अनुशासन को नैतिक मानता है। यथार्थवादी वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों और वातावरण के प्रति सामंजस्य अथवा समायोजन को ही अनुशासन समझता है। इसके लिए विद्यालय के अधिकारियों, शिक्षकों तथा छात्रों के सहयोग की आवश्यकता होती है। सभी के कर्तव्य पालन पर अनुशासन कायम रह सकता है। प्रयोजन वादी यह कहकर अपने को अलग कर लेता है कि जब शिक्षा छात्र की स्वयं की समस्याओं तथा आवश्यकताओं के अनुरूप है, तो अनुशासनहीनता की समस्या ही नहीं उठेगी। सामूहिक वातावरण में स्वतंत्रतापूर्वक रचनात्मक कार्यो को करते हुए छात्र स्वयं नियंत्रित रहता है। इस स्थिति में अनुशासनहीनता की समस्या ही उद्भूत नहीं होती है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि शिक्षा चाहे शिक्षालय में दी जाये या अन्यत्र उसमें अनुशासन के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु स्वामी जी के अनुसार अनुसाशन क्या है? तथा इसकी स्थापना का आधार क्या है? इस पर स्वामी विवेकानन्द के विचारों का अवलोकन करते हैं।

प्राय: हम लोग अनुशासन का अर्थ स्कूल व्यवस्था से लगाते हैं। स्कूल व्यवस्था एक बाह्य वस्तु है, जो स्कूल या संस्था के सुचारु रूप से चलाने के लिए आवश्यक है। परन्तु अनुशासन आंतरिक होता है। अर्थात् अनुशासन का सम्बंध छात्र के चरित्र से होता है। अध्यापक के प्रति उचित व्यवहार मात्र दिखावा भी हो सकता है। अत: अनुशासन व्यक्ति के सच्चरित्र की अभिव्यक्ति है। अनुशासित छात्र वह है जो बिना दण्ड के भय से विद्यालय, घर तथा समाज में अपना उत्कृष्ट चरित्र रखता है। स्वामी

विवेकानन्द के अनुसार चरित्र गठन शिक्षा का महत्वपूर्ण तथ्य है परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बालकों के स्वाभाविक विकास की ओर प्रयत्न किए जाए। बालकों को ठोक-पीटकर शिक्षित बनाने के वे कड़े विरोधी थे। वे चाहते थे कि बालकों को विकास का स्वतंत्र अवसर दिया जाए। ऐसा होने से बालक आत्मानुशासित होकर दृढ़ चरित्र वाला बनेगा। उनकी वाणी मे-

'तो इस प्रकार लडकों को ठोक पीटकर शिक्षित बनाने की जो प्रणाली है, उसका अंत कर देना चाहिए। माता-पिता के अनुचित दबाव के कारण 'हमारे बालकों ' को विकास का स्वतत्र अवसर प्राप्त नहीं होता।... सुधार के लिए बलात् उद्योग करने का परिणाम सदैव उल्टा ही होता है।'[36]

वेदान्त के प्रबल समर्थक होने के कारण स्वामी विवेकानन्द प्रत्येक बालक मे स्थित आत्मा को उसी परब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हुए अनुशासन स्थापन के लिए किसी भी प्रकार के दंड को अनुचित बताते हैं। वे प्रभावात्मक अनुशासन का भी अनुमोदन करते हुए दिखाई देते है।

'शिष्य को बाल्यावस्था से ऐसे व्यक्ति (गुरु) के साथ रहना चाहिए जिनका चरित्र जाज्वल्यमान अग्नि के समान हो जिससे उच्चतम शिक्षा का सजीव आदर्श शिष्य के सामने रहे।'[37]

शिक्षा में स्वतंत्रता के पक्षपाती होने के साथ साथ वे आज्ञापालन को अनुशासन के लिए आवश्यक मानते थे। मठ में किसी नवीन ब्रह्मचारी के दीक्षा लेने के समय वे कहते थे-

'मैं जब भी तुझे जो कुछ करने की आज्ञा दूँगा, क्या तू उसी समय इसे पूरा करने का यथा साध्य प्रयास करेगा? तेरा मंगल समझकर यदि मैं तुझे गंगा में कूद पड़ने या छत से गिर पड़ने को कहूँ तो क्या तू बिना आगा-पीछा सोचे इसे कर सकेगा?'[38]

कहने का तात्पर्य यह है कि अनुशासन का पालन न केवल शिष्य के लिए आवश्यक है अपितु शिक्षा व्यवस्था से जुड़े हुए प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। इसी से जुड़ा हुआ प्रश्न उठता है कि अनुशासन भंग करने वाले को क्या दण्ड देना चाहिए? स्वामी विवेकानन्द दंड को तो अनैतिक मानते हैं वे सहानुभूति द्वारा छात्र के व्यवहार में परिवर्तन लाना चाहते हैं। उनका कथन है-

'बुरी आदत का एकमात्र प्रतिकार है- उसकी विपरीत आदत। सभी खराब आदतें अच्छी आदतों द्वारा वशीभूत की जा सकती हैं।.... ऐसा कभी मत कहो कि अमुक व्यक्ति गया - बीता है, उसके सुधरने की आशा नहीं की जा सकती।'[39]

उनके सम्पूर्ण जीवन काल में कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है जिससे यह पता लगता हो कि उन्होंने अनुशासन के दमनात्मक पक्ष का आश्रय लिया हो। वैदिक शिक्षा प्रणाली का समर्थन करते समय वे शिष्य तथा शिक्षक के लिए कुछ कठोर नियमो का पालन करना अनिवार्य बताते हैं। और इन नियमो का तन, मन व वचन से पालन करने के लिए शिष्य को तीन लड़वाली मंजु-मेखला बाँधने का समर्थन किया।

स्त्री शिक्षा

अद्वैत मत के समर्थक होने के कारण विवेकानन्द ने स्त्री व पुरुषों के भेद को अस्वीकार करते हुए भारतीय स्त्रियों की दशा सुधारने तथा उनकी समस्याएं सुलझाने के लिए उन्हें शिक्षित करना परम आवश्यक बताया। उन्होंने इस हेतु मनु की आज्ञा का स्मरण कराया- 'पुत्रियों का लालन पालन और शिक्षा उतनी ही सावधानी और तत्परता से होनी चाहिए, जितनी पुत्रों की।' प्राचीन भारतीय परम्परा में स्त्री पुरुष में किसी प्रकार का भेद नहीं माना जाता था। दोनों को ही शिक्षा के समान अवसर प्राप्त थे। इसके प्रमाणस्वरूप हमें गार्गी, मैत्रेयी, अपाला जैसी विदुषी ऋषियों का स्मरण होता है। गार्गी ने सहस्त्रों वेदज्ञ ब्रह्मणों की सभा में याज्ञवल्क्य को ब्रह्म के सम्बंध में शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा था। अर्थात् वैदिक और औपनिषदिक युग तक तो स्त्रियों को शिक्षा व अन्य सामाजिक कार्यो के लिए स्वतंत्रता थी। यही कारण था कि उस समय समाज की आर्थिक, सामाजिक दशा भी समुन्नत थी। इसके बाद स्मृति काल में पुरोहितों ने स्मृतियों आदि सीखकर स्वार्थवश कुछ अन्य जातियों के साथ स्त्रियों को भी वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित कर दिया। फलस्वरूप भारत अवनति की ओर बढ़ता गया। हालाकि बौद्ध काल में स्त्रियों को पुन. शिक्षा का अधिकार प्रदान किया गया।

परन्तु इससे भी उनकी समस्याओं का कोई विशेष निराकरण नहीं हुआ। कारण बौद्ध भिक्षुणियाँ मठ मे रहती थीं और उन्हें बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु अन्य स्थानों पर भेज दिया जाता था। मठ में भी स्त्रियो के रहने की पृथक् व्यवस्था न होने के कारण व्यभिचार को बढ़ावा मिला। इस कारण संभ्रान्त परिवार की स्त्रियाँ इस काल मे भी शिक्षा से वंचित रहीं। इसी तारतम्य में मुगल शासकों के भारत में पदार्पण करने पर स्त्रियों की शिक्षा और स्वतंत्रता में और रुकावट आ गयी। सैकड़ों वर्षो तक भारत में स्त्रियों को शिक्षा के अधिकार से वंचित रखने का परिणाम हुआ भारत की दासता व अधःपतन। जिस समय स्वामी विवेकानन्द के मुखारबिन्द से स्त्रियों के शिक्षा सम्बंधी विचार प्रस्फुटित हुए उस समय भी भारत परतंत्र एवं अविकसित था। पाश्चात्य देशों के भ्रमण व अवलोकन के उपरांत उनका यह विश्वास था कि- 'सभी उन्नत राष्ट्रों ने स्त्रियों को समुचित

नम्मान देकर ही महानता प्राप्त की है। जो देश और राष्ट्र स्त्रियों का आदर नहीं करते, वे कभी बड़े नहीं हो पाये हैं और न भविष्य में ही कभी बड़े होंगे।'[40] उन्होंने स्त्रियों को ईश्वर की सर्वव्यापी शक्ति का स्वरूप माना। इसीलिए उन्होंने कहा 'यथार्थ शक्ति पूजक तो वह है जो यह जानता है कि ईश्वर विश्व मे सर्वव्यापी शक्ति है, और जो स्त्रियों मे उस शक्ति का प्रकाश देखता है। अमेरिका में पुरुष अपनी महिलाओं को इसी दृष्टि से देखते है और उनके साथ उत्तम बर्ताव करते है, इसी कारण वे लोग सुसम्पन्न हैं, विद्वान है, इतने स्वतत्र और शक्तिशाली हैं।' विवेकानन्द के अनुसार हमारे देश के पतन का मुख्य कारण यह है कि हमने शक्ति की इन सजीव प्रतिभाओं के प्रति आदर -बुद्धि न रक्खी। मनुस्मृति में भी स्त्रियों के सम्मान को इस प्रकार दर्शाया, गया है- 'जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं और जहाँ उनका आदर नहीं होता, वहाँ सारे कार्य और प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। जहाँ ये स्त्रियाँ उदासीन और दु खी जीवन व्यतीत करती हैं, उस कुटुम्ब या देश की उन्नति की कोई आशा नही हो सकती।'[41]

यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि स्त्रियों को भी वैसा ही सम्मान दिया जाये जैसा पुरुषों को दिया जाता है। शिक्षा, स्वतंत्रता एवं अन्य सामाजिक क्रिया कलापों में स्त्रियों की समान भागीदारी हो। 'बालकों के समान बालिकाओं को ब्रह्मचर्य पालन की शिक्षा दी जाये। बालक एवं बालिकाओं की शिक्षा के आदर्श या मूल्य समान होने चाहिए। उन लोगों को सदैव नि.सहाय अवस्था में रहने और दूसरों पर गुलाम के समान अवलम्बित रहने की शिक्षा दी जाती है। इसी कारण किंचित भी दुःख या गम का अवसर आने पर वे आँखों से आँसू बहाने के सिवाय और किसी योग्य नहीं रहतीं।'[42] चूँकि शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करती है अतः स्त्रियों को इसी अर्थ में शिक्षित किया जाये। जब उनमें यह क्षमता आ जायेगी तब वे अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझा सकेंगी। भारतीय नारियाँ भी पाश्चात्यदेशीय नारियों के समान दक्ष हैं। आवश्यकता है उन्हे अपनी दक्षता को पहचानने की।

विवेकानन्द ने स्त्रियो की शिक्षा का विस्तार धर्म को केन्द्र बनाकर करने को कहा। जिसमे धर्म के अतिरिक्त अन्य शिक्षाएं गोण होंगी। पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी चरित्र गठन व ब्रह्मचर्य पालन की शिक्षा देनी चाहिए। सतीत्व का आदर्श भारतीय नारियों का उज्ज्वल आदर्श है। अत सर्व प्रथम इस आदर्श को अन्य आदर्शो की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ किया जाए, जिससे वे चरित्रवान व निष्ठावान बने। उन्हें चरित्रवान् आदर्श महिलाओं जैसे- सीता, सावित्री आदि के चरित्र से अवगत कराया जाये। "भारतवर्ष की स्त्रियों को सीता के पद चिन्हो का अनुसरण करके अपनी उन्नति करनी चाहिए। सीता का चरित्र अनुपम है। वह सच्ची भारतीय स्त्री की जीती-जागती प्रतिमा है, क्योंकि पूर्ण विकसित नारीत्व के समस्त भारतीय आदर्श सीता के ही चरित्र से उत्पन्न हुए है। यह महामहिमामयी सीता, एव शुद्धता से भी शुद्ध, सहिष्णुता की परमोच्च आदर्श सीता आर्यावर्त के इस विस्तृत भूमिखण्ड में सहस्रों वर्ष से आबालवृद्धवनिता की आराध्या बनी हुई है।"[243] वे भारत मे पाश्चात्य नारी चरित्र अनुकरण के विपक्ष में थे। वे यह चाहते थे कि भारतीय नारियों को सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित किया जाये तो वे भी अन्य देशों की नारियो के समान देश को समुन्नत बनायेगी। तत्कालीन शिक्षा प्रणाली पर खेद प्रकट करते हुए उन्होने कहा कि इस शिक्षा प्रणाली से हमारे युवक युवतियाँ पाश्चात्य आदर्शो का अनुकरण कर रहे है। युवको से भी अधिक युवतियों के चरित्र का पतन हुआ है। इसका दुष्परिणाम नैतिक पतन हुआ है। उन्होंने स्त्रियों में त्याग और सेवा का आदर्श उत्पन्न करने की सलाह दी। विवेकानन्द के शब्दों में, "इस युग की वर्तमान आवश्यकताओं का अध्ययन करने पर यह आवश्यक दिखता है कि उनमें से कुछ को वैराग्य के आदर्श की शिक्षा दी जाए जिससे वे युग युगान्तर से अपने रक्त में संजात ब्रह्मचर्य रूप सद्गुण की शक्ति द्वारा प्रज्ज्वलित होकर आजीवन कुमारी व्रत का पालन करें। हमारी जन्मभूमि को अपनी समुन्नति के लिए अपनी कुछ संतानों को विशुद्धात्मा ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी बनाने की आवश्यकता है।"[244] उनका विश्वास था कि यदि स्त्रियों में से एक भी ब्रह्मज्ञानी हो गयी, तो उसके व्यक्तित्व के तेज से सहस्रों स्त्रियाँ स्फूर्ति प्राप्त करेंगी और सत्य के प्रति जागृत हो जाएंगी। इससे देश और समाज का कल्याण होगा। उन्होंने कहा कि "किसी भी राष्ट्र की प्रगति का सर्वोत्तम थर्मामीटर

है, वहाँ की महिलाओं के साथ होने वाला व्यवहार।[45]

स्त्रियों को शिक्षा देने के लिए सुशिक्षित और सच्चरित्रवती ब्रह्मचारिणियाँ शिक्षा कार्य का भार वहन करे। ये विवाहित अथवा अविवाहित अथवा विधवा कोई भी हो सकती है, किन्तु उच्च चरित्र परमआवश्यक है। केवल धनोपार्जन के लिए शिक्षण कार्य ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है। ये स्त्रियाँ ग्रामों और शहरों मे केन्द्र खोलकर स्त्री शिक्षा के प्रचार का प्रयत्न करे। ऐसे सच्चरित्र, निष्ठावान उपदेशिकाओं के द्वारा देश मे स्त्री शिक्षा का यथार्थ प्रचार होगा।

स्त्री-शिक्षा के पाठ्यक्रम मे विवेकानन्द ने इतिहास और पुराण, गृह-व्यवस्था और कला कौशल, गार्हस्थ्य जीवन के कर्तव्य ओर चरित्र गठन के सिद्धान्तों की शिक्षा पर विशेष बल दिया। 'और दूसरे विषय, जैसे सीना, पिरोना, गृहकार्य-नियम, शिशु-पालन आदि भी सिखाये जाएंगे। जप,पूजा और ध्यान शिक्षा के अनिवार्य अंग होंगे। दूसरे गुणों के साथ उन्हें शूरता और वीरता के भाव भी प्राप्त करने होंगे।'[46]

इन सबके साथ साथ पुरुषों के समान स्त्रियों को भी शारीरिक शिक्षा दी जानी चाहिए। ताकि वे स्वय अपनी रक्षा कर सकें और निर्भय होकर सब कहीं घूम-फिर सकें। 'आधुनिक युग में इन्हे आत्मरक्षा के भी उपाय सीख लेना आवश्यक हो गया है। झाँसी की रानी कैसी अपूर्व थी? बस, इसी प्रकार हम भारत वर्ष के कार्य के लिए सघ मित्रा, लीला, अहल्यावाई और मीराबाई के आदर्शो को चरितार्थ करने वाली तथा अपनी पवित्रता, निर्भयता और ईश्वर के पादस्पर्श द्वारा प्राप्त शक्ति के कारण वीर माता बनने योग्य महान निर्भय स्त्रियों को सामने लाएंगे। हमे यह भी देखना होगा कि वे समय पर गृह की माता बनें।'[47] ऐसी सद्‌गुणी माताओं की सन्तानें इन सद्‌गुणो की और वृद्धि कर देश को समुन्नत बनायेंगे। शिक्षित और धार्मिक माताओं के घर में ही महापुरुष जन्म लेते हैं।

विवेकानन्द ने लिखा है, 'मेरे जीवन की महत्वकाक्षा है कि इस तरह के साधन निर्माण किए जाने चाहिए, जिनके द्वारा भारत के घर घर मे उच्च एव महान आदर्श पहुँच सके। उसके बाद स्त्री पुरुष स्वय ही अपने भविष्य का निर्माण कर सकते है। प्रत्येक भारतीय को यह ज्ञान रहे कि जीवन के महान प्रश्नों पर उसके पूर्वजों तथा अन्य राष्ट्रों के विद्वानों के क्या विचार है? विशेषकर इस बात का ज्ञान हो कि आज ससार क्या कर रहा है, ओर फिर वह अपने कार्य की शिक्षा को निश्चित करे।'[148]

सारांश मे हम कह सकते है कि विवेकानन्द ने राष्ट्र की उन्नति मे स्त्रियों के योगदान को पुरुषों के समान महत्व देते हुए उन्हे सुशिक्षित किया जाना आवश्यक बताया। इतिहास, पुराण, गृह-विज्ञान, कला-कौशल, शारीरिक शिक्षा के साथ जप, पूजा तथा ध्यान की शिक्षा भी दी जाये। उन्हे आत्म रक्षा हेतु साहस व शूरता का गुण भी सिखाया जाये। स्त्रियों की शिक्षा स्त्री-उपदेशिकाओ द्वारा ही दी जाये। गॉव तथा शहरो मे जहॉ शिक्षा की सुविधाए न हों वहॉ उपदेशिकाएं जाकर शिक्षा केन्द्र की स्थापनाकर महिलाओं को शिक्षित करें। क्योंकि सच्चरित्र व सुशिक्षित माताएं ही सद्गुणी संतानें उत्पन्नकर देश को महान बना सकती है।

जन शिक्षा

किसी भी राष्ट्र की प्रगति का द्योतक वहाँ की साधारण जनता होती है। 'देश उसी अनुपात मे उन्नत हुआ करता है, जिस अनुपात मे वहाँ के जन समुदाय मे शिक्षा और बुद्धि का प्रसार होता है।'[49] भारत की पतनावस्था का कारण बताते हुए विवेकानन्द ने कहा कि भारत में कुछ इने गिने लोगों ने देश की सम्पूर्ण शिक्षा और बुद्धि पर एकाधिपत्य कर लिया। परिणामस्वरूप गरीब और निम्नवर्ग के लोग अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सके। वे अपने कर्तव्य को भी नहीं जान पाए। वे यह भी भूल गये कि वे भी मनुष्य है और इसी अज्ञान व अविद्या का परिणाम हुआ अध पतन । अत राष्ट्र के खोये हुए व्यक्तित्व का विकास करने का एकमेव उपाय है जन शिक्षा। विवेकानन्द ने तो इस अभाव को महान राष्ट्रीय पाप की संज्ञा दी है। 'हमारा महान राष्ट्रीय पाप है जन समुदाय की उपेक्षा करना, और यही हमारे अध पतन का कारण है। राजनीति चाहे जितनी अधिक मात्रा में रहे, पर उससे तब तक कोई लाभ न होगा, जब तक भारत वर्ष की जनता पुन एक बार सुशिक्षित न हो जाए।'[50]

इस विचार से स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि शिक्षा गरीबों तक पहुँचे वे चाहे खेत जोतने वाले हों, चाहे फैक्टरी में काम करने वाले हों अथवा अन्य कहीं भी हों। गरीब, नीच तथा असहाय लोगों का इस देश में कोई मित्र नही है, उन्हें कोई सहायता देने वाला नहीं है, वे ऊपर नहीं उठ सकते, वे प्रतिदिन नीचे गिरते जाते हैं, वे एक क्रूर समाज की चोटों का प्रतिदिन प्रहार अनुभव करते रहते हैं। परन्तु वे यह नहीं जानते कि ये आघात कहाँ से आ रहे हैं? विवेकानन्द विचार में वह प्रत्येक मनुष्य देशद्रोही है जो इन पीड़ित मनुष्यों के व्यय से शिक्षित हुआ है और उनकी उन्नति की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता।

विवेकानन्द के ये विचार वर्तमान जनतांत्रिक व्यवस्था के भी अनुकूल हैं। उन्होंने जन समुदाय को शिक्षा द्वारा व्यावहारिक तथा अध्यात्मिक सत्यों को अन्वेषित करने

की अपील की उनके सामने विचारों को रक्खा जाये। उनके चारों ओर संसार में जो कुछ हो रहा है उसको सिर्फ बताया जाये, जिससे वे अपनी मुक्ति का कार्य स्वय कर सकें। 'हमारा काम है भिन्न भिन्न रासायनिक द्रव्यों को एक साथ रख देना, और रवे बनाने का कार्य प्रकृति के नियम के द्वारा ही सम्पन्न हो जाएगा।'[51]

चूंकि भारत की अधिकाश जनता गावों तथा झोपड़ियों मे निवास करती है अत शिक्षित लोग देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाएं, और गॉव गॉव में जाकर लोगों को स्वविकास हेतु जागृत करने के लिए उन्हें उनकी यथार्थ अवस्था का परिचय करायें। उन्हे अपनी अवस्था सुधारने के लिए प्रेरित करें। शास्त्रों में निहित उदात्त सत्यों को विशद रूप से सरलतापूर्वक समझायें। उनके मन मे यह बात स्थिर कर दें कि ब्राह्मणों के समान उनका भी धर्म पर वही अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी रुचि तथा जीवन के लिए आवश्यक विषयों, वाणिज्य - व्यापार तथा कृषि आदि की भी शिक्षा दी जाये। शताब्दियों से ऊँची जाति वालों, राजाओं तथा विदेशियों के असह्य अत्याचारों द्वारा निम्न वर्ग के व्यक्तियों की शक्तियों का क्षय हो गया है। अत: उनकी शक्तियों को पुन प्राप्त कराना हमारा प्रथम कर्तव्य है। इसके लिए वेदान्त के आदर्श को जन जन तक पहुँचाना होगा। वेदान्त के जो तत्व अब तक जंगलों तथा गुफाओं तक ही सीमित थे उन्हें अब न्यायालयों, प्रार्थना मंदिरों एवं गरीबों के झोपड़ों में प्रवेश कराना होगा वेदान्त के ये संदेश कि ' मै आत्मा हूँ, मुझे तलवार काट नहीं सकती, शस्त्र छेद नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, वायु सुखा नहीं सकती, मै सर्वशक्तिमान हूँ, मै सर्वदर्शी हूँ', प्रत्येक नर नारी तक पहुँचाने होंगे। जिससे वे अधिक श्रेष्ठतापूर्वक अपना कार्य कर सकें।

जन शिक्षा का कार्य सिर्फ उनके लिए विद्यालय खोल देने से ही पूरा नहीं हो जाता। उनके लिए नि.शुल्क शिक्षा व्यवस्था के साथ-साथ गणवेश तथा शिक्षण सामग्री आदि का भी प्रबंध करना होगा। चूंकि गरीब बच्चे पाठशाला में जाने की अपेक्षा अपने पिता की सहायता करना या खेत में जाना या जीविका हेतु अन्य कोई धन्धा करना पसंद करेंगे, अत. शिक्षा को ही उनके पास ले जाना होगा।

विवेकानन्द ने इस कार्य को निष्ठावान, स्वार्थ त्यागी सन्यासी द्वारा किए जाने का समर्थन किया। उनका मानना था कि सन्यासी का कार्य सिर्फ अपनी मुक्ति ही नहीं है अपितु जगत का हित भी है। जो सन्यासी एक ग्राम से दूसरे ग्राम में घूमते हुए धर्मोपदेश देते फिरते हैं उनके लिए यह पहले आवश्यक है कि वे एक दरवाजे से दूसरे दरवाजे जाकर उन्हे भौतिक विषयों जैसे- ज्योतिष, भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि की शिक्षा प्रदान करें। कुछ लोग सध्या समय अपने साथ मैजिक लैन्टर्न, ग्लोब तथा नक्शे लेकर गॉव में जाये और अशिक्षित लोगों को ज्योतिष व भूगोल का ज्ञान दें। विभिन्न देशों की कहानियॉ सुनाकर उन्हे सौ गुना अधिक जानकारी दे सकते हैं। इतनी जानकारी वे जन्म भर पुस्तकें पढ़कर भी नहीं प्राप्त कर सकते। आधुनिक विज्ञान की सहायता से उनके ज्ञान को प्रज्वलित कर दें। साथ साथ धर्म के गम्भीर सत्यों की भी शिक्षा दें।

विवेकानन्द के समय में अंग्रेजी शासन होने के कारण मातृभाषा के स्थान पर आंग्लभाषा का प्रभुत्व बढ़ रहा था। जिसे साधारण लोग नहीं सीख सकते थे। अतः उन्होंने जन साधारण की शिक्षा उनकी मातृभाषा द्वारा ही जाने की सिफारिश की। उनके शब्दों में - 'जनसाधारण को उनकी निजी भाषा में शिक्षा दो। उनके सामने विचारों को रखो, वे जानकारी प्राप्त कर लेंगे- पर और भी कुछ आवश्यक होगा। उन्हें संस्कृति दो। जब तक तुम उन्हें संस्कृति न दोगे, तब तक उनकी उन्नत दशा कोई स्थायी रूप प्राप्त नहीं कर सकती।'[52]

मातृभाषा में शिक्षा प्रदान करने के साथ साथ संस्कृत शिक्षा भी दी जाये। क्योंकि संस्कृत भाषा मे हमारे अमूल्य तत्व सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत शब्दों की ध्वनि मात्र से हमारी जाति को प्रतिष्ठा, बल और शक्ति प्राप्त होती है। उन्होंने स्पष्ट किया कि यदि जन साधारण को संस्कृत भाषा की शिक्षा नहीं दी जायेगी तो उन्हें प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी, तब एक और जाति पैदा हो जाएगी, जो संस्कृत भाषा जानने के कारण शीघ्र ही औरों की अपेक्षा ऊँची उठ जायेगी। उन्होंने बताया कि 'भगवान

बुद्ध ने भी यह भूल की थी कि उन्होंने जनता मे संस्कृत शिक्षा का विस्तार बद कर दिया। वे शीघ्र और तात्कालिक परिणाम चाहते थे। इसलिए उन्होंने 'पाली' भाषा मे सस्कृत भाषा में निबद्धभावों का भाषान्तर करके उनका प्रचार किया। यह बहुत ही सुंदर हुआ। वे जनता की भाषा में बोले और जनता ने उनकी बात को समझा। इससे उनके भाव बहुत ही शीघ्र फैले और बहुत दूर-दूर तक पहुँचे। पर इसके साथ ही सस्कृत का भी प्रचार होना चाहिए था। ज्ञान तो प्राप्त हुआ, पर उसमे प्रतिष्ठा नहीं थी।[53]

वे चाहते थे कि शास्त्र ग्रथों मे आध्यात्मिकता के जो रत्न विद्यमान है वह कुछ मनुष्यों के अधिकार की ही वस्तु न रह जायें बल्कि भारत के प्रत्येक मनुष्य की - सार्वजनिक सम्पत्ति बन जाए।

अद्वैत वेदान्त के समर्थक होने के कारण विवेकानन्द यह मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य में ज्ञान का अनंत भण्डार अवस्थित है। अतर इतना है कि जिस व्यक्ति का अज्ञान रूपी आवरण जितना हट जाता है वह उतना ज्ञानी हो जाता है। उच्च वर्गवालों को चाहिए कि वे निम्नवर्ग वालों को उनके समुचित हक की प्राप्ति में सहयोग दे। उन्हें प्रेम से समझाएं 'तुम हमारे भाई हो, हमारे शरीर के अंग हो'। यदि वे इस प्रकार की सहानुभूति पा जाएं, तो उनका कार्य करने का उत्साह सौ गुना बढ़ जाएगा।

बड़े कार्य करने के लिए विवेकानन्द ने तीन बातों की आवश्यकता बताई। प्रथम है हृदय अनुभव की शक्ति। हृदय तो महाशक्ति का द्वार है, अन्त. स्फूर्ति वहीं से आती है। दूसरी आवश्यकता अनुभूत समस्याओं को दूर करने के लिए उपाय। अर्थात् यथार्थ कर्तव्य पथ निश्चित करना। तीसरी आवश्यकता है दृढ संकल्प, कितनी ही विघ्न-बाधाएं आने पर हम अपने निर्दिष्ट लक्ष्य पर पहुँचने के लिए कृत संकल्प वाले रहे। जैसा कि राजा भर्तृहरि ने कहा है 'चाहे नीति निपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी आए या जहाँ उसकी इच्छा हो चली जाए, मृत्यु आज हो या सौ

वर्ष बाद, धीर पुरुष तो वह है जो न्याय के पथ से तनिक भी विचलित नहीं होता।'[53]

जिस व्यक्ति मे उपरोक्त तीन गुण हैं वह संसार के प्रत्येक अद्‌भुत कार्य कर सकता है। गरीब और निम्न वर्ग के मनुष्यों को दरिद्रनारायण कहते हुए विवेकानन्द ने इनकी शिक्षा का भार उच्च वर्ग के लोगों पर सौंपा। इन लोगों को उपरोक्त तीन गुणों से युक्त होना आवश्यक है। उन्होंने कहा कि इन दरिद्रनारायण को ईश्वर समझकर निरन्तर इन्हीं का ध्यान करो, उनके लिए कार्य करो, उनके लिए निरन्तर प्रार्थना करो। सदकार्य करने के लिए ईश्वर भी मार्ग दिखाएगा। और इस प्रकार कर्म को ही उपासना समझकर निरत सेवा कार्य करते रहो।

सारांशतः हम कह सकते हैं कि विवेकानन्द का जन शिक्षा का आधार वेदान्त की समानता की धारणा है। वेदान्त के जो सिद्धान्त अब तक जंगलों व गुफाओं तक ही सीमित थे उन्हें विवेकानन्द ने जन-जन तक पहुँचाने का आह्वान किया। उन्होंने प्रत्येक आत्मा को अव्यक्त ब्रह्म बताया। तथा प्रत्येक मनुष्य को अनंत ज्ञान सम्पन्न मानते हुए उसके ऊपर से अज्ञान आवरण को हटाने की बात पर बल दिया। उन्होंने प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का कर्तव्य बताया कि वे लाखों भूखों तथा मूर्खों को शिक्षा देकर मुक्ति के पथ पर प्रशस्त करें। उन्होंने कहा 'दरिद्रदेवोभव', 'मूर्खदेवोभव' अर्थात् दरिद्रों के देवता बनो और मूर्खो के देवता बनो अर्थात् इनकी सेवा करो ओर उन्हें कष्टों से मुक्त करो। इस प्रकार सम्पूर्ण राष्ट्र को समुन्नत बनाने के लिए वे जन साधारण को मातृभाषा तथा संस्कृत-शिक्षा द्वारा शिक्षित करना परम आवश्यक मानते हैं।

*****

सन्दर्भ

1- शिक्षा , स्वामी विवेकानन्द , रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1989

2- वही, पृ0 6-7

3- वही, पृ0 2

4- वही, पृ0 4

5- वही, पृ0 1

6- वही, पृ0 9

7- वही, पृ0 8

8- शिक्तिदायी विचार, स्वामी विवेकानन्द, पृ0 5

9- शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्णमठ, नागपुर, 1989 पृ0 17

10- वही, पृ0 18

11- वही, पृ0 20

12- द कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, मायावती आश्रम, अल्मोड़ा, खण्ड 3, पृ0 246

13- वही, पृ0 224

14- वही, पृ0 242

15- शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्णमठ नागपुर 1989, पृ0 49

16- द कम्प्लीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3, पृ0 368-9

17- शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1989 पृ0 23

18- वही, पृ0 25

19- विवेकानन्द साहित्य खण्ड 5, 1989, पृ0 368-9

20- शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्णमठ नागपुर, 1989, पृ09

21- विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 6, 1989, पृ0 6, 37, 124

22- वही, पृ0 38-9

23- शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द, एवं राम कृष्णमठ, नागपुर 1989, पृ0 32

24- विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 8, अद्वैत आश्रम, डिही ए0 टाली रोड, कलकत्ता, 1989 पृ0 269

25- शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्णमठ, नागपुर पृ0 74

26- वही, पृ0 33-34

27- वही, पृ0 34-35

28- वही, पृ0 36

29- वही , पृ0 37-38

30- विवेकानन्द साहित्य खण्ड 6, अद्वैत आश्रम, डिही ए0 टाली रोड, कलकत्ता 1989 पृ0 85-86

31- वही, खण्ड 9, पृ0 29

32- वही, खण्ड 8, पृ0 231

33- शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्णमठ, नागपुर, 1989 पृ0 73-74

34- वही, पृ0 52

35- वही, पृ0 74

36- वही, पृ0 5

37- वही, पृ0 32

38- युगनायक विवेकानन्द, स्वामी गभीरानन्द, खण्ड 3, 1994, पृ0 9

39- शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1989, पृ0 18

40- वही, पृ0 69

41- शिक्षा संस्कृति और समाज, स्वामी विवेकानन्द, 1985 पृ0 47-48

42- शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्णमठ, नागपुर 1989 पृ0 65

43- वही, पृ0 46

44- शिक्षा, सस्कृति और समाज, स्वामी विवेकानन्द, 1985, पृ0 49-50

45- विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 1, 1989, पृ0 324

46- शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द, 1989, पृ0 67

47- वही, पृ0 68

48- शिक्षा, संस्कृति और समाज, स्वामी विवेकानन्द, 1985, पृ0 53

49- शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द, राम कृष्णमठ नागपुर, 1989, पृ0 69

50- वही

51- वही, पृ0 60

52- वही, पृ0 71

53- वही

xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

डा0 एनी बेसेण्ट के शैक्षिक आदर्श

xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

शिक्षा का तत्व

जिस समय श्रीमती बेसेण्ट ने भारत मे पदार्पण किया उस समय यहाँ पर अंग्रेजी शासन व अंग्रेजी शिक्षा का बोलबाला था। भारत की भौतिक विचारवदी जनता अपने देश की आध्यात्मिक विचार धारा को त्याग कर क्षणिक सुख-सम्पत्ति की ओर आकृष्ट होने लगी थी। चूँकि श्रीमती बेसेण्ट उसी देश की निवासी थीं जिस देश का यहाँ शासन था, अत वह उनकी चाल को भली भाँति समझती थीं। शिक्षा के क्षेत्र में वे जो कुछ भी करते थे उसके पीछे उनका ही स्वार्थ रहता था भारतीयों का हित नहीं। इसका दुष्परिणाम वही हुआ जो अंग्रेज चाहते थे, भारतीय जनता अपनी ही संस्कृति एवं शिक्षा को घृणा की दृष्टि से देखने लगी और अपने गौरवमय अतीत को विस्मृत करने लगी। वह अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजी वेशभूषा व अंग्रेजी खानपान को भौतिक उन्नति के लिए आवश्यक मानने लगी। धीरे-धीरे अंग्रेजी शिक्षा वाले विद्यालयों में भारतीय बच्चों की संख्या बढ़ने लगी। और शिक्षा का जो प्राचीन व विस्तृत स्वरूप था उसका लोप होने लगा। अंग्रेजी शिक्षा का मात्र उद्देश्य था सूचनाओं व तथ्यों को कंठस्थ करना, अंग्रेजी साहित्य, कला व इतिहास का अध्ययन करना व परीक्षा में अपने कंठस्थ ज्ञान का प्रदर्शन कर प्रमाण पत्र या उपाधि प्राप्त कर सरकारी नौकरी हासिल करना।

शिक्षा के इस स्वरूप को देख कर श्रीमती बेसेण्ट को बहुत क्षोभ हुआ और उन्होंने कहा -

आज कल भारत में शिक्षा उपाधि प्राप्ति है। शिक्षा असफल होती है जबकि बहुत से असयुक्त तथ्यों के द्वारा बालक का मस्तिष्क केवल रट कर भर दिया जाता है और तथ्य इस प्रकार डाला जाता है जैसे रद्दी टोकरी में फालतू कागज फेंके जाते हैं, और इन्हें परीक्षा भवन में उलट कर खाली कर दिया जाता है तथा बालक खाली टोकरी (मस्तिष्क) लेकर संसार में जाता है। यह अच्छी शिक्षा नहीं है।'

शिक्षा क्या है इसको स्पष्ट करते हुए वह कहती है कि शिक्षा इस प्रकार केवल तथ्यों को प्रदान करना नहीं है बल्कि वह तो बालक के बहुमुखी विकास का साधन है, उसे ऐसे तथ्यों से युक्त करना है जो जीवन में उपयोगी है और भावी जीवन मे भी काम आवे तभी वह अपना विकास कर आगे बढ़ सकेगा। उन्हीं के शब्दों मे

'शिक्षा के द्वारा बालक की सभी आन्तरिक क्षमताओं को उसकी प्रकृति के प्रत्येक पक्ष मे बाहर प्रकट करना है, उसमें प्रत्येक बौद्धिक और नैतिक शक्ति का विकास करना है, और उसे शारीरिक, भावात्मक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक तौर पर शक्ति प्रदान करना है ताकि वह अपने विद्यालयीय जीवन की समाप्ति पर एक उपयोगी देशभक्त, पवित्र और सज्जन व्यक्ति बनें, जो अपने आप का तथा अपने चहुँ ओर रहने वाले का आदर करे'। [2]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि श्रीमती बेसेण्ट शिक्षा को व्यक्तिगत एवं सामाजिक विकास का साधन मानती है। व्यक्ति का बौद्धिक , आत्मिक, भावात्मक व शारीरिक विकास सामाजिक-परिप्रेक्ष्य मे होना चाहिए क्योंकि समाज के बिना मनुष्य के अस्तित्व की कोई सम्भावना नहीं। समाज के साथ साथ राष्ट्रीय हित भी उतना ही महत्वपूर्ण है । जो शिक्षा सिर्फ व्यक्तिगत विकास व लाभ प्रदान करती हो, समाज और राष्ट्र का कल्याण न करती हो, उसे तुरत हटा देना चाहिए। इसीलिए उन्होंने भारत में आने पर सबसे पहला कार्य शिक्षा मे सुधार लाने हेतु भारत के प्राचीन आदर्शो के अनुरूप विद्यालयों की स्थापना की और अपने वक्तव्यों में शिक्षा के वास्तविक अर्थ को बताते हुए तद्नुरूप शिक्षा सस्थाएं खोलने के लिए जनता को प्रोत्साहित किया।

श्रीमती एनी बेसेण्ट के अनुसार-

' बालक एक दैवी प्राणी है वह अनेक जन्मों के सस्कार अपने साथ लेकर आता है। इसलिए उसे अवसर प्राप्त होना चाहिए, जिससे वह अपनी अन्तर्निहित क्षमताओं

एव योग्यताओं को विकसित कर सके। पुस्तकीय ज्ञान छात्र में भरना अज्ञानता है। इसे तो वह कभी भी पुस्तकालय की पुस्तकों को पढ़कर प्राप्त कर सकता है।[3]

एनी बेसेण्ट ने शिक्षा को ऐसा ज्ञान व विकास माना है जिसका सम्बंध एक ओर आत्मा तथा दूसरी ओर इस ससारसे है। अत शिक्षा व्यक्ति के निर्माण की क्रिया है जो उसे आध्यात्मिक एवं सासारिक , दैवी एव लौकिक ज्ञान प्रदान करती है जिससे व्यक्ति आत्मा व जगत् के मध्य सहजता से सामंजस्य स्थापित कर सकता है। इस प्रकार शिक्षा के प्रति श्रीमती बेसेण्ट का दृष्टिकोण आदर्शवादियों एव व्यवहारिवादियों से मिलता है।

श्रीमती एनी बेसेण्ट के जीवन तथा उनके जीवन दर्शन को जानने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे धार्मिक व आध्यात्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं। और थियोसोफिकल सोसायटी मे सम्मिलित होने पर उनकी इस प्रवृत्ति का विशेष विकास हुआ। इसी कारण वह शिक्षा को भी उसी दृष्टिकोण से देखती थीं। जब उन्होंने शिक्षा को आन्तरिक शक्तियों तथा क्षमताओं का विकास कहा तो इसका कारण भी बताया। पुर्नजन्म के सिद्धान्त मे विश्वास करने के कारण उनका मानना था कि मनुष्य की शक्तियाँ आत्मा में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है। चूंकि आत्मा अमर है अत. जन्म व पुर्नजन्म के कारण ये शक्तियाँ क्रमश. विकसित होती जाती है। उनका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा के तीन कोष होते हैं- मनोमय कोष , प्राणमय कोष तथा अन्नमय कोष ये कोष क्रमश बौद्धिक , भावात्मक व शारीरिक शक्तियों के केन्द्र माने जाते हैं। अत. शिक्षा का कार्य मनुष्य को इन कोष के प्रति सजग करते हुए उन्हें पुष्ट करना है जिससे वह ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक अनुभव हासिल कर सके। आधुनिक मनोविज्ञान भी व्यक्तित्व के विकास में इन तीनों पक्षों के विकास को स्वीकारता है। पाश्चात्य जगत् के आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री प्लेटो ने भी मानवीय आत्मा के निमार्ण के लिए विवेक, इच्छाशक्ति तथा तृष्णा को आवश्यक बताया। बौद्विक विकास हेतु विवेक, भावात्मक विकास हेतु इच्छाशक्ति

तथा शारीरिक विकास हेतु तृष्णा। विवेक का गुण ज्ञान एव न्याय है जो मनुष्य के मस्तिष्क से सम्बंधित है, इच्छाशक्ति हृदय मे स्थित है जिसका गुण धैर्य है तथा तृष्णा व्यक्ति की नाभि मे स्थित है जिसका गुण है सयम। इन तीनों तत्वों व उनके गुणों के सम्मिलित क्रियान्वयन से व्यक्ति उन्नति करता है और आत्मा उच्च स्थान को प्राप्त करती है।

डा0 एनी बेसेण्ट ने सिद्धान्त रूप मे शिक्षा को विज्ञान माना है अत· विज्ञान की भॉति क्रमवत् एवं विधिवत् व्यवस्था द्वारा शिक्षण आवश्यक बताया है। बालक में जो क्षमताएं व शक्तियॉ हैं उनका सम्पर्क ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाह्य वातावरण के साथ होता है । फलत ज्ञान की प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान बाहर से नहीं आता अपितु बालक के अन्दर स्थित सुप्त शक्तियों के जागरण से आता है। प्रसुप्त शक्तियों को जाग्रत करना ही शिक्षा है।

भारतीयों को शिक्षा में उनके आदर्शो की स्मृति दिलाते हुए डा0 बेसेण्ट ने जोरदार शब्दो में शिक्षा तथा सस्कृति का सम्बध बताते हुए कहा-

'जन्मजात क्षमताओं और शक्तियों का बाह्य प्रकाशन और प्रशिक्षण शिक्षा है, जो शक्तियॉ पूर्व जन्म से प्राप्त होती हैं और देवलोक में विकसित होती हैं, जो (शक्तियॉ) पुनर्जन्म लेने वाली जीवात्मा के बौद्विक पक्ष विज्ञानमय को में सूक्ष्म रूप मे विद्यमान रहती है। ---- संस्कृति ज्ञान के निश्चित रूपों का मन पर डाला गया परिणाम (प्रभाव) है।'[4]

अर्थात् शिक्षा द्वारा व्यक्ति के व्यवहार , विचार व क्रियाशीलता में जो परिवर्तन आता है वह संस्कृति है। शिक्षा का प्रभाव व्यक्ति के सस्कारों पर पड़ता है जैसे जैसे संस्कारों की ऊर्ध्वगति होती है वे संस्कृति में बदल जाते है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी

ने ठीक ही कहा है- 'सस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है।' अत हम कह सकते है कि शिक्षा जन्म जन्मान्तर मे आगे बढ़ने के लिए प्रयास है और इस प्रयास का परिणाम है सस्कृति। अर्थात शिक्षा कारण है और सस्कृति परिणाम। डा0 सत्यकेतु ने चिन्तन द्वारा जीवन को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के प्रयास के परिणाम को सस्कृति कहा है।

डा0 बेसेण्ट के अनुसार 'सस्कृति के प्रमुख साधन साहित्य व कला है। अर्थात् इनके माध्यम से सस्कृति प्रतिबिम्बित होती है । शिक्षा द्वारा साहित्य व कला में अभिरुचि रखने वाले बच्चों को पहचान कर उनको प्रशिक्षण दिया जाता है ताकि वे संस्कृति निर्माण मे उचित योगदान दे सके। विज्ञान व तर्क शिक्षा के क्षेत्र व पथ प्रदर्शक अवश्य है' परन्तु सस्कृति का प्रभाव भी शिक्षा पर पड़ता है। सस्कृति का कारण मानव का प्राकृतिक जीवन है, उसका अन्र्तज्ञान है। संस्कृति के कारण व्यक्ति अपनी निम्न इच्छाओं को सुंदर वातावरण के मध्य अच्छे व्यक्तियों एवं वस्तुओ के सम्पर्क में लाकर स्वस्थ संवेगों में परिष्कृत करता है तथा उनका व्यावहारिक प्रयोग सीखता है। फलस्वरूप साहित्य कला आदि का विकास होता है। जीवन में सौदर्य का विकास भी संस्कृति के द्वारा सम्भव है। यही प्राचीन भारतीय शिक्षा का आदर्श रहा है जिस आदर्श को पुन· शिक्षा द्वारा प्राप्त कराया जा सकता है। अत. शिक्षा का कार्य है आदर्श संस्कृति से विभूषित व्यक्ति का निर्माण करना जिसमें आत्म नियंत्रण , सौन्दर्य, कलाप्रियता, विकास के लिए प्रयत्नशीलताआदि गुण हों।

शिक्षा के उद्देश्य [सिद्धांत]

ब्रह्म विद्या के अनुसार मनुष्य एक दैवी शक्ति है जिसका निर्माण स्थूल-शरीर, छाया शरीर, प्राण, वासना शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा इन सात तत्वों से हुआ है। इसमें प्रारम्भ के चार तत्व निम्न एव नश्वर तत्व है तथा मन, बुद्धि और आत्मा अनश्वर तत्व है। वेदान्त में इन्हीं सात तत्वों का विभाजन जीव-जीवात्मा तथा आत्मा के रूप में किया गया है। चूँकि मनुष्य परमात्मा का एक अंश, दिव्य ज्योति की चिनगारी है अतः उसे अपने इस दिव्य अंश का ईश्वरीय परिपूर्णता को प्रतिबिम्बित करते हुए विकास करना है। अधिकांश व्यक्तियों में इन सात तत्वो में से कुछ ही तत्व विकसित हो पाये हैं, शेष अभी सुप्तावस्था मे ही है। जिस व्यक्ति के जितने तत्व विकसित हो जाते हैं उसकी चेतना उन्हीं के माध्यम से कार्य कर सकती है। अत शिक्षा का कार्य मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियों तथा क्षमताओं का पता लगाकर उनका उचित दिशा मे विकास एव प्रशिक्षण करना है जिससे मानवीय विकास के वर्तमान चक्र में अधिकाधिक व्यक्ति निम्न लोकों से क्रमश· उच्चतर लोकों के ज्ञान प्राप्त कर अत मे आत्मज्ञान प्राप्त कर सके जो मानव जीवन का अतिम उद्देश्य है।

डा0 बेसेण्ट ने इन सात तत्वों के अनुसार शिक्षा के चार प्रमुख उद्देश्य बताये है- शारीरिक विकास, संवेगात्मक विकास, बौद्विक विकास एवं आध्यात्मिक विकास।

[1] शारीरिक विकास

भौतिक जगत या भूलोक के ज्ञान के लिए मनुष्य के स्थूल शरीर या भौतिक शरीर के अंग प्रत्यंगों तथा उनके विकास के प्राकृतिक नियमों का ज्ञान देना शिक्षा का प्रथम उद्देश्य है। शरीर के विभिन्न अंगों का शरीर संचालन में क्या उपयोग है इसका ज्ञान देना तथा विभिन्न अंगों के बीच तालमेल रखने का प्रशिक्षण देना शिक्षा का कार्य है। जिससे मनुष्य सतुलित व सुनियंत्रित शरीर धारण करते हुए धार्मिक, मानसिक व नैतिक क्रियाएं कर सकें।

शारीरिक विकास का यह वैयक्तिक पक्ष हुआ। दूसरा पक्ष जिसे हम सामाजिक पक्ष कह सकते है वह यह है कि इस प्रकार शरीर की विभिन्न शक्तियों का विकास करके हम सम्पूर्ण सृष्टि के विकास की योजना मे सहायता दे रहे हैं।

बालक के विकास की अवस्थानुसार उसे शरीर के विभिन्न अंगों तथा इन्द्रियों के विकास का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए । यथा - ¹ । वर्ष से 7 वर्ष के बालकों की शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य इन्द्रियों का विकास तथा उसे उचित दिशा में प्रशिक्षित करना होना चाहिए, वह वाह्य संवेदनाा के कम्पों का अपनी इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर सके।' [5]

|2| मानसिक विकास

इस उद्देश्य के अन्तर्गत बालक की मानसिक शक्तियों का विकास करना है जिससे वह अपनी विकास प्रक्रिया को सुगम बना सके। उसकी निरीक्षण शक्ति, स्मृति, समन्वयात्मक क्षमता, तर्क, निर्णय क्षमता, तथा विचारों की स्पष्टता को विशेष रूप से विकसित एवं प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। इन शक्तियों के विकास को शिक्षा के सिद्धान्त स्वरूप ग्रहण करना चाहिए। इन क्षमताओं के विकास से बालक अपने वर्तमान जीवन मे आने वाली समस्याओं से बुद्धिमत्ता पूर्वक सामना करते हुए जीवन को अग्रगति देगा। इससे समाज को भी विकास क्रम में सहायता मिलेगी। बौद्धिकक्षमता के विकसित होने पर मनुष्य यह समझ सकेगा कि समाज किस प्रकार विकास करते हुए वर्तमान स्थिति में आया है और आगे उन्नति किस प्रकार होगी इसका भी चित्र उसके मस्तिष्क में आ जाता है।

|3| संवेगात्मक विकास

बालक के विकास की किशोरावस्था में संवेगों का विकास द्रुत गति से होता है। यही अवस्था इतनी नाजुक होती है कि यदि शिक्षा द्वारा संवेगों का उचित दिशा

मे विकास न किया गया तो व्यक्ति का विकास असतुलित हो जाता है। शिक्षा के इस उद्देश्य मे बालक के संवेगों तथा कल्पनाओं को उचित प्रशिक्षण दिया जाता है। नैतिक शिक्षा को आधार बनाकर मानवीय चरित्र को उत्कृष्ट बनाना होता है। प्रेम, सेवा, सहानुभूति, सम्मान, त्याग, परोपकार आदि सद्गुणों द्वारा संवेगों को नियंत्रित किया जाता है।

(4) आध्यात्मिक विकास

चूंकि मनुष्य एक दैवी प्राणी है। उसके निर्माण के सात तत्वों मे 'आत्मा' तत्व अनन्त व अनश्वर है क्योंकि वह परमात्मा का अश है। अत मनुष्य की शिक्षा का अतिम व सर्वोच्च उद्देश्य 'आत्मा' की अनुभूति करना है। इसका ज्ञान न तो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, न बुद्धि द्वारा और न ही अन्य किस इन्द्रिय द्वारा हो सकता है। क्योंकि वह अतीन्द्रिय जन्य है। इस सर्वोच्च तत्व की अनुभूति अन्त· प्रज्ञा द्वारा होती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु व्यक्ति को ईश्वर से प्रेम करना होगा एवं मानव के प्रति सेवा। तभी अनेकत्व से एकत्व का भाव जागृत करता हुआ अखण्ड, असीम व शाश्वत् ब्रह्म से ऐक्य स्थापित कर सकेगा। इस शक्ति के विकास के लिए धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन, ईश्वरोपासना, ध्यान, व आध्यात्मिक गुरू का सामीप्य आवश्यक है। क्योंकि जिसने स्वयं आत्मानुभूति प्राप्त की है वही अपने शिष्य को आत्मानुभूति करा सकता है। आध्यात्मिक विकास पुस्तकों से कम आध्यात्मिक गुरू के सम्पर्क से अधिक होता है।

शिक्षण पद्धति

डा0 एनी बेसेण्ट शिक्षा को विज्ञान मानती है अत उनके विचार से शिक्षा प्रक्रिया में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करना चाहिए। यह भी सत्य है कि सभी विषयों का अध्यापन वैज्ञानिक विधियों द्वारा सम्भव नहीं है। तथापि छात्र की योग्यताओं को विकसित करने में निम्नलिखित विधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए -

]1] खेल विधि

1 वर्ष से 6 वर्ष के बच्चों को खेल विधि द्वारा शिक्षित किया जाये। इस अवस्था में बच्चों की शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य शारीरिक विकास होता है। शारीरिक विकास के लिए खेलकूद आवश्यक है। इसी के माध्यम से उन्हें लिखना-पढ़ना व गणना की शिक्षा दी जाये। बच्चों के खेलने के साधन कक्ष में तथा मैदान में होने चाहिए। उन्हे स्वेच्छानुसार खेल की स्वतंत्रता हो जिससे वे अपनी विभिन्न क्षमताओं को विकसित कर सके। कहानी, कविता व अभिनय प्रदर्शन भी इस विधि के अग हैं अत बच्चे को अपने भाव प्रदर्शन व विचार व्यक्त करने के अवसर दिए जाये।

डा0 बेसेण्ट के शब्दों मे-

'कहानी धार्मिक और नैतिक पाठों के शिक्षण के साधन के रूप में सुनाई जाये'।[6]

]2] निरीक्षण विधि

वैज्ञानिक विधि में निरीक्षण का अपना विशिष्ट स्थान है। शिक्षा का कार्य बाहर से ज्ञान भरना नहीं अपितु बाह्य वातावरण के सम्पर्क से होने वाले कम्पों को अपनी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से मस्तिष्क तक पहुँचाना है। इस हेतु बालक की शिक्षा के लिए घर, विद्यालय तथा समाज में उचित वातावरण प्रदान करना होगा। इस वातावरण में बालक स्व इन्द्रियों के प्रयोग से अपनी योग्यताओं को विकसित करेगा। शिक्षण की

यह विधि सभी आयु वर्ग के बच्चों के लिए उपयुक्त है। शैशवावस्था के बच्चों को विभिन्न वस्तुओं , पशु-पक्षी , फल-फूल, आदि का ज्ञान निरीक्षण विधि द्वारा ही कराया जाय।

[3] व्याख्यान विधि

भारत की प्राचीन गुरुकुल प्रणाली में अटूट श्रृद्धा रखने वाली शिक्षा मनीषी डा० बेसेण्ट उच्च कक्षाओं तथा विश्वविद्यालयों में व्याख्यान- विधि का प्रयोग उचित बताती हैं। इस विधि का प्रयोग इतिहास, भाषा, दर्शन , अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विषयों के शिक्षण में किया जा सकता है। वे स्वय भी सेण्ट्रल हिन्दू कालेज के छात्रों को प्राय व्याख्यान विधि द्वारा धार्मिक व नैतिक शिक्षा प्रदान करती थी।

[4] स्वाध्याय विधि

उपनिषदों में वर्णित श्रवण, मनन व निदिध्यासन विधियों की उपयोगिता को स्वीकारती हुई श्रीमती बेसेण्ट कहती है कि व्याख्यान विधि द्वारा छात्र को जो ज्ञान दिया जाता है वह तब तक ग्रहणशील नहीं होता जब तक उस ज्ञान का शिष्य द्वारा मनन व स्वाध्याय न किया जाये। स्वाध्याय विधि का उपयोग उच्च कक्षाओं में अधिक उपयुक्त होता है।

[5] क्रिया विधि

डा० एनी बेसेण्ट ने सभी आयु वर्ग के बच्चों के लिए शारीरिक शिक्षा अनिवार्य बताई। इस विधि द्वारा छात्र के शरीर को चुस्त व् दुरुस्त बनाया जाता है इसके अन्तर्गत खेल-कूद, कसरतें, आदि अनेक क्रियाएं कराई जाती हैं। संगीत व कला की शिक्षा भी इसी विधि द्वारा दी जानी चाहिए। कृषि, उद्योग व तकनीकी विषयों की शिक्षा के लिए क्रिया-विधि आवश्यक है।

{6} अनुकरण विधि

श्रीमती बेसेण्ट अदर्शवादी शिक्षा शास्त्री होने के कारण अनुकरण विधि की उपयोगिता को स्वीकारती है। विशेषरूप से 1 वर्ष से 6 वर्ष तक के बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक होती है। इस विधि का प्रयोग भाषा शिक्षण , व्याकरण, कला, सगीत, धार्मिक, नैतिक व शारीरिक शिक्षा मे उपयोगी रहता है। बालकों मे उचित आदतों व गुणों के निर्माण मे भी यह विधि उपयुक्त है। यथा- बड़ों का सम्मान, प्रात काल उठकर ईश-स्मरण, समय पर काम करना, आज्ञा पालन, बधुत्व की भावना होना, परस्पर सौहार्द्र एव सहिष्णुता, सहयोग, सेवा भाव आदि गुणों के उन्नयन में अनुकरण विधि प्रभावकारी होती है। इस विधि का लाभ तभी हो सकता है जब अध्यापक तथा माता पिता के आचरण मे वे अभीष्ट गुण हों जिन्हे वह अपने छात्रों व बच्चों में विकसित करना चाहता है। अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि होगी। अर्थात् अध्यापक व माता-पिता का चरित्र उज्ज्वल तथा प्रेरणादायी हो।

{7} प्रयोगात्मक विधि

विज्ञान, उद्योग, गृह विज्ञान एवं तकनीकी विषयो का शिक्षण प्रयोगिक- विधि के बिना सम्भव नहीं है। रसायन शास्त्र व भौतिक शास्त्र के सिद्धांतों की सत्यता प्रयोगशाला में ही प्रमाणित करके बच्चों को बताई जा सकती है। इसी प्रकार गृह विज्ञान मे पाक शास्त्र की शिक्षा बिना क्रियात्मक ज्ञान के नहीं दी जा सकती। उद्योग व तकनीकी शिक्षा के लिए प्रयोगिक विधि आवश्यक है। यह विधि माध्यमिक व उच्च कक्षाओं के लिए उपयुक्त है। छात्र सैद्धान्तिक ज्ञान को प्रयोग की कसौटी पर कस कर उसकी प्रमाणिकता को सिद्ध कर अपने ज्ञान को निश्चयात्मकता प्रदान करता है।

शिक्षकों को उनके कर्तव्यों एवं आदर्शो का स्मरण कराते समय डा0 बेसेण्ट ने उन्हें किसी शिक्षण पद्धति का दास न बनने की सलाह दी थी। परन्तु इससे उनका यह मतलब नहीं था कि शिक्षा में किसी शिक्षण विधि की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि

उन्होंने किसीनवीन शिक्षण विधि का भी प्रतिपादन नहीं किया था। परन्तु इस सम्बध मे उन्होंने प्राच्य व पाश्चात्य जगत की प्रचलित शिक्षण विधियों का समन्वयात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है। आदर्श शिक्षा योजना की रूपरेखा प्रस्तुत करने के पूर्व दिए उनके ये कथन शिक्षण विधि की महत्ता की ओर इंगित करते हैं-

'माता-पिता तथा अध्यापक फ्रोबेल, पेस्तालोंजी और मॉन्तेसरी की शिक्षण-प्रणाली से अवगत हों तथा बिने के अन्वेषणों से भी।' 7 [7]

इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि छोटे बच्चों के लिए (। वर्ष से 7 वर्ष तक के) फ्रोबेल व मॉन्तेसरी शिक्षा प्रणाली उपयुक्त होती है अत इस पद्धति का प्रयोग किया जाय। बिने महोदय का योगदान बुद्धि परीक्षण के क्षेत्र में विशेष महत्वपूर्ण है। अत· उनके परीक्षणों का प्रयोग करके छात्र की बौद्धिक क्षमता का मापन कर उन्हे तदनुरूप विकसित करने में सुगमता होती है। विभिन्न स्तरों की शिक्षा की योजना में श्रीमती बेसेण्ट ने विस्तार से शिक्षण विधियों का प्रयोग उपयुक्त बताया है।

शिक्षा योजना

डा0 बेसेण्ट ने जो शिक्षा सिद्धान्त अपने लेखों व व्याख्यानों द्वारा प्रस्तुत किए है वे यद्यपि सार्वदेशिक व सार्वकालिक है। तथापि आध्यात्मिकता पर आधारित होने के कारण विशेष रूप से उन्हीं को मान्य है जो आध्यात्मिकता मे विश्वास करता है। उन्होंने अनेक शिक्षा सिद्धान्तों को वैज्ञानिक आधार पर प्रमाणित भी किया है। जैसे- मनोविज्ञान के अनुसार बालक के विकास की विभिन्न अवस्थानुसार शिक्षा प्रदान करना, बालक की रुचि व क्षमतानुसार शिक्षण देना, विकास के सिद्धान्त के अनुसार बालक के विकास की सम्भावनाओं को जाग्रत करना आदि। इस प्रकार श्रीमती बेसेण्ट के शिक्षा सिद्धान्तों के चार आधार स्तम्भ है- प्राकृतिक, वैज्ञानिक्र, सामाजिक व आध्यात्मिक।

16 नवम्बर 1893 में भारत आने के बाद उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन भारत की सेवा मे समर्पित कर दिया। भारत को अपनी मातृभूमि स्वीकारते हुए इसके उत्थान के लिए उन्होंने सबसे पहली आवश्यकता अनुभव की शिक्षा के पुर्नगठन व सुधार की। अत भारत के प्राचीन आदर्श व इतिहास का अध्ययन करने के उपरांत अपने शिक्षा-सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने हेतु पहला सराहनीय कार्य बनारस में 'सेंट्रल हिन्दू कॉलेज' की स्थापना द्वारा सम्पन्न किया। इसके अतिरिक्त 'थियोसॉफिकल शिक्षान्यास' के तत्वावधान मे शिक्षा आन्दोलन के तहत सम्पूर्ण देश में अनेक विद्यालय खोले । इन सभी विद्यालयों की शिक्षा में एकरूपता लाने हेतु इन्होंने एक विस्तृत राष्ट्रीय शिक्षा योजना बनाई जिसने तत्कालीन भारतीय नेताओं का भी ध्यान आकृष्ट किया। इसी का परिणाम था कि गोखले ने सन् 1910 में अनिवार्य व नि.शुल्क शिक्षा के लिए विधेयक प्रस्तुत किया था। हलांकि इस विधेयक को स्वीकृति नहीं मिली थी।

यह शिक्षा योजना भारतीय शिक्षा के इतिहास में प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा योजना है। डा0 बेसेण्ट ने इस बात की आवश्यकता महसूस की थी कि सम्पूर्ण भारत के लिए एक आदर्श शिक्षा योजना का होना नितांत आवश्यक है। क्योंकि शिक्षा द्वारा ही भारतीयों

की प्रसुप्त क्षमताओं , योग्यताओं व राष्ट्रीयता को जागृत किया जा सकता है। उन्होंने शिक्षा को वैयक्तिक एव सामाजिक विकास का साधन माना । इसीलिए शिक्षा के उद्देश्यों की महत्ता बताते समय वैयक्तिक एव सामाजिक दोनों दृष्टिकोण से व्याख्या की है।

यह शिक्षा योजना बालक की आवश्यकतानुसार व प्राकृतिक नियमानुसार तीन स्तर मे विभाजित है- (1) जन्म से 7 वर्ष तक (2) 7 वर्ष से 14 वर्ष तक (3) 14 वर्ष से 21 वर्ष तक । सभी विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम जिले की मातृभाषा हो। अंग्रेजी शिक्षा द्वितीय भाषा के स्थान पर पढ़ाई जाये माध्यमिक और हाई स्कूल में। स्कूल का समय प्रात 7 बजे से साय 6 बजे तक हो। शिक्षण कार्य प्रात. 7 बजे से 10 बजे तक एवं अपराह्न 2 बजे से 4 बजे तक हो। प्रात 10 से 2 बजे तक भोजन व विश्राम कराया जाये और सायं 4 बजे से 6 बजे तक का समय शारीरिक व्यायाम व खेलकूद के लिए निर्धारित किया। उन्होंने स्कूल के समय में भौगोलिक भिन्नता या अन्य किसी कारण से भिन्न होने की स्वीकृति दी। प्रात. कालीन मुख्य जलपान के बाद का समय पूर्णतया विश्राम के लिए हो उसमें छात्र को किसी भी प्रकार का बौद्धिक कार्य न दिया जाये। प्रतिदिन शिक्षण से पूर्व एवं शिक्षणोपरांत छोटी सी धार्मिक प्रार्थना अवश्य कराई जाये। विभिन्न स्तरों की शिक्षा का पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाया -

(1) जन्म से 7 वर्ष तक का स्तर

इस काल को दो उपकालों में विभक्त किया है-

(अ) 1 वर्ष से 5 वर्ष तक

इस अवस्था के बच्चों को गृह शिक्षा दी जाये। इसके लिए माता-पिता को बाल मनोविज्ञान शिशु-शिक्षा पद्धतियों (किन्डर गार्टन व मॉन्तेसरी) का ज्ञान होना चाहिए। यदि सम्भव हो तो नर्सरी शिक्षा हेतु ढाई से 5 वर्ष के बच्चों को नर्सरी स्कूल में भेजा जा सकता है। इस अवस्था की प्रमुख विशेषता शारीरिक विकास है । अतः गरीब व असहाय लोगों के लिए बच्चों

के जन्म से पूर्व व जन्म के बाद की शिक्षा के केन्द्र खोले जाये। इस अवस्था में बालकों मे आदतों की नियमितता की ओर ध्यान दिया, शिशु की सावधानीपूर्वक निगरानी अवश्य रक्खी जाये, लेकिन इतनी नहीं कि उसे गोदी के नीचे नहीं उतारा जाये। घुटने के बल चलने वाले बच्चों को आस-पास चलने के लिए रंग विरंगी वस्तुओं का आकर्षण प्रस्तुत किया जाये। जिससे उनमें उन वस्तुओं को जानने की उत्सुकता हो और उसे प्राप्त करने के लिए प्रयास करें। इससे विभिन्न अगो के विकास के साथ साथ मानसिक विकास भी होगा। उसे अपने पैरों पर चलने के लिए बाध्य न किया जाये और न ही सहायता की जाये। उसे अपने ही प्रयत्नों से चलने दिया जाये। 3 वर्ष के बच्चों को अपनी मूलभूत क्षमताओं को पहचानने के अवसर प्रदान किए जाये। उनके सामने चयन की समस्या रक्खी जाये जिससे वह अपनी क्षमता व योग्यतानुसार चयन शक्ति का विकास करे। उसे स्वयं छोटे-छोटे प्रयोगों द्वारा अनुभव प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। उसके शरीर के विभिन्न अंगों के नाम व पहचान कराई जाये। अपने मनोरंजन के लिए उसे अपनी उँगलियॉ एव अँगूठे गिनने को कहा जाये। 4 वर्ष की अवस्था में उसके खेल कुछ सगठित हो जाते है लेकिन इस बात का ध्यान रहे कि सगठन स्वैच्छिक हो, बलपूर्वक लादा न गया हो। लेकिन जब उसे मदद की आवश्यकता हो तो अवश्य दी जाये। बच्चों से कड़े शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाये और न ही डराया जाये। क्योंकि भय से बच्चों में ग्रंथि पड़ जाती है और निर्भयता से सच्चाई का गुण आता है । बच्चों को जब गुस्सा आ रहा हो तो उसकी पसंद की वस्तुओं की ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया जाये।

प्रारम्भ से ही बच्चे में सामाजिकता की भावना का विकास करना होगा। इस अवस्था की प्रमुख मूल प्रवृत्ति प्रेम है अत इसके द्वारा उसमें पारस्परिक मित्रता, सहयोगिता, सौहार्द्रता व निर्भरता का गुण विकसित किया

जाये। उसे यह ज्ञान दिया जाये कि वह अकेला नहीं है उसे परिवार जनों के साथ रहकर अच्छी आदतों का निर्माण व प्रयोग करना है। उसमे 'हम' भावना का उदय करना होगा। उससे उसकी क्षमतानुसार छोटे-छोटे काम कराये जायें। पहले वह यह कार्य परिवार जनों के लिए करे। इसके साथ साथ धीरे धीरे उसका दृष्टकोण विस्तृत किया जाये और तब वह अपने आस पास के लोगों के लिए छोटे-छोटे कार्य करे। सभी जीवों के प्रति दया भाव सिखाया जाये। पेड़ पौधों की जीव-भाव से सेवा करने के लिए प्रेरित किया जाये। सफाई, वस्तुओं को यथा स्थान रखना आदि आदतों का निर्माण आवश्यक है क्योंकि इससे परिवार के प्रत्येक सदस्य को प्रसन्नता होती है।

[ब] 5 से 7 वर्ष तक का स्तर

इस स्तर की शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा कहा। जिसमें कक्षा । की दो उप कक्षायें हों । अ तथा । ब। खेल पद्धति प्रमुख शिक्षण विधि हो। इसके अतिरिक्त निरीक्षण, कहानी, अभिनय, कविता पाठ आदि शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जाये। निरीक्षण के माध्यम से उन्हें वस्तुओं के अन्त: सम्बंधों, उनकी संख्या , उनका रूप , उनकी उपयोगिता, उनकी आकृति , उनके रंग तथा उनके प्रयोग का ज्ञान प्रदान किया जाये। हाथ से वस्तुएं बनाने का अभ्यास कराकर हस्त कार्य में दक्षता लाई जाये। स्कूल के कमरे में अनेक आकर्षक वस्तुएं इधर, उधर बिखरी हुई हों जिनको देखकर बच्चों के मनमें उन्हें जानने व अनुकरण करने की जिज्ञासा हो। इस प्रकार उसकी चित्रांकन की रचनात्मक प्रवृत्ति को भी बढ़ावा मिलेगा तथा बुद्धि भी विकसित होगी। बच्चों को स्कूल में स्वतंत्रता हो वह अपनी इच्छा से जहाँ चाहें घूमें और जिस वस्तु के लिए उनमें आकर्षण हो उसका चयन करें। अध्यापक उस पर निगाह रखेगा लेकिन उसे मदद तभी करेगा जब वह अपने प्रयासों में असफल हो रहा होगा। इस अवस्था में बालक अनुकरण द्वारा अधिक सीखता है। अत: अध्यापक अच्छी आदतों के निर्माण में इस विधि का प्रयोग करें। पढ़ना व लिखना खेल के

माध्यम से सिखाया जाए। जैसे ही पता लगे कि बच्चे की रुचि पढ़ने या लिखने की ओर है वैसे ही उसे उसको अवसर प्रदान किया जाये। यह अनुभव किया गया है कि अगर बच्चे को कटे हुए अक्षर दे दिए जायें और उससे उन अक्षरों पर अनेक बार ऊँगली चलाने को कहा जाये तो इससे अक्षर लिखने में आसानी हो जाती है और जब बच्चे को कागज पेंसिल दी जाती है तो वह पूर्व अभ्यास के आधार पर कागज पर अक्षर लिख सकता है। पढ़ना सिखाने के लिए पहले छोटे छोटे संज्ञावाचक शब्द चित्र के माध्यम से सिखाये जायें। अध्यापक द्वारा शब्द बोलने पर बच्चा उस शब्द को चित्र से सम्बंधित कर पहचान लेगा। शब्द और चित्र द्वारा अक्षर ज्ञान लकड़ी के गुटकों के माध्यम से भी कराया जा सकता है।

नैतिक व धार्मिक शिक्षा छोटी-छोटी कहानियों के माध्यम से दी जाये। कक्षा मे भजन व श्लोक सामूहिक रूप से गाकर सिखाये जायें। प्रत्येक स्कूल में बच्चों के विश्वास के अनुसार एक या दो धर्मो के पूजा स्थल हों जहाँ बच्चे धार्मिक शिक्षा के अंग स्वरूप जाये और उनको स्वेच्छानुसार भक्ति का प्रशिक्षण दिया जाये। 'अपने मनोभावों को व्यक्त करने के. लिए चित्रांकन एवं लेखांकन के लिए प्रोत्साहित किया जाये। गणित के सामान्य चार. नियम (जोड़ना, घटाना, गुणा व भाग) वस्तुओं के माध्यम से सिखाये जाये।

सामजिक पक्ष

प्राथमिक स्कूल गृह के ही विस्तृत रूप होते हैं जहाँ पर बच्चा नए नए लोगों के सम्पर्क में आता है और उसे इन लोगों से सहायता भी मिलती है । सेवा का दायरा भी विस्तृत हो जाता है । सफाई की जो आदत घर में डाली जाती है उसका यहाँ भी प्रयोग करना सिखाया जाता है। जैसे- वस्तुओं से खेलने के बाद उन्हें यथा स्थान रख देना, स्थान की स्वच्छता आदि । स्कूल में बच्चों के खेल कूद व शारीरिक

व्यायाम के लिए मैदान हो। नृत्य व सामूहिक वर्णनात्मक गीतों के लिए पर्याप्त स्थान हो। इन सामूहिक क्रियाओं से बच्चों मे सहयोगिता एव ऐक्य की भावना का विस्तार होगा अन्यथा बच्चे स्वार्थी हो जायेगे। स्कूल मे छोटा बगीचा भी होना अनिवार्य है जहाँ पर बच्चों को पक्षी फूल व प्राकृतिक सौन्दर्य का अनुभव कराया जाए।

बच्चे जो बाते घर मे जाने या अनजाने में सीखता है उसका अनुप्रयोग विद्यालय मे करता है इस प्रकार घर और विद्यालय एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। बालक के विकास के दृष्टिकोण से यह समय बहुत महत्वपूर्ण होता है। इस अवस्था मे उसमें जो आदते पड़ जाती है उन्हे छुटाना बहुत ही मुश्किल होता है। इसलिए शिक्षक को बालकों के प्रत्येक व्यवहार पर कड़ी नजर रखनी होगी। बालक में अनुकरण की प्रवृत्ति होती है अत· शिक्षक शब्दों का उचित उच्चारण करें अपना आचरण व व्यवहार वैसा ही हो जैसा वह बच्चों से अपेक्षा करता है। इस अवस्था में बच्चा बहुत ग्रहणशील होता है, उस पर वातावरण का प्रभाव बहुत ही पड़ता है। इन सबसे उसके चरित्र का विकास एवं अनेक प्रवृत्तियों का उदय होता है। अतः इस काल में इन सब बातों का विशेष ध्यान रक्खा जाये क्योंकि इस उम्र में जो छाप पड़ जाती है उसे हटाना बड़ा कठिन होता है।

[2] 7 वर्ष से 10 वर्ष तक का स्तर [द्वितीय स्तर]

[अ] शिक्षा के इस स्तर को डा0 बेसेण्ट ने निम्न माध्यमिक स्तर की संज्ञा दी है। इस अवस्था में कक्षा दो, तीन व चार का शिक्षण दिया जाये। शिक्षा के चार उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए धार्मिक , बौद्धिक , नैतिक, व शारीरिक शिक्षा दी जाये। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो। शारीरिक शिक्षा के अन्तर्गत शारीरिक स्वच्छता, स्वस्थ शरीर का मूल्य, आत्म नियंत्रण , सदव्यवहार की शिक्षा दी जाये। इसके अलावा क्रोध, द्वेष, घृणा आदि संवेगों का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है उसे भी समझाया जाये। शारीरिक व्यायाम

शरीर की चुस्ती के लिए अनिवार्य रूप से कराया जाये। श्वांस प्रश्वास का प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए। यह सब तो बच्चे के स्वयं के लिए उपयोगी है परन्तु इस शिक्षा का दूसरा पहलू सामाजिक पक्ष भी है। सामूहिक रूप से संगीत की ध्वनि पर व्यायाम कराना, खेलकूद के द्वारा सामूहिक सहयोग की भावना विकसित करना। इन सामूहिक क्रियाओं के माध्यम से छात्र में दायित्व व आनन्द दोनों की भावना आती है।

धार्मिक शिक्षा हेतु परमात्मा के साथ मनुष्य के सम्बंध को कहानियों के माध्यम से समझाया जाये। परमप्रिय दयालु पिता की हम सब संतान हैं इस कारण सभी भाई भाई हैं और एक दूसरे की मदद करना प्रत्येक का धर्म है। ईश्वर की अखंडता व असीमता से सम्बंधित स्तोत्रों को कंठस्थ कराया जाये। महान धार्मिक गुरुओं एवं विश्वप्रेम करने वाले व्यक्तियों के चरित्र की उत्कृष्ट बातों को बताया जाये।

मातृभाषा का ज्ञान प्रमुख आधार है। इसके ज्ञान के लिए शिक्षक कहानी सुनाये और छात्रों से अपने निरीक्षण के आधार पर कहानी सुनाने को कहें। छात्रों से पाठ्य-पुस्तक पढ़ाई जाये तथा निबंध लिखवाये जायें। संस्कृत, पाली या अरबी भाषा का प्रारम्भिक ज्ञान दिया जाये। क्योंकि ये भारत की प्राचीन भाषायें हैं। इनके शिक्षण में आधुनिक शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जाये। भाषा शिक्षण में प्रारम्भ में विभक्ति और नियमों का ज्ञान न दिया जाये। बच्चों को उनके आस पास की वस्तुओं का ज्ञान कराकर उनके प्रयोग से सम्बंधित छोटे छोटे वाक्य बनवाये जायें तब साधारण वार्तालाप द्वारा अन्य जानकारी प्रदान करे। जब भाषा में वास्तविक रुचि जागृत हो जाये तब उन्हें व्याकरण की शिक्षा दी जानी चाहिए। अंग्रेजी का शिक्षण वार्तालाप व कहानी सुनाने द्वारा दिया जाये। प्राकृतिक अध्ययन में पौधे व जन्तु के जीवन इतिहास को निरीक्षण व प्रयोगिक विधि द्वारा पढ़ाना उचित है। इतिहास व भूगोल

पढाने मे चित्रों और कहानियों का प्रयोग सार्थक होता है। भूगोल से सम्बधित बातों को मॉडल या मानचित्र द्वारा समझाया जा सकता है। स्कूल का मैदान, घर के आस पास का वातावरण, सडक के दोनों ओर का दृश्य आदि चित्र बनवाये जाये। अंकगणित मे सरल सवाल, भारतीय मुद्रा सम्बंधी, वजन और माप के सवाल, साधारण बिल सम्बंधी ज्ञान तथा साधारण ज्यामिति का ज्ञान देना उपयुक्त है। चित्रों और मॉडलों का प्रयोग अधिकाधिक किया जाये जिससे उनमें रूप रग व सौदर्य प्रशंसा का भाव विकसित हो सके। विभिन्न भाषाओं और विषयों की परस्पर निर्भरता से छात्रों के अन्दर पारस्परिक सहयोग की भावना दृढीभूत होगी। और अपने निकटस्थ लोगों के प्रति इस कर्तव्य भावना से कर्म करे मानों मातृभूमि की सेवा कर रहे हों।

बच्चे नैतिक शिक्षा अध्यापक के आचरण से सीखते है अतः अध्यापक का चरित्र सुदृढ , सत्यान्वेषी श्रद्धावान, साहसी व सहनशील हो साथ ही आदर सत्कार करने वाला हो। अध्यापक बच्चों को बराबर वालों, बड़े तथा छोटे लोगों के प्रति क्या कर्तव्य हैं, इसकी शिक्षा दें। सम्पूर्ण समाज को एक परिवार के रूप मे समझते हुए उसके प्रति कर्तव्य की शिक्षा दी जानी चाहिए। दया का गुण सिर्फ मनुष्यों के प्रति आवश्यक नहीं है अपितु पशुओं व पौधों के प्रति भी। बचपन से ही देश भक्ति की भावना का विकास करना होगा। इसके लिए उन्हें देश के प्रति प्रेम व गर्व उत्पन्न करना होगा। उन्हें साहित्य कला, विज्ञान, युद्ध और समाज सेवा के क्षेत्र में महान पुरुषों की जीवनियों सुनाकर देशप्रेम का भाव जगाना होगा।

[ब] 10वर्ष से 14 वर्ष तक का स्तर

यह उच्च माध्यमिक शिक्षा का स्तर है। इसमें कक्षा पॉच, छह, सात और आठ का शिक्षण किया जाये।

धार्मिक शिक्षा देते समय इस बात का ध्यान रक्खा जाये कि शिष्य किस किस धर्म को मानने वाले है। तद्नुकूल उन्हें उन उन धर्मो के प्रमुख सिद्धान्तों की कहानी के माध्यम से शिक्षा दी जाये।

सभी धर्मो के आधारभूत एकता बताते हुए आपसी वैमनस्य की भावना को दूर करने का प्रयास किया जावे। उनमें पर धर्म सहिष्णुता की भावना विकसित की जाये।

बौद्धिक विकास हेतु भाषाओं, इतिहास, भूगोल, प्रकृति अध्ययन, विज्ञान गणित, आदि का विस्तृत अध्ययन कराया जाये। निम्न माध्यमिक स्तर पर जो प्रारम्भिक व सरल ज्ञान दिया गया था उस ज्ञान से आगे ` . का ज्ञान देना चाहिए। मातृभाषा का अग्रिम शिक्षण देने के साथ साथ संस्कृत , पाली या अरबी भाषा का भी ज्ञान जरूरी है। साधारण आधुनिक कहानियों को पढ़ाकर जिसमे वार्तालाप की प्रमुखता हो अंग्रेजी भाषा का ज्ञान देना उचित है। पत्र लेखन व अच्छे आधुनिक लेखकों के सारांश पढ़ने से भी भाषा के ज्ञान में अभिवृद्धि होती है। प्रकृति अध्ययन में मानव के शारीरिक रचना सम्बंधी एवं पेड़ पौधों के चीड़-फाड़ से सम्बंधित अध्ययन कराया जाये। भौतिक भूगोल के साथ साथ रसायन एवं भौतिकी का प्रारम्भिक ज्ञान देना चाहिए। भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भूगोल जिसमें भारतीय आर्थिक, राजनैतिक और औद्योगिक भूगोल का प्रारम्भिक ज्ञान हो, का अध्ययन कराया जाये। उच्च गणित, प्रारम्भिक बीजगणित व रेखागणित पढ़ाई जाये।

उपरोक्त विषयों के माध्यम से विभिन्नता में एकता का भाव जाग्रत करने का प्रयास किया जाये। इस स्तर के बच्चे अपने से निम्न स्तर के बच्चों को अपने ज्ञान से लाभान्वित करे और उनकी मदद करें।

मनुष्य को अच्छा मानव बनने के लिए किन किन गुणों की आवश्यकता है इसका परिचय कराना होगा जिससे वह न केवल एक अच्छा मनुष्य बने अपितु अच्छा नागरिक भी बने। नागरिकता की शिक्षा हेतु नागरिक शास्त्र व सौन्दर्य शास्त्र का ज्ञान देना होगा।

शरीरिक शिक्षा का क्षेत्र इस आयु वर्ग में विस्तृत हो जाता है। कारण बच्चे बाल्यावस्था से किशोरावस्था की ओर कदम रखते हैं। अनेक शारीरिक परिवर्तन होते हैं अतः इस अवस्था के खतरों से बचने की शिक्षा देना बहुत जरूरी है। मानव , पेड़, पौधे तथा पशुओं के यौन सम्बंध का प्रशिक्षण तथा ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पर बल दिया जाये क्योंकि ब्रह्मचर्य बौद्धिक उन्नति के लिए परमावश्यक है, प्रतिदिन भारतीय व्यायाम तो जरूरी है ही। इसके अलावा काष्ठकला, टोकरी बनाना और औजारों का प्रयोग भी आवश्यक है। प्राथमिक चिकित्सा का थोड़ा ज्ञान देना चाहिए।

शारीरिक शिक्षा के सामाजिक पक्ष के अन्तर्गत बच्चों को अपनी मातृभूमि की सेवार्थ अच्छा स्वास्थ्य बनाये रखने की आवश्यकता पर बल दिया जाये। आत्म नियंत्रण सच्चे पुरुषार्थ का गुण है। खेलकूद के माध्यम से सहयोग, अनुशासन, आज्ञापालन और नेतृत्व के गुणों का विकास किया जाये।

<u>तृतीय स्तर</u>

[3] <u>14 वर्ष से 21 वर्ष तक का समय</u>

इस स्तर को दो उप भागों मे बॉटा है-

[अ] 14 वर्ष से 16 वर्ष की शिक्षा

[ब] 16 वर्ष से 21 वर्ष की शिक्षा

इसे हाई स्कूल की शिक्षा का काल कहा है। इस काल मे मानसिक विकास अपनी चरमावस्था की ओर तीव्रगति से बढ़ता है अत बौद्धिक विकास प्रमुख उद्देश्य है। बच्चे को आगे के शैक्षिक जीवन मे किस वर्ग की शिक्षा लेनी है इसका चयन इसी अवस्था मे करना होगा जिससे इन दो वर्षो में वह भावी शिक्षा की तैयारी कर सके। डा0 बेसेण्ट ने विषयों के अनुसार चार प्रकार के हाई स्कूल बताये हैं -

|1| सामान्य हाई स्कूल

|अ| **साहित्यिक |कलात्मक|** - जिनमें संस्कृत, अरबी, फारसी या पाली तथा मातृभाषा का शिक्षण किया जाये साथ ही अंग्रेजी, भारतीय इतिहास , ब्रिटेन का इतिहास तथा ऐतिहासिक भूगोल का अध्ययन भी कराया जाये।

|ब| **वैज्ञानिक वर्ग** - सस्कृत, अरबी या पाली के साथ मातृभाषा का विशेषीकृत पाठ्यक्रम पढ़ाया जाये। अंग्रेजी, भौतिक, शास्त्र, रसायन शास्त्र के अतिरिक्त बीजगणित, रेखागणित |त्रिकोणमिति व क्षेत्रमिति के साथ| काअध्ययन आवश्यक है। प्रकृति अध्ययन का अग्रिम पाठ्यक्रम पढ़ाया जाये।

|स| **शिक्षकों का प्रशिक्षण** - इस वर्ग में शिक्षण शास्त्र, मनोविज्ञान , स्कूल प्रबंध , शारीरिक शिक्षा, गृह-विज्ञान तथा शिक्षण अभ्यास' के साथ साथ प्रकृति विज्ञान का और आगे का पाठ्यक्रम पढ़ाया जाये।

|2| वाणिज्यिक हाई स्कूल

इस वर्ग में विदेशी भाषाएं, व्यापारिक पत्र व्यवहार, हिसाब-किताब रखना व्यापारिक गणित, व्यापारिक कानून, टंकण , शीघ्रलिपि, व्यापारिक इतिहास और भूगोल का शिक्षण दिया जाये इस वर्ग में बालिकाओं को खाद्य आपूर्ति

एव खाना बनाने से सम्बंधित विषयों की जानकारी की जाये।

{3} तकनीकी हाईस्कूल

इसमे मातृभाषा के साथ अग्रेजी , भौतिक व रसायन शास्त्र, गणित, औद्योगिक इतिहास, प्रारम्भिक अभियान्त्रिकी, विद्युत ज्ञान की शिक्षा दी जाये।

{4} कृषि हाई स्कूल

इस वर्ग में सभी विषयों का ज्ञान ग्रामीण जीवन के परिप्रेक्ष्य में दिया जाये। मातृभाषा, संस्कृत, अरवी या ग्रापाली , गणित , इतिहास, भूगोल, हिसाब-किताब रखना, भूमि सर्वेक्षण और क्षेत्रमिति, कृषि सम्बंधी प्रयोगात्मक रासायनिक एवं भौतिक विज्ञान {लड़कों के लिए} गृह विज्ञान {लड़कियों के लिए}, कृषि सम्बंधी यंत्र विद्या के तत्व, प्रकृति अध्ययन और बागवानी इस वर्ग के प्रमुख विषय हों। स्वच्छता सम्बंधी एवं अभियान्त्रिकी का भी ज्ञान दिया जाये।

इन चार प्रकार के हाई स्कूलों के अतिरिक्त भी हाई स्कूल हो सकते हैं जैसे संगीत, चित्रकला व पेंटिंग के लिए कला हाई स्कूल।

इस सभी हाई स्कूलों में पाठ्यक्रम के साथ साथ धार्मिक शिक्षा भी इसका अभिन्न अंग हो। सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण को विकसित करने का प्रशिक्षण दिया जाये। साहसिक भावना को प्रोत्साहित किया जाये। कक्षा के बड़े बच्चों को कक्षा नायक और अनुशासन नायक बना कर अनुशासन स्थापित किया जाये।

विज्ञान तथा उससे सम्बंधित विषयों में शारीरिक शिक्षा के अन्तर्गत हाथ का प्रशिक्षण , दुकान का अभ्यास और प्रयोगशाला कार्य कराया जाये। इसके अतिरिक्त शारीरिक व्यायाम व खेलकूद अन्य पूर्वोक्त स्तर की शिक्षा

के समान ही कराये जायें। यह अवस्था सामुदायिक भावना विकसित करने की होती है। अतः छात्रों की संसद बनाई जाये, वाद-विवाद की सभायें आयोजित की जाये, समाज सेवा के कार्यक्रम कराये जायें, प्रौढ़ों के लिए रात्रि पाठशालायें खोली जायें इन सब क्रियाओं के माध्यम से वे शिष्य नागरिकता के माध्यम से वे शिष्य नागरिकता का प्रदर्शन कर सकेंगे। शिक्षकगण वास्तविक श्रम के आवश्यक महत्व पर बल दे। साथ ही समुदाय के और विशेष व्यवसाय के महत्व पर विशेष ध्यान देना चाहिए जिस व्यवसाय के लिए शिष्य तैयारी कर रहा है।

16 से 21 वर्ष के पाठ्यक्रम को दो उपभागों में बाँटा है:-

(अ) पूर्वस्नातकीय एवं स्नातकीय स्तर

यह पाठ्यक्रम हाई स्कूल की प्रथम सर्टीफिकेट परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद प्रारम्भ होगा यह एक वर्ष का 'प्रिपेटरी क्लास' कहलायेगा इसका शिक्षण हाई स्कूल में ही होगा। पाठ्यक्रमों के अनुसार ही इसका पाठ्यक्रम पढ़ना होगा। विश्वविद्यालयों में भी साहित्यिक (कलात्मक) , वैज्ञानिक, वाणिज्यिक, तकनीकी तथा कृषि संकाय होंगे। जो छात्र जिस संकाय की शिक्षा हाई स्कूल से लेकर आता है उसे उसी विभाग की शिक्षा मिलेगी। इन पूर्व स्नातकीय पाठ्यक्रम में हम को वह सभी विशेष ज्ञान दिया जायेगा जो त्रिवर्षीय स्नातकीय पाठ्यक्रम के प्रवेश के लिए अपेक्षित है। विश्वविद्यालयों में प्रवेश से पूर्व प्रवेश परीक्षा विश्वविद्यालय के अधिकारियों व विभिन्न स्कूलों के अधिकारियों के संयुक्त प्रयास से कराई जाये।

(ब) उत्तर स्नातक पाठ्यक्रम

स्नातकीय पाठ्यक्रम उत्तीर्ण करने के बाद दो वर्षीय उत्तर स्नातकीय पाठ्यक्रम होगा जैसा कि वर्तमान समय में प्रचलित है।

यद्यपि सभी स्तर के पाठ्यक्रमों में समाज सेवा व सामुदायिक भावना को विकसित

करने वाले क्रिया-कलापों को विशेष महत्व दिया है। परन्तु स्नातकीय स्तर पर सामुदायिक क्रियाओं में भाग लेना राष्ट्रीय विकास एवं राष्ट्रीय चरित्र के उन्नयन के लिए विशेष महत्वपूर्ण बताया। इस स्तर पर समाज सेवा का दायरा कस्बे, तथा गॉव तक होगा। जहॉ पर छात्र कस्बों मे त्योहारो पर तथा गावों में दुर्घटनाओं के समय लोगों की मदद करेंगे तथा रात्रि पाठशाला के माध्यम से निरक्षरों को साक्षर बनाने में सहयोग देगे। इस प्रकार की सहायता अंततोगत्वा मातृभूमि की ही सेवा होगी यह ज्ञान छात्रों को देना होगा।

हाईस्कूल स्तर पर छात्रों को सामाजिक कार्य हेतु 'इंडियन बॉय स्काउट मूवमेंट' में शामिल होने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। तथा कॉलेज स्तर पर 'कैडेट कार्प्स' के माध्यम से नियमित शारीरिक व्यायाम कराया जाये।

डा0 बेसेण्ट की सम्पूर्ण शिक्षा योजना में वैयक्ति एवं सामाजिक विकास को पर्याप्त महत्व दिया गया है। उन्होंने 'न्यू इण्डिया' में लिखा है-

'राष्ट्रीय शिक्षा राष्ट्रीय स्वभाव के अनुकूल हरेक बिन्दु पर होनी चाहिए और उसे राष्ट्रीय चरित्र का विकास करना चाहिए।'

राष्ट्रीय चरित्र का विकास तभी सम्भव है जब राष्ट्र के नागरिकों को उस देश की संस्कृति से अवगत कराया जाये एवं उसके प्रति सम्मान व गौरव का भाव जाग्रत किया जाये। समाजसेवी, राष्ट्रप्रेमी देशभक्तों के जीवन चरित्रों से प्रेरणा लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाये।

शिक्षक , शिष्य एवं शिक्षालय

आदर्शवादी शिक्षा मनीषी होने के कारण डा0 बेसेण्ट ने शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षक को अहं भूमिका प्रदान की है। वह स्वयं भी शिक्षिका थीं और अपने आचरण द्वारा अनेक भारतीयों का ध्यान आकृष्ट कर अपने शिक्षा आन्दोलन रूपी यज्ञ में उनसे भी आहुति डलवाई । ऐसे सहयोगी थे श्री युत भगवान दास, श्री उपेन्द्रनाथ वसु, श्री ज्ञानेन्द्र नाथ चक्रवर्ती, डा0 अरुण्डले आदि। शिक्षक का आचरण कैसा हो? इसका चित्रण डा0 बेसेण्ट के 'अखिल भारतीय शिक्षक संघ' को सम्बोधित भाषण से मिलता है -

'शिक्षक को सकारात्मक, निश्चयात्मक, जिज्ञासु, आदर्शयुक्त और परिश्रमशील होना चाहिए। इसी कारण शिक्षक का व्यवसाय इतना कष्टसाध्य है। उसे अपने शिष्यों के साथ सहयोग की भावना से कार्य करना होगा। उसमें अपने शिष्य को अपेक्षित दिशा में प्रेरणा देने की क्षमता हो, । उसमें कुछ भी छोटा, मृतप्राय, उदासीन, स्वचालित या यंत्रवत्, आशारहित या निराशायुक्त न हो, प्रत्येक व्यवहार में दृढ़ता व खुशी हो। वह अग्नि की तरह तेजयुक्त हो जिससे उसके शिष्य तेजवान् बनें।'[8]

शिक्षक बालक से जो कुछ चाहता है उसका प्रतिरूप स्वयं हो। क्योंकि शिक्षक ही शिष्य के लिए आदर्श होता है। उसे अग्नि की तरह अपने शिष्यों को प्रज्ज्वलित करने वाला होना चाहिए। आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता का समावेश हो तभी वह अपने शिष्यों को आध्यात्मिक एवं धार्मिक शिक्षा दे सकता है। वह मृदुभाषी व सदाचारी हो। लौकिक व पारलौकिक ज्ञानयुक्त हो। प्राचीन ग्रंथों व शास्त्रों का मर्मज्ञ हो।

शिक्षक को संकेत करते हुए डा0 एनी बेसेन्ट ने कहा-

'तुम्हें सबसे पहले जो करना है वह है बालक [विद्यार्थी] का अध्ययन और यह पता लगाना कि उनमे कौन से गुण हैं? कौन सी क्षमताएं हैं और कौन सी शक्तियाँ हैं और यह तुम उस समय कर सकते हो जबकि तुम उन्हें बहुत बड़ी मात्रा में स्वतंत्रता

दे दो।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि शिक्षक को बाल मनोविज्ञान का ज्ञाता होना चाहिए। मनोविज्ञान के नियमों व सिद्धान्तो के अनुसार वह छात्र की योग्यताओं व क्षमताओं का पता लगा सकता है। और तदनकूल योग्यताओं को विकसित करने में सहायता दे। गुणों को विकसित करने के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण करना शिक्षक का कर्तव्य है। शिक्षा में बालक को स्वतंत्रता देने की वह पक्षधर हैं। इस दृष्टिकोण से यह प्रकृति वादियों के विचार के निकट मालुम पड़ती है। आवश्यक वातावरण के निर्माण को महत्व प्रदान करते समय इनका झुकाव प्रयोजनवादियों की ओर प्रतीत होता है। जब वह बालक को 'आत्मा' के रूप में देखने का आग्रह करती है तब उनके विचार आदर्शवादी विचारधारा का समर्थन करते है।

'अखिल भारतीय शिक्षक संघ' को 8 नवम्बर 1928 को सम्बोधित करते समय उन्होंने शिक्षकों को उनके कर्तव्यों का स्मरण दिलाया तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति आस्थावान् होने का आह्वान किया। शिक्षक का जीवन स्वानुभवयुक्त हो दूसरे या अन्य व्यक्तियों के अनुभवों से युक्त न हो। क्योंकि अध्यापक जो सर्वोत्तम वस्तु अपने छात्रों को दे सकता है वह है स्वयं के अनुभव , न कि दूसरों के । वह सिर्फ अपने अनुभवों को ही शिष्य के समक्ष प्रस्तुत करे। अध्यापक दृढ निश्चय वाला हो, उसकी बुद्धि निश्चयात्मक हो, जिज्ञासु एवं आदर्शयुक्त हो तभी वह अपने शिष्यों को वास्तविक बना सकता है। उसे शिष्य के साथ सहयोग की भावना से प्रेरित होना चाहिए। शिक्षक में इतनी क्षमता हो कि वह अपने शिष्यों को जो कुछ वे बनना चाहते हैं उस दिशा में प्रेरित कर सके। शिक्षक अपने शिष्यों के समक्ष एक जीवन्त प्रेरणा हो उसमें उदासीनता , निराशावादिता व यांत्रिकता न हो, उसके प्रत्येक कार्य में खुशी व दृढ़ता का पुट हो। उसे अग्निवत् होना चाहिए जिससे वह अपने शिष्यों को देदीप्यमान कर सके।

शिक्षा के उद्देश्य की ओर ध्यान दिलाते हुए श्रीमती एनी बेसेण्ट ने कहा कि शिक्षा का ध्येय व्यक्ति के गुणों को अधिकाधिक प्रचुरता पूर्वक प्रकाशित करना

है। अतः पाठ्य विषय सावधानीपूर्वक बनाई गयी साज सज्जा और शिक्षण विधियाँ, योजनाए एवं प्रणालियाँ, तकनीकें, परीक्षा प्रणाली, कट्टर धर्म परायणता एवं रीतियाँ सभी इसी उद्देश्य की प्राप्ति के साधन है। इस अति प्रशंसनीय उद्देश्य की प्राप्ति के लिए श्रीमती बेसेण्ट ने शिक्षको से अपील की कि वे अधिक से अधिक जोखिम युक्त कार्य करें। वे यह भी समझती थीं कि छात्रों को जो कुछ भी दिया जा रहा है वह बहुत कम है। अतः उन्होने शिक्षकों से मांग की कि वे 'सत्य' को प्राप्त करना अपना ध्येय बनायें। दूसरी आवश्यकता है स्वयं के प्रति सत्य निष्ठ होने की । उसे दासवत् नहीं स्वामी की तरह कार्य करना चाहिए। यहाँ दासवत् से श्रीमती बेसेण्ट का मतलब था इन्द्रियों का दास। यह तभी हो सकता है जब वह स्वावलम्बी हो पराश्रित नहीं। यदि उसने इस गुण पर विजय पा ली है तब दूसरा गुण आवश्यक है तुष्टीकरण की निश्चितता। वह चाहती थीं कि शिक्षक स्वयं के सत्य का जो अमापनीय गहनता शिक्षक का श्रेष्ठतम उपहार है, यदि कोई इसे उपहार कह सकता है , प्रत्यक्ष अनुभव करे। तथा अपने शिष्यों को पर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध कराये जिससे वे अपने 'सत्य' का स्वयं पता लगाकर आनन्द ले सके। अध्यापक का 'सत्य' किसी भी रूप में शिष्य का सत्य नहीं हो सकता। शिष्य द्वारा जाना गया 'सत्य' ही उसका सत्य है। जो अध्यापक इस तथ्य से अच्छी तरह सचेत हैं वही वास्तव में अध्यापक हैं।

शिक्षक को भौतिक शिक्षा के प्रत्येक अंश का पूर्णरूपेण प्रत्यक्षीकरण करना होगा क्योंकि यह 'सत्य' को प्राप्त करने का साधन है, सत्य की दिशा की ओर कदम है। इतिहास, भूगोल गणित, विज्ञान , साहित्य, दर्शन तथा अन्य विषय वास्तविक सत्य के प्रारम्भिक प्रयासमात्र हैं। वे सभी अपर्याप्त एवं आंशिक है। अधिक या कम असत्य हैं। या यह कह सकते हैं कि वे 'सत्य' की प्रतिच्छाया है। हमें उन्हे अंतिम सत्य नहीं घोषित करना चाहिए। न ही विज्ञान के सिद्धान्त अंतिम सत्य हैं। सिद्धान्तों को वास्तविक शिक्षा से परे होना चाहिए क्योंकि वे सत्य के मार्ग में अवरोधक हैं।

डा० बेसेन्ट ने शिक्षकों को पद्धतियों का दास न बनने की सलाह दी। यह सत्य है कि शैक्षिक जीवन में तंत्र पद्धति का अपना स्थान है और हम इसके बिना रह

भी नहीं सकते। लेकिन शिक्षक को हमेशा सावधान रहना होगा कि ये पद्धतियाँ हमारे उद्देश्य के अधीन हों, जीवन को बनाने के अधीन हों। इनसे आत्म निर्भरता, मौलिकता एवं स्वतंत्रता का हनन न हो। हठ तभी अच्छा है जब वह रचनात्मक और मौलिक हो। शिक्षक का एक अन्य महत्वपूर्ण कर्तव्य यह है कि वह सामूहिक भावना के विकास के साथ साथ व्यक्तिगत विकास पर भी पर्याप्त ध्यान दे। शिक्षक को सतत सावधान रहना होगा कि बालक अपने अंतिम उद्देश्य मुक्ति के मार्ग से विचलित न हो। इस कार्य को सम्पादित करने हेतु शिक्षक को चाहिए कि वह शिक्षा के प्रत्येक विषय को समझाते हुए अपरिमित कष्ट सहन करे जिससे शिष्य स्वयं 'सत्य' का अन्वेषण कर सके। शिष्य के व्यक्तिगत विकास में प्रत्येक विषय सहायक हैं अन्तरंग रूप से शिष्य से सम्बंधित है। परन्तु अध्यापक को यह नहीं भूलना चाहिए कि शिष्य का सिर्फ शारीरिक, मानसिक व नैतिक विकास ही पर्याप्त है। शिष्य शरीर, जीवात्मा व आत्मा युक्त है उसे उसकी अजर अमर आत्मा का भी सम्मान करना होगा। अर्थात् आत्मोन्नति के लिए भी प्रेरित करना होगा। आत्मा की अमरता का ज्ञान बच्चे को देना शिक्षक का कर्तव्य है। मनुष्य क्यों जन्म लेता है? और कहाँ से आया है? इन दो बातों को जानने की उत्सुकता शिष्य मे पैदा की जानी चाहिए। और इन प्रश्नों के समाधान में शिष्य को मदद करनी चाहिए।

संक्षेप में कह सकते हैं कि शिक्षक को लौकिक व पारलौकिक विषयों का ज्ञान व अनुभव हो जिससे वह अपने शिष्यों का शारीरिक मानसिक, नैतिक व आध्यात्मिक विकास कर सके। उसे छात्र को स्वानुभव से ही शिक्षित करना होगा। उसमें शिष्य को प्रेरित करने की क्षमता हो। वह स्वतंत्रता प्रेमी, स्वावलम्बी व मौलिकतायुक्त हो। उसे मनोविज्ञान का ज्ञान, बच्चों की अभिक्षमता, अभिरुचि व विकास की विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक व बौद्धिक विकास को जानने के लिए परमावश्यक है। इसके साथ सबसे आवश्यक बात यह ध्यान में रखनी होगी कि शिष्य एक दैवी प्राणी है जिसमें अजर अमर आत्मा भी है और सम्पूर्ण शिक्षा प्रक्रिया उस वास्तविक 'सत्य' को प्राप्त करने का साधन है साध्य नहीं।

<u>शिक्षार्थी</u>

भारत की प्राचीन परम्परावादी गुरुकुल प्रणाली मे आस्था रखने वाली श्रीमती बेसेण्ट ने शिक्षार्थी के जीवन काल को कठोर परिश्रम एवं सद्गुणों के बीजारोपण का समय बताया है। उन्होंने प्राचीन ऋषियों द्वारा निर्धारित मानव के जीवन के चार आश्रमों की तुलना वृक्ष के रूपक द्वारा करके उसकी युक्तिसंगकता को प्रदर्शित किया है। ब्रह्मचर्य आश्रम की बीजारोपण से पेड़ निकलने की स्थिति से तुलना की है। जैसे किसी पेड़ का बीज बोने के उपरांत उसकी उचित देखभाल करनी पड़ती है उसके लिए उपयुक्त प्रकाश, जल, हवा आदि की समुचित व्यवस्था पर ध्यान देना पड़ता है। उसके आस पास की मिट्टी में घास आदि अनावश्यक पदार्थो को हटाकर पेड़ को उचित रूप में बढने में सहायता की जाती है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम मनुष्य के जीवन का वह प्रारम्भिक समय है जिस पर उसके जीवन के अन्य आश्रम गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास अवलम्बित हैं। यदि ब्रह्मचर्य आश्रम रूपी बीजारोपण का कार्य समुचित सावधानी एवं परिश्रम के साथ नही किया जाता तो व्यक्ति अपने जीवन के अन्य दायित्वों का निर्वहन ठीक से न कर सकेगा।

डा0 बेसेन्ट ने जन्म से सात वर्ष तक के शिशु काल को पूर्णतया शारीरिक विकास का काल बताते हुए इस काल में बच्चे को नियमित स्वतंत्रता देने को कहा जिससे वह अपने विभिन्न अंगों, मांसपेशियों व स्नायु का उचित विकास व उनका उचित प्रयोग समझ सके। यह कार्य घर पर माता-पिता द्वारा या नर्सरी स्कूल में किया जाये। इसके बाद के समय से, जब बच्चा गुरुगृह में विद्याध्ययन हेतु जाता है ब्रह्मचर्य आश्रम प्रारम्भ होता है। भारत की प्राचीन परम्परानुसार जब बच्चा गुरुकुल में विद्याध्ययन के लिए जाता है तो उसका उपनयन संस्कार होता है जिसमें उसे तीन धागे वाला यज्ञोपवीत एवं एक दंड दिया जाता है। तीन धागे वाले यज्ञोपवीत का महत्व यह है कि बच्चा जो अब तक स्वतंत्र था वह मन, वचन, और कर्म से अपने को नियंत्रण में रखने की प्रतिज्ञा करता है। साथ में दण्ड का औचित्य बाह्य संसार के खतरों से आत्मसुरक्षा करना। इसके साथ साथ छात्र को भिक्षाटन हेतु जाना होता है - अर्थात्- गुरु के प्रति स्वयं

को पूर्णतया समर्पित करना होता है। तब यह बच्चा शिष्य कहलाता है और तब से उसका ब्रह्मचर्य रूपी कठोर आश्रम प्रारम्भ होता है जिसकी समाप्ति विद्याध्ययन की समाप्ति पर होती है। शिक्षक की तरह शिष्य में भी अभीष्ट गुणों का होना आवश्यक है। डा0 बेसेन्ट ने शिष्य के लिए सेवा, स्वाध्याय, सरलजीवन एवं स्व-नियंत्रण इन चार गुणों का होना परमावश्यक बताया।

|1| सेवा

सेवा द्वारा छात्र को अपने आध्यात्मिक स्वभाव का प्रगटन करना चाहिए। उसे ईश्वर गुरू तथा माता पिता की सेवा करनी होगी। ईश्वर के निमित्त किया गया प्रत्येक कार्य शिष्य के लिए पूजा है। शिष्य को इस बात का आभास कराना है कि यह ईश्वर ही है जिसने प्रकृति को बनाया है वही सूर्य रूप में प्रकाशित है, वही वर्षा में विद्यमान है,उसी के जीवन से ही मिट्टी में उर्वरकता है। उसी की सत्ता से प्रेम, प्यार, विचारों की खुशी, बौद्धिक शक्ति, यौवन आदि अच्छे-अच्छे उपहार मनुष्य को मिले हैं। वह मनुष्य बहुत अकृतज्ञ है जो ईश्वर के इन सब उपहारों के बदले कछ नहीं दे सकता। मनुष्य को प्रार्थना द्वारा उसके दिए उपहारों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करनी चाहिए। से का यह आध्यात्मिक पहलू है।

सेवा का दूसरा पहलू धार्मिक है। अर्थात् शिष्य को अपने गुरू के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए जिसने उसे धार्मिक अध्ययन की ओर उन्मुख किया। वेदों और शास्त्रों के अध्ययन द्वारा शिष्य में नैतिकता व एकत्व की भावना का विकास होता है। क्योंकि धर्म ही एकत्व की ओर ले जाने वाला मार्ग होता है। उन्होंने बताया कि जो धर्म व्यक्ति को एकत्व की ओर नहीं ले जाता उस धर्म का क्षय हो जाता है इतिहास इसका साक्षी है। अतः ब्रह्मचारी को ईश्वर के प्रति सेवार्पण भाव रखते हुए पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

[2] स्वाध्याय

शिष्य के लिए दूसरा आवश्यक गुण अध्ययन है। आधुनिक शिक्षा में हम इसे शिक्षा का धर्मनिरपेक्ष भाग कहते हैं। जबकि वास्तविकता तो यह है कि कुछ भी धर्म-निरपेक्ष नहीं है, क्योंकि सभी ईश्वर से व्याप्त हैं सभी उचित विचार, इच्छाएं तथा कार्य दैवी सेवा के ही सत्य अंश हैं क्योंकि विस्तृत अर्थ में ये सभी सेवा पूजा ही हैं यदि वह ईश्वर और मनुष्य के निमित्त की गयी है।

छात्र अध्ययन क्यों करे? इस प्रश्न का उत्तर छात्र देगा कि परीक्षा पास करने के लिए। यह सही है परन्तु यह सिर्फ वास्तविक सत्य का एक अंश ही है। परीक्षा पास कर डिग्री प्राप्त कर लेना इस बात का द्योतक है कि छात्र ने अमुक ज्ञान हासिल कर लिया। लेकिन छात्र द्वारा कुछ तथ्यों को रट लेना ही ज्ञान प्राप्त करना नहीं है। अतः शिष्य रटने के बजाए स्वाध्याय द्वारा ज्ञान अर्जित करे। क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य ही है शिष्य की क्षमताओं को बाहर प्रगट करना, तथा मस्तिष्क के विभिन्न विभागों को प्रशिक्षित एवं अनुशासित करना। शिष्य को अपनी निरीक्षण , तर्क व निर्णयशक्ति का विकास करना है। उसे विभिन्न विषयों के अध्ययन से इन विभिन्न शक्तियों का विकास करना चाहिए। उसे अपनी आध्यात्मिकता, बौद्विक, नैतिक व शारीरिक क्षमता का इस प्रकार विकास करना होगा जिससे वह इन शक्तियों का सदुपयोग ईश्वर व मानव की सेवा, अपने देश, अपने परिवार व स्वयं के लिए कर सके। और इस प्रकार शिष्य अपना बौद्विक विकास कर सकेगा।

[3] सादा जीवन

ब्रह्मचारी का जीवन कठोर तपमय व सरल होना चाहिए। उसे जीवन के तथाकथित भोगों या सुखों को त्यागकर कठोर व्रत का पालन करना होगा। जमीन पर सोना, कम से कम वस्त्र पहनना, आज्ञापालन, सहनशीलता, सादा

भोजन, साहस आदि गुणों को धारण करना होगा। आज्ञापालन शिष्य के जीवन का सर्वप्रमुख कर्तव्य है क्योंकि गुरु शिष्य की अपेक्षा अधिक अनुभवी होते हैं और उनके अनुभवों से शिष्य अपने अनुभवों को पुष्ट करता है। आज्ञापालन से शिष्य अपने गुरुजनों के अनुभवों के फलों से लाभान्वित होता है। आज्ञापालन से ही अन्य सद्‌गुणों स्वयंमेव आ जाते हैं जैसे - कानून के प्रति प्रतिबद्धता, कर्तव्यनिष्ठा एवं स्वामीभक्त नागरिकता। आज्ञा पालन के गुण से शासन करने की भावना आती है। क्योंकि जो व्यक्ति आज्ञाकारी नहीं है वह दूसरों से आज्ञा मनवाने में न्यायसंगत नहीं होगा। क्योंकि वह आज्ञा मानने वाले की भावना से परिचित नहीं है। उसे इस बात का एहसास नहीं है कि जब बड़े कोई आज्ञा करते हैं तो छोटों को कैसा महसूस होता है। शिष्य को सरल जीवन बिताते हुए अपने अन्दर शारीरिक व नैतिक साहस रखना होगा। शारीरिक साहस की अपेक्षा नैतिक साहस अधिक आवश्यक है। नैतिक साहस से तात्पर्य उस हिम्मत से है जो छात्र के चरित्र को दृढ बनाती है। जैसे- गल्ती हो जाने पर अपनी गल्ती स्वीकार कर लेना नैतिक साहस का उदाहरण है। इससे मनुष्य का चरित्र सुदृढ होता है। श्रीमती बेसेण्ट ने आधुनिक शिष्य में इस गुण की कमी की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए छात्रों से नैतिक साहस लाने का आग्रह किया। क्योंकि यदि शिष्य ने अपने शैक्षिक जीवन काल में इस गुण को विकसित कर लिया है तो वह अपने भावी जीवन में समुदाय के लिए, देश के लिए एक शक्ति स्तम्भ बन जायेगा। जिसको समाज सम्मानित करेगा उस पर विश्वास करेगा और वह मनुष्य का मार्गदर्शक बन जायेगा।

सादे जीवन के अन्तर्गत सादा रहन सहन, आलस्य रहित होना, विलासिता की वस्तुओं से दूर रहना, जमीन पर शयन करना, अविवाहित जीवन व्यतीत करना आदि बातों का भी ध्यान रखना ब्रह्मचारी का कर्तव्य है। उन्होंने इन सब आदतों के पालन करने का वैज्ञानिक औचित्य भी बताया जैसे अधिक गरिष्ठ भोजन करने से शरीर भारी हो जाता है पाचन शक्ति कमजोर हो

जाती है आलस्य आता है जिससे छात्र में स्फूर्ति व शक्ति कम जाती है। विवाहित व्यक्ति की भी शक्तियाँ कम हो जाती हैं इसलिए शिष्य को अविवाहित रह कर अध्ययन करना चाहिए। श्रीमती एनी बेसेण्ट द्वारा स्थापित बनारस के सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज में विवाहितों को प्रवेश नहीं दिया जाता था।

सद्व्यवहार का एक पक्ष और है समूह-भावना। छात्र के अन्दर इस भावना का विकास सबसे अच्छी तरहं खेल-कूद द्वारा किया किया जा सकता है। इसलिए खेलकूद के माध्यम से छात्रों में सामूहिक भावना विकसित की जाये। खेल में बच्चों के अन्दर यह भावना लानी होगी कि टीम की विजय उनकी विजय है न कि उनकी विजय से टीम की विजय है। खेलकूद में हार व जीत दो ही पक्ष होते हैं। हारने पर उन्हें जीतने वाली टीम के प्रति द्वेष भाव नहीं होना चाहिए। अपितु उस टीम के अच्छे प्रदर्शन के प्रति सम्मान की भावना होनी चाहिए। यदि शिष्य में यह सामूहिक भावना प्रचुरता से है तो निश्चय ही वह समाज, समुदाय व राष्ट्र के हित को प्रमुख स्थान देगा स्वहित को नही। इस प्रकार सादे जीवन का पालन करने से छात्र के नैतिक पक्ष का विकास होगा।

[4] स्व नियंत्रण

शिष्य के जीवन का यह पक्ष शारीरिक विकास के लिए आवश्यक है। इसमें छात्र को अपने मन, इन्द्रियों व शरीर पर नियंत्रण रखना पड़ता है। गुरू के पास आते ही शिष्य अपने को यज्ञोपवीत के तीन धागों से युक्त कर मन, वचन, कर्म से नियंत्रित होने की प्रतिज्ञा करता है। और गुरू के सामीप्य में रहकर उनकी आज्ञा का पालन करते हुए स्वाध्याय के लिए प्रवृत्त होता है। उसे अपनी भावनाओं, संवेगों, शारीरिक सुख व मनोभावों को नियंत्रित करना पड़ता है। इस नियंत्रण से शिष्य के अन्दर मनो शारीरिक शक्तियों का विकास होता है जिसका उपयोग वह तब करता है जब अध्ययन के उपरांत वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है।

इस प्रकार डा0 एनी बेसेण्ट के शिष्य सम्बंधी विचार प्राचीन भारतीय आर्य संस्कृति की याद दिलाते हुए उनका अनुकरण करने का सुझाव देते हैं। और शिष्य के चर्तुमुखी विकास के लिए सेवा, अध्ययन, सादा जीवन और स्व नियंत्रण जैसे गुणों को आवश्यक मानते हैं।

शिक्षालय

तत्कालीन प्रचलित शिक्षालयों को देखकर डा0 बेसेन्ट को बहुत क्षोभ हुआ था। एक तरफ परम्परावादी भारतीय विद्यालय अपनी गरिमा खोते जा रहे थे और दूसरी ओर अंग्रेजी माध्यम के सरकारी सहायता प्राप्त तथा मिशनरी स्कूल भारतीयों के दिल में स्थान बना रहे थे लेकिन ये स्कूल भारतीयों को उनकी संस्कृति के प्रति घृणा के बीच बो रहे थे। इन स्कूलों का एक ही उद्देश्य था शासन को चलाने के लिए ऐसे भारतीय तैयार करना जो भाषा, शिक्षा, रहन सहन व रीति रिवाज में अंग्रेजों की नकल करें और एक तरफ अन्य भारतीयों से अपने को श्रेष्ठ समझें तथा अंग्रेजों और भारतीयों के बीच मध्यस्थ का काम करें। इन विद्यालयों में बालक के चतुरंगी विकास की ओर ध्यान न देकर सिर्फ बौद्धिक विकास पर ही ध्यान दिया जा रहा था। इन विद्यालयों में रटने की शक्ति पर विशेष बल दिया जाता था । विद्यालय में अध्यापक अपने ज्ञान को बच्चों को लिखा देता था जिसे बच्चे अपनी स्मरण शक्ति के आधार पर रट कर परीक्षा भवन में कापी पर अंकित कर खाली सिर वापिस आ जाता था। शिक्षा का उद्देश्य परीक्षा पास कर नौकरी हासिल करना था अर्थात् उस ज्ञान का व्यवहारिक उपयोग उसे नहीं सिखाया जाता था। विद्यालय का वातावरण भय का स्थान होता था न कि प्रसन्नता का । जहाँ छात्र दण्ड के द्वारा शासित होता था न कि प्रेम के द्वारा। आत्म प्रकाशन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जितनी देर छात्र विद्यालय में रहता उतनी देर अध्यापक के कठोर नियंत्रण में रहना पड़ता । घर जाने पर भी गृह कार्य के बोझ से छात्र परेशान रहता। उसे शरीर को चुस्त रखने के लिए, खेल के लिए भी अवकाश नहीं मिल पाता। इसका दुष्प्रभाव यह हुआ कि छात्र का बौद्धिक विकास तो हुआ परन्तु शारीरिक ,

नैतिक व आध्यात्मिक विकास नहीं। फलत छात्र के व्यक्तित्व का विकास एकागी हुआ। न तो वह देश भक्त, समाजसेवी स्वतंत्रता प्रेमी व मानव प्रेमी बन सका। जब कि किसी भी देश के सशक्त व समृद्धशाली होने के लिए स्वराष्ट्र प्रेमी, कर्मठ व स्वामिभक्त नागरिकों का होना नितांत आवश्यक है। अतः भारत के नव राष्ट्र के निर्माण के लिए डा0 बेसेण्ट ने ऐसे विद्यालयों की आवश्यकता पर बल दिया जहाँ पर छात्रों में देशभक्ति, अतीत के प्रति गर्व, आत्मविश्वारा, अपने धर्म व संस्कृति पर आस्था तथा गौरव, सुनहले भविष्य के प्रति जागरूकता तथा वास्तविक सत्य' को जानने की शिक्षा दी जाती हो। इसीलिए उन्होंने प्राचीन भारतीय शिक्षालयी व्यवस्था को नवीनता का जामा पहनाकर स्थापित करने पर बल दिया। बनारस का सेंट्रल हिन्दू कॉलेज इसी भावना का जीवन्त प्रयोग था। उनकी शिक्षा योजना में विद्यालय के सम्पूर्ण वातावरण का विस्तृत विवरण दिया गया है। बालक के चर्तुमुखी विकास के लिए उसमें पर्याप्त ध्यान दिया गया है। प्राचीन शिक्षालयों की भाँति सभी विद्यालय नगर से दूर जंगल में स्थापित करना वर्तमान परिप्रेक्ष्य में असम्भव है लेकिन उनकी व्यवस्था व स्वायत्तता को कायम रक्खा जा सकता है। उस समय भी शिक्षालयों को आर्थिक सहायता राजा , प्रजा व शिष्यों के माता-पिता से उपहार स्वरूप मिलती थी। परन्तु उसके व्यय की गुरु को पूर्ण स्वतंत्रता थी। न तो राजा हस्तक्षेप करता था न प्रजा ही। अतः राज्य द्वारा सहायता प्राप्त विद्यालयों में गुरू को पूर्ण स्वायत्तता मिलनी चाहिए। उसे छात्रों के सर्वांगीण विकास का पूर्ण अधिकार दिया जाये। उसे छात्रों के सर्वतोमुखी विकास के लिए जिन साधनों की आवश्यकता हो वह पूरा किया जाये। उसमें समाज के सभी वर्गों के सहयोग की आवश्यकता है। क्योंकि विद्यालय समाज का एक अंग है और संस्कृति का संस्थापक एवं संवाहक है। विद्यालय भय का स्थान न होकर प्रेम, सहिष्णुता, सौहार्द्र व सहकारिता की भावना से ओतप्रोत हो । विद्यालय समाज में फैली बुराइयों आज्ञानता, कटुता, वैमनस्य, बर्बरता, दरिद्रता, घृणा, द्वेष आदि को ज्ञान रूपी प्रकाश से दूर करने में सक्षम हों। इसीलिए डा0 एनी बेसेण्ट ने 'गुरुकुल की ओर लौटो' का नारा लगाया था और आध्यात्मिक व बौद्धिक क्षेत्र में प्राचीन गौरव को प्राप्त करने के लिए प्राचीन गौरव को प्राप्त करने के लिए प्राचीन

गुरुकुलों की तरह कुछ विद्या केन्द्रों की स्थापना पर बल दिया। अतः शिक्षालय ऐसे हों जहाँ शिक्षा के वास्तविक लक्ष्य शिष्य की आध्यात्मिक , बौद्धिक, नैतिक व शारीरिक शक्तियों का प्रकाशन किया जा सके।

शारीरिक शक्तियों के विकास के लिए विद्यालय में पर्याप्त मैदान हों जहाँ बच्चे विभिन्न प्रकार के खेलों के माध्यम से अपने शरीर को स्वस्थ व हृष्ट पुष्ट बनाये। ताकि वे बौद्धिक व आध्यात्मिक कार्यों के लिए तैयार हो सके। शरीर की स्वस्थता का महत्व पुराण में भी वर्णित है- 'शरीरमाद्य खलु धर्म साधनम्' । इसी प्रकार के विचार पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तू के भी है - 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन होता है'। खेल शारीरिक स्वस्थना के लिए तो आवश्यक है ही इसके अतिरिक्त खेल के माध्यम से बच्चों में समूह चेतना का विकास होता है। समूह भावना से किया गया प्रत्येक कार्य निश्चय ही समाज व राष्ट्र के हित में होता है। इससे राष्ट्रीय चेतना का विकास होता है। यही प्रवृत्ति विश्व चेतना में बदल जाती है। इसलिए विद्यालय में शारीरिक व्यायाम व खेलकूद पर पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। डा० बेसेण्ट ने अपनी शिक्षा-योजना मे सायं 4 से 6 बजे का समय शारीरिक खेलकूद के लिए निर्धारित किया है।

अनुशासन

प्राचीन गुरुकुल प्रणाली की प्रवक्ता एवं आदर्शवादी धार्मिक महिला होने के कारण डा0 बेसेण्ट शिक्षा में अनुशासन के पालन को गुरु एवं शिष्य दोनों के लिए आवश्यक मानती है। जब वह शिक्षक को उच्च आदर्शो युक्त, कर्तव्यनिष्ठ, संयमी, अध्यवसायी, मानवप्रेमी सत्य निष्ठ आदि गुणों से युक्त होने की बात कहती है तब वह प्रभावात्मक अनुशासन की समर्थक दिखाई पड़ती है। क्योंकि उनका कथन है कि अध्यापक को छात्र की आत्मा का मित्र व प्रतिनिधि बनना चाहिए। अतः अध्यापक जैसे आचरण की छात्रों से अपेक्षा करता है वैसा स्वयं आचरित करे। छात्र अपने अध्यापक के व्यवहार से स्वयमेव उन आदर्शो को ग्रहण कर लेगा।

दूसरी ओर वह छात्रों के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का पालन करने की जोरदार सिफारिश करती है। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश के समय छात्र को अनुशासित जीवन के लिए तीन धागे वाला यज्ञोपवीत धारण करना होता है जिसका अर्थ है - तन-मन व कर्म से नियंत्रण में रहने की प्रतिज्ञा । अर्थात् शारीरिक, मानसिक व कर्म से नियंत्रण में रहना। शारीरिक , मानसिक व कर्मः से नियंत्रण में रहना शारीरिक नियंत्रण के अन्तर्गत उसे शरीर को सुख देने वाले कार्यो को त्यागकर कठोर तपमय जीवन व्यतीत करना होगा। जैसे- जमीन पर शयन, तन ढकने के लिए कम से कम वस्त्र, बिना गुरु की आज्ञा के कोई भी खाद्य सामग्री ग्रहण न करना, नियमित सादा आहार आदि। मानसिक अनुशासन के लिए छात्रों को उनकी भावनाओं, संवेगों और प्रवृत्तियों को नैतिक आदर्शो के अनुकूल बनाया जाता है जिससे पशुता वाली प्रवृत्तियाँ समाप्त होकर ईश्वरीय एकत्व का अनुभव कर सकें। इसके लिए छात्र को नियमित दिनचर्या का पालन करना होता है। प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में उठकर संध्योपरांत शास्त्रों का अध्ययन , मनन, चिंतन व व्यावहारिक उपयोग। उसे जो कुछ ज्ञान दिया जाता है उसका व्यवहार में प्रयोग आवश्यक है। जैसे- प्रेम की भावना का प्रदर्शन ईश्वर गुरु माता-पिता तथा सुहृदजनों की सेवा के रूप में किया जाये। सेवा का यही भाव दृढ होता हुआ विश्व प्रेम में बदल जाता है। ईश्वर के दिए हुए उपहारों के प्रति प्रार्थना के द्वारा कृतज्ञता व्यक्त करके की जा सकती है। गुरु की सेवा आज्ञापालन द्वारा की जायें। माता-पिता की सेवा , उनके

प्रति कर्तव्यपरायणता की भावना से करनी चाहिए। अपने आस पास के बन्धुओं की सेवा इसलिए की जाये कि वह परमात्मा का एक अंश है। और उस अंश की सेवा करना परमात्मा की सेवा करना है। इसीलिए डा0 बेसेण्ट ने छात्रों के आवश्यक गुणों में 'सेवा' को सर्वप्रथम महत्व दिया है। सेवा के इस गुण से छात्रों में नैतिक, मानसिक व आत्मिक अनुशासन स्थापित होता है। जो उसके बौद्धिक, आध्यात्मिक व मानसिक विकास में सहायक होता है।

डा0 बेसेण्ट ने छात्रों के लिए जो चार आवश्यक गुण बताये हैं उनमें स्व नियंत्रण भी एक गुण है। जिसमें उन्होंने शारीरिक अंगों पर नियंत्रण रखने पर बल दिया है। शिष्य को अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना होगा जिसे शास्त्रों में इन्द्रिय निग्रह कहा गया है। शिष्य को इन्द्रियों का दास नहीं वरन् स्वामी बनना होगा। इन्द्रिय निग्रह के बाद मनो निग्रह करना होगा। मनोनिग्रह का अर्थ मन की निष्क्रियता नहीं है प्रत्युत मन को शुभ विचारों से परिपूर्ण रखने से है। यह तभी सम्भव है जब छात्र ब्रह्मचर्यव्रत का पूर्णतया पालन करे। ब्रह्मचर्य के पालन से छात्र का मस्तिष्क परिपक्व होता है और स्नायु तंत्र पुष्ट होते हैं।

इस प्रकार डा0 बेसेण्ट अनुशासन के प्रभावात्मक व आत्मानुशासन के सिद्धान्त पर विशेष बल देती है। लेकिन दमनात्मक व प्रकृतिवादियों के मुक्त्यात्मक अनुशासन की सिफारिश नहीं करती। वे अनुशासन में स्वतंत्रता का किंचित समर्थन करती हैं जब वे शिक्षकों से शिष्यों की क्षमताओं का पता लगाने के लिए उन्हें स्वतंत्रता देने की बात करती हैं । वे यह नहीं चाहती कि छात्र को उसकी रुचि व क्षमता के विपरीत ले जाया जाये। क्योंकि इस प्रकार का ज्ञान उसके व्यक्तित्व को निखारने की बजाए असंतुलित बना देगा। जिसका परिणाम अनुशासनहीनता होगी। वर्तमान समय में छात्रों मे अनुशासन हीनता का एक कारण यह भी है।

श्रीमती बेसेण्ट शिक्षा के द्वारा न केवल छात्र को अनुशासनबद्ध कर देना चाहती

हैं बल्कि वह पूरे समाज को अनुशासित करना चाहती थीं। जब अनुशासित छात्र समाज में प्रवेश करेगा तब वह अपने आचरण से समाज को भी प्रभावित करेगा। सामाजिक तौर पर अनुशासन स्थापित करने और प्रसारित करने के लिए ही उन्होंने व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम का जीवन व्यतीत करने एवं समाज में वर्ण धर्म के पालन पर जोर दिया है। उन्होंने लिखा है कि समाज में वर्ण व्यवस्था से व्यवस्था (अनुशासन) स्थापित होगी। क्योंकि समाज व्यक्तियों का अनुशासित सगठन है, जिसके संचालन मे प्रत्येक व्यक्ति को आत्मानुशासन, आत्मनियत्रण एवं आत्म त्याग करना पड़ता है।

स्त्री शिक्षा

डा0 एनी बेसेण्ट द्वारा सस्थापित बनारस का सेट्रल हिन्दू बालिका विद्यालय तथा थियोसोफिकल हाई स्कूल ,अड्यार मद्रास में बालिकाओं के लिए विद्यालय खोलना उनके स्त्री शिक्षा के प्रति विशेष लगाव का द्योतक है। भारत में अंग्रेजी शासन के पूर्व लगभग छह शताब्दी तक मुगलों का शासन होने के कारण स्त्रियों की सामाजिक दशा काफी खराब हो गयी थी। उन्हें शिक्षा के भी पर्याप्त अवसर प्राप्त नहीं थे। पर्दा प्रथा का प्रचलन होने से अनेक सामाजिक कुरीतियाँ फैली हुई थीं। अंग्रेजी शिक्षा में बालिकाओं के लिए प्रथक विद्यालय खोले गये। लेकिन उनमें भारतीय प्राचीन परम्परानुसार शिक्षा का अभाव था। अतः भारत की नारियों के लिए प्राचीन आदर्शो के अनुसार शिक्षालय खोलने के लिए डा0 बेसेण्ट ने अथक प्रयास किया।

बालिकाओं की शिक्षा इसलिए बालकों की शिक्षा से ज्यादा महत्व की है कि बालिकायें ही भविष्य की पत्नियाँ और माँ बनेंगी जिन पर परिवार तथा राष्ट्र का कल्याण निर्भर है। उन्होंने इंग्लैण्ड तथा अमेरिका का उदाहरण देते हुए कहा कि इन देशों में शिक्षा अधिकतर स्त्रियों द्वारा दी जाती है। यही नहीं जीवन के हर क्षेत्र में स्त्रियाँ पुरुषों का हाथ बँटाती हैं। उन्होंने प्राचीन भारत का उदाहरण देते हुए बताया कि वैदिक युग में अनेक ऐसी विदुषी स्त्रियाँ थीं जिन्होंने वेद मंत्रों की रचना भी की थी। अतः भारत को अपने अतीत के गौरव को पुनः स्थापित करना होगा। उन्होंने सोलह वर्ष से पूर्व बालिकाओं की शादी का कड़ा विरोध किया तथा सोलह वर्ष की अवस्था तक लड़कियों की निःशुल्क शिक्षा की सलाह दी।

डा0 बेसेण्ट ने अपनी राष्ट्रीय शिक्षा योजना में बालिकाओं की शिक्षा हेतु उनकी आवश्यकता व रुचि के अनुसार शिक्षा प्रदान करने का सुझाव दिया है। उनकी स्त्री शिक्षा के मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं-

[अ] प्रत्येक बालिका को धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों को समझाया जाये। विभिन्न धार्मिक नेताओं के चरित्रों को कहानी द्वारा बताया जाये। बच्चे किसी भी

धर्म या विश्वास के हों उन्हें विभिन्न धर्मो में निहित एकता का परिचय कराते हुए धार्मिक सहिष्णुता का भाव जागृत किया जाये। प्रतिदिन प्रातः काल ईशवंदना द्वारा स्कूल का कार्यक्रम प्रारम्भ किया जाये। उन्हें धर्मो में निहित रूढ़ियों व अंधविश्वासों से मुक्त रक्खा जाये। माध्यमिक स्तर पर उन्हें धर्म दर्शन का ज्ञान दिया जाये। इसके साथ साथ प्राचीन भारतीय व विदेशी नारियों के उच्च आदर्शो से प्रेरणा लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाये।

|ब| बालिकाओं को साहित्यिक शिक्षा के अन्तर्गत प्रादेशिक अथवा मातृभाषा का ज्ञान देकर तत्सम्बंधी साहित्य पढ़ने के लिए प्रेरित किया जाये। प्राचीन साहित्य के अध्ययन हेतु संस्कृत, पाली, अरबी या फारसी भाषा का ज्ञान जरूरी है। इससे प्राचीन मूल धर्म ग्रंथ पढ़ने व समझने में सरलता होगी। द्वितीय भाषा के रूप में अंग्रेजी के अध्ययन को आवश्यक बताया । इस भाषा के माध्यम से अन्य देशों का साहित्य, विज्ञान व तकनीकी ज्ञान सीखा जा सकता है।

|स| बालिकाओं को गृह विज्ञान की शिक्षा दी जानी चाहिए क्योंकि उन्हें पारिवारिक जिम्मेदारी भी वहन करनी होती है। इसलिए उन्हें रहन सहन , सफाई एवं स्वास्थ्य विज्ञान का ज्ञान देना अनिवार्य है। भोजन पकाना तथा स्वास्थ्यप्रद भोजन के तत्वों का ज्ञान दिया जाये। घर में प्रायः चोट व अन्य बीमारियाँ आती रहती हैं। अतः उनसे निबटने के लिए प्राथमिक चिकित्सा व रोगी की परिचर्या का ज्ञान होना बहुत जरूरी है। अतः इसकी शिक्षा भी दी जाये। रोगों से बचाव के लिए किन बातों का ध्यान रक्खा जाये इसका भी ज्ञान बालिकाओं को दिया जाना चाहिए। घरेलू व्यवस्था व घरेलू अर्थशास्त्र का ज्ञान भी कुशल गृहणी होने के लिए आवश्यक है।

|द| बालिकाओं तथा स्त्रियों का विशेष झुकाव ललित कलाओं या गृह शिल्प सम्बंधी कौशलों में होता है अतः उन्हें जीवनोपयोगी तथा मनोरंजक कलाओं का शिक्षण

दिया जाना चाहिए इससे वे अपना अवकाश काल का सदुपयोग कर सकेगी तथा सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति का विकास भी होगा। ललित कलाओं में बालिका की रुचि व योग्यतानुसार संगीत गायन अथवा वाद या नृत्य या चित्रकला का ज्ञान दिया जा सकता है। सिलाई बुनाई या कढ़ाई का भी प्रशिक्षण क्षमतानुसार दिया जाये। क्योंकि जब बालिका गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करेगी तब उसे इन सब ज्ञान की उपयोगिता समझ में आयेगी। ग्रामीण महिलाओं को उनके परिवेश के आवश्यकतानुसार छोटे छोटे शिल्पों या कौशलों का ज्ञान दिया जाये। जैसे- टोकरी बनाना , पंखे बनाना , सूप बनाना, बच्चों के खिलौने बनाना आदि।

इसके साथ साथ शारीरिक व्यायाम खेलकूद तथा श्रम के प्रति निष्ठावान बनने का प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए। उन्होंने नारियों की शिक्षा के लिए समाजसेवी शिक्षित युवतियों का आह्वान किया कि वे कार्यरत प्रौढ महिलाओं को उनके घर पर जाकर शिक्षण सम्बंधी सामग्री ले जाकर उन्हें पढ़ना लिखना व गणित तथा घरेलू स्वास्थ्य एवं पोषण सम्बंधी तथा अवकाश काल के सदुपयोग सम्बंधी शिक्षा दें। क्योंकि भारत की दशा तब तक नहीं सुधर सकती जब तक भारत की स्त्रियाँ शिक्षित नहीं होतीं।

जन शिक्षा

डा0 बेसेण्ट ने राष्ट्र के उत्थान में देश के सभी वर्गो के बालक, प्रौढ व दलितों को अज्ञानाधंकार से दूर करने तथा दासता की बेड़ियों से मुक्त करने की अपील की। 'बिल्डर ऑफ न्यू इण्डिया' में उन्होंने लिखा है-

'देश पूरे राष्ट्रीय जीवन में तब तक नहीं उठ सकता जब तक कि जनता दासता से मुक्त नहीं होती और उनकी अयोग्यताएं दूर नहीं की जाती'।

उन्होंने भारत के लिए एक वृहत् राष्ट्रीय शिक्षा योजना बनाई और भारतीय नेताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। उन्होंने राष्ट्र निर्माण के सूक्ष्म तत्वों को भी खोज निकाला। उनके अनुसार एक राष्ट्र एक मनुष्य की तरह ही 'एक जैविक एवं सामाजिक व्यक्ति हैं'। तथा एक व्यक्ति की तरह ही एक राष्ट्र का जीवन भी चार भागों पर आधारित है - आत्मा, विचार, भावना एवं शरीर। धर्म राष्ट्र की आत्मा है , शिक्षा राष्ट्र का विचार है, समाज राष्ट्र की भावना है एवं राजनीति राष्ट्र का शरीर है। अतः पूरे भारत के नव निर्माण के लिए उसके सभी अंगों का समुचित विकास करना होगा। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आयु क्षमता, योग्यता व आवश्यकतानुसार शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया। उनका शिक्षा से सिर्फ यह अर्थ नहीं था कि उन्हें पढ़ने लिखने व गणित की शिक्षा दी जाये अपितु इसके अतिरिक्त नौकरी की अपेक्षा स्वरोजगार के लिए लोगों को तैयार किया जाये। इसलिए उन्होंने अपनी राष्ट्रीय शिक्षा योजना में ग्रामीणों को उनके क्षेत्र से सम्बंधित छोटे छोटे व्यवसायों का प्रशिक्षण देने को कहा जिससे वे उन व्यवसायों को कुशलतापूर्वक अपना सकें। उन्हें गावों की भौगोलिक परिस्थिति तथा जलवायु से अवगत कराया जाये ताकि वे उसके अनुकूल व्यवसायों का चयन कर सकें। ग्रामीणों को मिट्टी का ज्ञान, कब कौन सी फसल बोई जाए तथा उसके उपयुक्त जलवायु का ज्ञान, खेती के औजारों के उपयोग का ज्ञान, बागवानी, बीज का ज्ञान, बढ़ईगीरी, लुहारगिरी, पशु की नस्ल तथा उनके रोगों के उपचारों का ज्ञान, मानव स्वास्थ्य विज्ञान का ज्ञान दिया जाये।

जन साधारण की शिक्षा एक बड़ी समस्या है क्योंकि यह पूरे राष्ट्र के लिए होगी। अतः इस शिक्षा के समुचित संगठन का उत्तरदायित्व समाजसेवी संस्थाओं को लेना होगा। गांवों में यह कार्य ग्राम पंचायतों को पुनर्जीवित करके किया जाये। गांवों में सहकारी आंदोलन शुरू किए जाएं। इससे शिक्षा का प्रसार शीघ्र एवं सरल होगा। उनका विश्वास था कि अगर ग्राम पंचायतें बन कर सहकारी ढंग से काम शुरू होगा तो निश्चय ही सरकार भी सहायता देगी। इससे शिक्षा में आत्मनिर्भरता भी आयेगी। शिक्षा निःशुल्क हो। इसके लिए पंचायतों में दो विभाग हों एक शिक्षा विभाग और दूसरा व्यवस्था विभाग। व्यवस्था विभाग द्वारा जनता पर कर लगाकर प्रारम्भिक शिक्षा का आर्थिक भार वहन करना होगा।

सन्दर्भ

1- बेसेण्ट स्पिरिट, एनी बेसेण्ट, भाग 2, पृ0 26, 1939
2- वही पृष्ठ 28
3- वही, पृष्ठ 30
4- वही, पृष्ठ 28-30
5- वही पृष्ठ 111
6- वही, पृष्ठ 118
7- वही, पृष्ठ 116
8- वही, पृष्ठ 68

****

अध्याय-7

निष्कर्ष एवं सुझाव

****

निष्कर्ष एवं सुझाव

स्वामी विवेकानन्द एव डा0 एनी बेसेण्ट के जीवन वृत, कृतित्व, जीवन दर्शन, शैक्षिक दर्शन, धर्म सम्बधी विचार तथा शैक्षिक आदर्शो का गहन, विस्तृत, विश्लेषित एव तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरात शोधकर्त्री द्वारा निम्नलिखित निष्कर्ष अन्वेषित किये गए। यद्यपि दोनों विचारक भारतीय परम्परावादी आदर्शवादी दर्शन के समर्थक है इस दृष्टि से इनके शैक्षिक विचारों में यथेष्ट साम्यताएं दिखाई देती हैं। परन्तु भिन्न सामाजिक व पारिवारिक परिवेश में पोषित होने के कारण कहीं-कहीं कार्य करने की शैली में भिन्नता आना स्वाभाविक है।

समानताएं:

स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन का दार्शनिक आधार अद्वैत वेदान्त है और डा0 एनी बेसेण्ट का थियोसॉफी। परन्तु एनी बेसेण्ट द्वारा लिखित सनातन ज्ञान पुस्तक में वर्णित ब्रह्म का निरूपण 'एकमेवऽद्वितीयम्' इनके अद्वैतवादी होने का परिचायक है। अतः शिक्षा मे इस दार्शनिक आधार को दोनों ने प्रमुख स्थान दिया है। तदनुरूप शिक्षा में समानता का सिद्धान्त अपनाया है। वर्गभेद, जाति भेद व लिंगभेद के बिना सभी को शिक्षा दी जाये इसका दोनों विचारकों ने समर्थन किया है तथा अपने कार्यो मे रूपान्तरित भी किया है।

विश्वबंधुत्व व विश्वैक्य की भावना के विकास को द्वोनें शिक्षाविदों ने आवश्यक बताया। अद्वैत मत के समर्थक होने के कारण स्वामी विवेकानन्द ने प्रत्येक मानव को परमात्मा या परमसत् का अंश बताया। अतः मानव सेवा ईश-सेवा है। सेवा तथा प्रेम के भाव को स्वामी जी ने 'यत्रजीव तत्र शिव' के महामंत्र द्वारा व्यक्त किया तथा इसको अमल में लाने पर जोर दिया। ऐसे ही विचार श्रीमती एनी बेसेण्ट के हैं। उन्होंने प्रत्येक आत्मा को सत् अग्नि की चिंगारी बताते हुए मानव की सेवा ईश-भाव से किए जाने पर बल दिया। इसी उद्देश्य को लेकर 'रामकृष्ण मठ व मिशन'

तथा 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव-सेवा मे रत है।

शिक्षा बालक में अन्तर्निहित क्षमताओं का विकास है। सूचना प्रदान करना या विषयों की जानकारी देना शिक्षा नहीं है। शिक्षा सम्बंधी ये विचार दोनों मनीषियों को मान्य हैं। स्वामी जी ज्ञान को व्यक्ति में निहित स्वीकारते है इसलिए वह अन्तः स्थित ज्ञान को अनावृत्त करने की प्रक्रिया को शिक्षा मानते हैं। श्रीमती बेसेण्ट मनुष्य को दैवी प्राणी मानते हुए उसके अन्दर निहित क्षमताओं व शक्तियो के विकास को शिक्षा कहती हैं। शिक्षा की यह धारणा दोनों के मनोवैज्ञानिक आधार की पुष्टि करती है।

मनोवैज्ञानिक आधार पर मानव की समस्त योग्यताओं व क्षमताओं को शारीरिक, मानसिक , बौद्धिक एवं संवेगात्मक श्रेणी में विभाजित किया जाता है। तद्नुकूल इन समस्त क्षमताओं का समन्वित विकास शिक्षा का उद्देश्य है ऐसा स्वामी विवेकानन्द एवं श्रीमती एनी बेसेण्ट का विचार है। इसके अतिरिक्त जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य 'आत्मानुभूति' को शिक्षा का सर्वोपरि उद्देश्य दोनों मनीषियों बताया है। इस दृष्टिकोण से दोनों विद्वान आध्यात्मिक विकास को शिक्षा का अंतिम लक्ष्य मानते हैं। चूँकि 'आत्मानुभूति' के लिए आत्म प्रकाशन अनिवार्य है । और आत्मप्रकाशन के लिए व्यक्ति को अपनी समस्त शक्तियों व योग्यताओं की जानकारी प्राप्त करना व उसका समुचित दिशा में विकास करना आवश्यक है। अतः शारीरिक, मानसिक बौद्धिक व संवेगात्मक विकास शिक्षा के अन्य उद्देश्य हैं।

दोनों विचारक शिक्षा को जीवन लक्ष्य प्राप्ति का साधन मानते हैं। इनका मत है कि साध्य के साथ साथ साधन भी पुष्ट होना चाहिए। अगर साधन ठीक है तो साध्य की प्राप्ति होगी ही। साधन को कारण और साध्य को कार्य बताते हुए स्पष्ट किया कि अगर कारण स्वरूप शिक्षा उचित एवं पर्याप्त होगी तो साध्य की प्राप्ति अवश्यंभावी है। उन्होंने तत्कालीन शिक्षा की निन्दा करते हुए कहा कि वह

शिक्षा सिर्फ मुंशी व बाबू बनाने वाली मशीन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अत साधन स्वरूप शिक्षा में परिवर्तन साध्य के अनुरूप किया जाये।

मनुष्य के वैयक्तिक गुणों व क्षमताओं के विकास को शिक्षा का लक्ष्य बताते समय द्वय शिक्षा मनीषी व्यक्तिवादी मत के समर्थक हो जाते हैं। लेकिन इन दोनों ने समाज की भी उपेक्षा नहीं की। दोनों ने वैयक्तिक विकास सामाजिक परिप्रेक्ष्य में किए जाने पर बल दिया। सामाजिक विकास हेतु प्रेम, सहानुभूति, सौहार्द , विश्वबंधुत्व परोपकार, दान, सेवा आदि गुणों के विकास पर दोनों विचारक एक मत हैं। समाज को महत्व देने के कारण ये प्रयोजनवादी मत के समर्थक हो जाते है।

देश की संस्कृति उसकी मेरुदण्ड होती है। मेरुदण्ड चरमरा जाने पर देश का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। अत सस्कृति का हस्तान्तरण, रक्षण एवं परिवर्द्धन नितान्त आवश्यक है। उन्नीसवीं शताब्दी में हो रहे सांस्कृतिक अवमूल्यन को देखकर दोनों विचारक क्षुब्ध हुए थे और उन्होंने अपने शैक्षिक प्रयासों से सांस्कृतिक पुर्नजागरण स्थापित करने मे योग दिया। साथ ही भारतीयों को यह भी बताया कि उनकी संस्कृति विश्व की सभी संस्कृतियों से प्राचीनतम एवं श्रेष्ठ है। जिस समय पाश्चात्य देश के लोग जंगलों मे विचरण कर रहे थे उस समय भारत मे उपनिषद् जैसे सर्वोच्च दार्शनिक ग्रंथ रचे गये। इस प्रकार पाश्चात्यों द्वारा फैलाई गयी भारतीय संस्कृति की भ्रामक धारणाओ का दोनो शिक्षाविदों ने खण्डन किया और भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान किया।

द्वय शिक्षा विदों के शैक्षिक-दर्शन में समन्वयवादी दृष्टिकोण की झलक मिलती है। प्राच्य की आध्यात्मिकता और पाश्चात्य की भौतिकता के बीच समन्वय पर दोनों का आग्रह है। स्वामी जी ने भारत का विशेषत्व आध्यात्मिक ज्ञान तथा पाश्चात्य का विशेषत्व भौतिकज्ञान बताते हुए दोनों देशों को एक दूसरे के ज्ञान के आदान-प्रदान द्वारा पुष्ट होने की प्रेरणा दी। यही कारण है कि स्वामी जी ने

पाश्चात्य देश में 'वेदान्त सोसायटी' की स्थापना कर उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान की ओर प्रेरित किया। और आज भी विश्व मे इसके केन्द्रों की सख्या निरन्तर बढ़ रही है। भारतीयों को पाश्चात्य देशो से वैज्ञानिक एवं तकनीकी ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित भी किया। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने भी अपनी शैक्षिक योजना में आध्यात्मिक एवं भौतिक विषयों को यथेष्ट स्थान देकर समन्वयवादी विचारधारा का समर्थन किया है।

शिक्षा के उद्देश्यों के अनुरूप पाठ्यक्रम निर्धारित होता है। अत स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनी बेसेण्ट के शिक्षा लक्ष्यों के आधार पर हम कह सकते है कि पाठ्यक्रम के प्रति उनके विचार लगभग समान ही हैं। व्यक्तिगत रूचि पर आधारित पाठ्यक्रम निर्धारित करने की बात उनके प्रकृतिवादी दृष्टिकोण को दर्शाती है। जीवन-निर्वाह की योग्यता प्रदान करने वाले विषयों के शिक्षण एव क्रियाशीलता पर महत्व देते समय दोनो विचारक प्रयोजन वादी दर्शन के समर्थक हो जाते हैं। मानव जीवन के चरम लक्ष्य आत्मानुभूति के अनुसार शिक्षा का चरम लक्ष्य 'आत्मानुभूति' मानने के कारण ये आदर्शवादी विचारधारा के पोषक हो जाते हैं। वैज्ञानिक विषयों की अनिवार्यता का कथन इनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचायक है। इस प्रकार इन दोनों मनीषियों ने लौकिक विषयों के पाठ्यक्रम मे भाषा, साहित्य, गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान , तकनीकी व व्यावसायिक ज्ञान, शारीरिक विज्ञान, कला, संगीत आदि विषयों के शिक्षण को आवश्यक बताया। आध्यात्मिक ज्ञान का सम्प्रेषण आध्यात्मिक गुरू के सानिध्य में ही प्राप्त किया जा सकता है ऐसा दोनों विचारकों का मानना है। और स्वयं भी दोनों आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति ऐसे ही की थी। फिर भी आध्यात्मिक ज्ञान हेतु वेदों के अध्ययन एवं विभिन्न धर्मो के अध्ययन को पाठ्यक्रम में यथेष्ट स्थान दिया है। इनका पाठ्यक्रम समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचायक है।

शिक्षण-पद्धति शिक्षा का एक साधन है अतः शिक्षक को इसका दास नहीं बनना चाहिए। उसे छात्रों की योग्यता तथा अपने व्यक्तित्व द्वारा ऐसा मार्ग दर्शन

करना चाहिए जिससे छात्र जीवन को सुखमय बना सके। इस प्रकार के विचार श्रीमती एनीबेसेण्ट के है। इससे यह विदित होता है कि श्रीमती बेसेण्ट विभिन्न आयु वर्ग एव क्षमता के बच्चो के लिए अलग अलग विधियों का समर्थन करती है। स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा की प्रमुख विधि एकाग्रता बताई। इसके बिना कोई भी शिक्षण कार्य सम्भव नहीं है। इसके साथ-साथ व्याख्यान , कक्षालाप, वार्तालाप, प्रश्नोत्तर, स्वाध्याय, स्वानुभूति, निरीक्षण, उपदेश आदि विधियो का दोनों विचारकों ने अपने शिक्षण मे अनुप्रयोग किया है।

दोनों शिक्षा शास्त्रियों ने भारत के प्राचीन गौरव व संस्कृति को पुन· स्थापित करने का सतत प्रयास किया है। एनी बेसेण्ट द्वारा संस्थापित बनारस का सेंट्रल हिन्दू कालेज इसका ज्वलन्त उदाहरण है। स्वामी विवेकानन्द के द्वारा स्थापित 'रामकृष्ण मठ व मिशन' द्वारा संचालित विद्यालयों का भी प्रमुख उद्देश्य छात्रों में भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग पैदा करना व उसके सार्वभौमिक सिद्धान्तों को जानकर उसके अनुरूप आचरण करना है।

प्राचीन आदर्शो व मूल्यों मे दोनों शिक्षा-विदों की आस्था है। लेकिन वे प्राचीनता का नवीनता के साथ समन्वय भी करते दिखाई देते हैं। डा0 एनी बेसेण्ट ने कहा कि विज्ञान के क्षेत्र में जो प्रगति हुई है उसके ज्ञान से भारतीय छात्रों को अवगत कराया जाये। शिक्षण मे परम्परागत पद्धति के साथ साथ वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाये। उन्होंने स्पष्ट किया कि विज्ञान का ज्ञान भौतिक जगत् के एकत्व को जानने के लिए आवश्यक है। इसके ज्ञान द्वारा छात्रों का मानसिक व बौद्धिक विकास सम्भव है। स्वामी विवेकानन्द ने भी पाश्चात्य ज्ञान व विज्ञान की उन बातों के अध्ययन को आवश्यक बताया जो भारत के लिए उपयोगी है। विवेकानन्द के समय भारत आर्थिक दृष्टि से पाश्चात्य देशों की अपेक्षा काफी पीछे था। भारत की अधिकांश जनता को पेट भर भोजन भी सुलभ नहीं था। धर्मान्धता एवं रूढ़िवादिता का प्रकोप छाया हुआ था। जिससे समाज में अनेक कुरीतियों का प्राबल्य हो गया

था। सामाजिक सगठन अव्यवस्थित हो गया था। अत इन सब दोषों को दूर करने के लिए उन्होने शिक्षा मे वैज्ञानिक आधार को आवश्यक बताया। उन्होंने स्वय भी भारत के रीति-रिवाजों व आचार-विचार की वैज्ञानिक व्याख्या की। जो रीति-रिवाज इस आधार पर खरे नहीं उतरते है उन्हे त्यागने का भी आग्रह किया।

प्राचीन आदर्शो व मूल्यो के प्रति निष्ठा द्वय शिक्षाविदो की आदर्शवादी विचारक होने की गवाही देती है। इसी कारण इन दोनो ने विद्यालय में गुरू को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। गुरू के व्यक्तित्व का प्रभाव छात्र पर पड़ता है अत. गुरू को शास्त्रों का मर्मज्ञ , पवित्र, ज्वाज्वल्यमान चरित्रयुक्त, नि स्वार्थी तथा नाम-धन या यश की कामना रहित होना चाहिए। ऐसा दोनो विचारकों का मत है। गुरू को अपने छात्रा के प्रति पुत्रवत् व्यवहार करना चाहिए। साथ ही साथ शिष्य में भी विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक बताया। छात्र में सत्य प्राप्ति ही इच्छा, विद्यानुरागिता, कर्तव्यपरायणता, विनम्रता , आज्ञाकारिता, विवेकशीलता, कर्मठता, ब्रह्मचर्यता आदि गुणों का होना आवश्यक बताया। दोनों शिक्षाशास्त्रियों ने छात्र के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अनिवार्य बताया। ब्रह्मचर्य के महत्व को बताते हुए कहा कि - ब्रह्मचर्य के पालन से मानसिक व बौद्धिक विकास होता है। स्वामी विवेकानन्द ने इस गुण को आजीवन धारण कर अपनी बौद्धिक कुशलता का परिचय दिया। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने भी छात्रों के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य बताया। उनके द्वारा संस्थापित सेंट्रल हिन्दू कॉलेज में प्रवेश की एक अनिवार्य योग्यता ब्रह्मचारी होना था। गुरू का व्यक्तित्व अग्नि के समान देदीप्यमान हो जिसके प्रकाश से शिष्य अपने अन्तर्निहित गुणों को प्रकाशित कर सके। अन्तर्निहित क्षमताओं का विकास गुरू के सानिध्य के बिना सम्भव नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि गुरू -शिष्य का प्रत्यक्ष सम्पर्क अनिवार्य है। प्रत्यक्ष सम्पर्क के लिए छात्र का गुरू गृह में निवास आवश्यक है। दोनों शिक्षाशास्त्रियों के उपरोक्त विचार प्राचीन गुरूकुल प्रणाली का समर्थन करते हैं।

शिक्षा में धर्म की शिक्षा दी जाये या नहीं यह समस्या आज भी विवादित बनी हई है। अनेक समितियॉ बनाई गयीं इसके सम्बन्ध में सुझाव देने हेतु। परन्तु

अभी भी मतैक्य नहीं हो पाया है। इस सम्बध में स्वामी विवेकानन्द के विचार दृष्टव्य है। स्वामी जी ने 'धर्म' शब्द की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने धर्म , मत व सम्प्रदाय के अतर को स्पष्ट करते हुए कहा कि धर्म मानव की अनिवार्यता है। बिना धर्म के मानव का जीवन वैसे ही व्यर्थ है जैसे बिना ताप के अग्नि। इन्हाने धर्म का अर्थ कुछ गुणो का धारण करना बताया। गुणो का निर्धारण नीतिशास्त्र के आधार पर क्यिा जाता है। अत शिक्षा का आधार धर्म होना अनिवार्य है। ऐसा स्वामी विवेकानन्द का मानना है। धर्म के प्रचलित अर्थ को स्वीकारते हुए स्वामी जी ने स्पष्ट किया कि सभी धर्म एक ही केन्द्र बिन्दु परमात्मा की ओर प्रवृत्त होने वाली विभिन्न त्रिज्याए हैं अत सभी धर्मो के प्रति सहिष्णुता , सहयोग व सौहार्द्र का दृष्टिकोण रखना चाहिए विरोध या परभाव विनाश का नहीं। शिक्षा में धर्म की शिक्षा की अनिवार्यता श्रीमती एनी बेसेण्ट को भी मान्य है। इन्होंने अपनी विस्तृत शिक्षायोजना मे लिखा है कि सभी स्तर की शिक्षा का आधार धर्म प्रधान हो। विद्यालय में शिक्षण कार्य प्रारम्भ होने के पूर्व प्रार्थना अवश्य करायी जाय। पाठ्यक्रम मे विभिन्न धर्ममतों के सामान्य तत्वों तथा उनके प्रवर्तकों के चरित्र को स्थान दिया जाय। इससे छात्र सभी धर्मो में निहित एकरूपता से अवगत होकर सभी धर्मो के प्रति सहिष्णु बनेंगे।

विभिन्न धर्मो के अध्ययन के साथ-साथ विभिन्न दर्शन, साहित्य व विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन किए जाने का समर्थन दोनों विचारकों ने किया है। 'थियोसोफिकल सोसाइटी' तथा 'रामकृष्ण मिश' के उद्देश्यों मे से एक उद्देश्य इस आशय की पुष्टि करता है । इस प्रकार का अध्ययन मानवीय दृष्टिकोण को विस्तृत कर सहिष्णु बनाता है। स्वयं भी दोनों मनीषियों ने इस प्रकार के अध्ययन का अनुप्रयोग किया था। जिसका विवरण अध्याय तीन में सविस्तार दिया गया है।

शिक्षा के अभिकरण के रूप में विद्यालय की भूमिका के सम्बंध में दोनों विचारक प्राचीन गुरूकुल व्यवस्था के समर्थक हैं। इन दोनों का मानना है कि विद्यालय नगर मे वातावरण से दूर होने चाहिए। विद्यालय के लिए सबसे आवश्यक बात है

वहाँ का वातावरण शुद्ध, शात , पवित्र व भय रहित हो। डा0 बेसेण्ट ने विद्यालय को समाज का एक अग मानते हुए कहा कि विद्यालय प्रेम, सहिष्णुता, सौहार्द्र व सहकारिता की भावना से ओत-प्रोत हो। वह समाज मे फैली बुराइयों अज्ञानता, कटुता, वैमनस्य, बर्बरता, दरिद्रता, घृणा, द्वेष आदि को ज्ञानरूपी प्रकाश से दूर करने मे सक्षम हो। इसी उद्देश्य से डा0 बेसेण्ट ने विद्यालयों की स्थापना , प्रबध एव प्रशासन का दायित्व आध्यात्मिक सस्थाओ पर सौंपा। स्वय भी 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' के तत्वावधान मे प्रत्येक लॉज से सम्बंधित विद्यालय की संस्थापना की। स्वामी विवेकानन्द मठवादी परम्पदा के अनुयायी होने के कारण मठ के संन्यासियों द्वारा विद्यालय सचालित किए जाने का समर्थन करते हैं। वे ऐसे विद्यामन्दिर स्थापित किए जाने के पक्षधर थे जिसमे साम्प्रदायिक भेदभाव के बजाए विभिन्न सम्प्रदायों के समान धार्मिक तत्व समझाए जाये। विद्यालयों की स्थापना, संचालन व प्रशासन का समस्त दायित्व त्यागी, समाजसेवी व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा ही किया जाए। इन विद्यालयों से जुड़ी अन्य संस्था द्वारा अध्यापकों को प्रशिक्षित भी किया जोय। स्वामी विवेकानन्द ने अपने इन विचारों को यथार्थ रूप प्रदान कर अनेक शिक्षकों को देश विदेश मे धार्मिक व लौकिक शिक्षा के प्रसार हेतु भेजा था।

सरकार के बढ़ते हुए हस्तक्षेप के प्रति क्षोभ प्रगट करते हुए दोनों मनीषियों ने अपनी अपनी संस्थाओं के माध्यम से विद्यालयों की स्वतंत्रता व स्वायत्ता के प्रति रुचि दिखाई। उनका मानना है कि विद्यालय देश की परम्परा तथा संस्कृति के वाहक होने चाहिए। अन्यथा देश का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। शिक्षा में स्वतंत्रता और अनुशासन के सम्बंध मे दोनों शिक्षा मनीषी आदर्शवादी विचारधारा से साम्यता रखते हैं। शिक्षा के उद्देश्य व पाठ्यक्रम निर्धारण तथा शिक्षण विधि के प्रयोग के सम्बंध में शिक्षक को पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए इसका समर्थन स्वामी विवेकानन्द और श्रीमती एनी बेसेण्ट दोनों ने किया। छात्रों को उनकी रुचि, क्षमता व योग्यतानुसार विकसित करने की स्वतंत्रता की बात कहते समय ये दोनों रूसो की तरह पूर्ण स्वतंत्रता के समर्थक तो नहीं हैं परन्तु व्यक्तित्व के विकास के लिए नियंत्रित स्वतंत्रता आवश्यक

बताते है । दोनों विद्वानो ने छात्र को ब्रह्मचर्य पालन, आज्ञाकारिता, सयमित आहार-विहार आदि गुणों का पालन करना अनिवार्य बताया। इनका विचार है कि सत् की प्राप्ति के लिए सद्गुणों का धारण अनिवार्य है। अनुशासन के सम्बध में ये प्रभावात्मक अनुसाशन में आस्था रखते है। इनका मानना है कि शिक्षक को विशिष्टगुण युक्त होना चाहिए जिन गुणों की वह छात्र से अपेक्षा करता है। क्योंकि उसके व्यक्तित्व का प्रभाव शिष्यों पर पड़ता है। दोनों विचारक प्रकृतिवादियों के मुक्तात्यक अनुशासन और परम्परावादियो के दंडात्मक अनुशासन का विरोध करते है। चूंकि इनका लक्ष्य 'आत्मानुभूति' है अत इस लक्ष्य की प्राप्ति दण्ड या भय से प्राप्त नहीं हो सकती। यह सिर्फ आत्मानुशासन से ही प्राप्त की जा सकती है। आत्मानुशासन के लिए आत्म प्रकाशन आवश्यक है और आत्म प्रकाशन स्वतत्र वातावरण में ही सम्भव है। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने भी शारीरिक दण्ड देने का विरोध किया। उनका कहना है कि शिक्षक छात्रों को प्रेम व सहानुभूति द्वारा नियंत्रित करे दण्ड द्वारा नहीं। स्वामी विवेकानन्द ने छात्रों में निर्भयता का गुण अनुशासन हेतु आवश्यक बताया। उन्होंने कहा कि निर्भयता से छात्र मे आत्म विश्वास व आत्मबल आता है जो प्रत्येक अनुशासित चरित्र का आधार है।

वर्तमान नई शिक्षा नीति 1986 में शैक्षिक अवसरों की समानता की जो चर्चा की गयी है। उसको स्वामी विवेकानन्द एवं श्रीमती एनी बेसेण्ट ने एक शताब्दी पूर्व अपने शैक्षिक प्रयोग में अपना लिया था। दोनों विचारक स्त्रियों को पुरुषों के समान शिक्षा दिए जाने के समर्थक हैं। समाज के कमजोर, दलित व पिछड़े वर्ग की शिक्षा की सिफारिश की तथा उसका क्रियान्वयन दोनों ने कर दिखाया। दोनों का विचार था कि जब तक राष्ट्र के इन दलितों व पिछड़े वर्गो को समुचित शिक्षा नहीं दी जायेगी तब तक राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकता।

असमानताऐं·

यद्यपि दोनो विचारक भारतीय आदर्शवादी विचारधारा के समर्थक रहे है। दोनों का प्रमुख उद्देश्य विश्व मानव का कल्याण और सेवा करना है तथापि भिन्न भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक व सास्कृतिक परिवेश में जन्म लेने के कारण कहीं-कहीं विचार एव कार्यशैली में भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। एक ओर स्वामी विवेकानन्द मठवादी परम्परा के अनुयायी व समर्थक दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर डा० बेसेण्ट थियोसोफिकल सोसाइटी की अनन्य भक्त। मठवादी होने के कारण स्वामी विवेकानन्द ने देश के धार्मिक व सास्कृतिक पुनरुत्थान को ही महत्व दिया है उनका मानना है कि सच्चा धार्मिक व्यक्ति सद्गुण युक्त हो जाता है। उसमे राष्ट्रप्रेम, विश्वप्रेम जैसे गुण आ जाते है। इसलिए इसलिए उन्होंने सामाजिक व राजनीतिक सुधार की अपेक्षा शैक्षिक व आध्यात्मिक पुनरुत्थान पर विशेष महत्व दिया। उन्होंने शिक्षा द्वारा चरित्रवान नागरिक बनाने का आह्वान किया। इस पुनीत कार्य के लिए उन्होंने दो हजार संन्यासियों की आवश्यकता बताई जो दिव्य आध्यात्मिक क्षण मे हृदय में साहस सजोकर गॉव गॉव जाकर श्री रामकृष्ण का संदेश प्रसारित करे। श्रीमती बेसेण्ट मठवादी परम्परा से हटकर संस्थावादी मत की समर्थक हैं। इनका झुकाव न केवल सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ओर है अपितु राजनैतिक व सामाजिक सुधारों की ओर भी है। 'होमरूल आन्दोलन' का श्रीगणेश इनके राजनैतिक झुकाव का प्रत्यक्ष उदाहरण है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक सामाजिक संगठनों का निर्माण कर समाज सुधार में योगदान दिया। बाल-विवाह को रोकने के लिए सभी बालक-बालिकाओं को स्कूल में शिक्षा ग्रहण करना एवं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना अनिवार्य बताया। 'गर्ल गाइड' और 'बॉयस्काउट' 'ब्रदर्स आफ सर्विस' संस्थाओं को स्थापित करना इनकी सामाजिक अभिरुचि का द्योतक है।

स्वामी विवेकानन्द ने कोई व्यवस्थित शिक्षा प्रणाली या शिक्षा योजना बनाकर शिक्षा के विभिन्न स्तरों के अध्ययन के विषय या शिक्षण विधि का निरूपण नहीं किया है। उनके शिक्षा सम्बंधी विचार पत्र तथा व्याख्यान वार्तालाप या संलाप द्वारा ही ज्ञात होते हैं। जब कि श्रीमती बेसेण्ट ने एक सुव्यवस्थित राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली

की योजना बनाकर उसके अनुरूप शैक्षिक सस्थाए स्थापित की। श्रीमती बेसेण्ट विज्ञान की छात्रा थीं अत· इन्होंने वैज्ञानिक पद्धति को शिक्षा मे पर्याप्त स्थान दिया। इन्होने नर्सरी व शिशु कक्षाओं में खेल-विधि , कहानी-कविता विधि का समर्थन किया तथा प्राथमिक स्तर पर अनुकरण, कहानी, अभिनय तथा क्रिया विधि का। स्वामी विवेकानन्द ने विभिन्न आयु वर्ग के बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न शिक्षण विधियों की भी चर्चा नहीं की। परन्तु उन्होंने शिक्षा मे 'एकाग्रता' को प्रमुख विधि माना। उन्होंने मन की एकाग्रता को सम्पूर्ण शिक्षा का सार बताया उनके शब्दों मे-

ज्ञानार्जन के लिए निम्नतम श्रेणी के मनुष्य से लेकर उच्चतम योगी तक को इसी एक मार्ग का अवलम्बन करना पड़ता है।

स्वामी विवेकानन्द ने एकाग्रता का महत्व दर्शाते हुए बताया कि एकाग्रता के कारण कलाकार व संगीतकार अपनी कला में प्रवीणता प्राप्त करते हैं। एकाग्रता के फलस्वरूप मनुष्य के भीतर के अंग प्रत्यग उसके दास बन जाते है- मालिक नहीं। और तब व्यक्ति जो कुछ जानना चाहता है वह जान जाता है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने प्रारम्भ से ही बच्चो को 'ध्यान' का अभ्यास कराने का आग्रह किया।

स्वामी विवेकानन्द ने अनौपचारिक शिक्षा को विशेष महत्व दिया जबकि श्रीमती बेसेण्ट ने औपचारिक शिक्षा को। उन्होंने भारतीयों की दशा देखते हुए सुझाव दिया कि समाज के जो वर्ग विद्यालय जाकर शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते उन्हें उनके द्वार पर ही शिक्षा दी जाये। आज दूरस्थ - शिक्षा का भी यही उद्देश्य है। स्वामी जी ने इस कार्य को सम्पादित करने का दायित्व मठ के युवा संन्यासियों तथा शिक्षित युवाओं पर सौंपा। जबकि श्रीमती एनी बेसेण्ट का झुकाव औपचारिक शिक्षा में दिखाई देता है। इन्होंने बनारस , मद्रास तथा अन्य स्थानों पर विद्यालयों की स्थापना कर औपचारिक शिक्षा को बढ़ावा दिया। इन्होंने 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' के प्रत्येक लॉज से सम्बद्ध एक विद्यालय स्थापित किया। अनुसूचित जाति के लोगों के लिए अलग विद्यालय खोलकर उनका पुनरुत्थान किया।

अनौपचारिक शिक्षा को महत्व देने के कारण स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता महसूस नहीं की। उनका कहना था कि व्यक्तियों को उन की रुचि , योग्यता व आवश्यकता के अनुरूप शिक्षा प्रदान करना आवश्यक है। अत पाठ्यक्रम व पाठ्य-विधि भिन्न-भिन्न होनी चाहिए। इस प्रकार स्वामी जी उदार सामान्य व व्यावहारिक शिक्षा देने के पक्षधर हैं। जबकि श्रीमती बेसेण्ट औपचारिक, व्यवस्थित, क्रमबद्ध व सुनियोजित शिक्षा की समर्थक। श्रीमती बेसेण्ट तत्कालीन सरकार द्वारा संचालित विद्यालयों के सामानान्तर अपनी राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अनुसार विद्यालय स्थापित कर भारतीयों में राजनैतिक व सांस्कृतिक चेतना लाना चाहती थीं।

स्वामी विवेकानन्द और एनी बेसेण्ट के विचारों में भिन्नता का एक आधार दार्शनिक सिद्धातों की भिन्नता है। स्वामी विवेकानन्द के दर्शन का दृढ आधार वेदान्त है जबकि एनीबेसेण्ट का थियोसॉफी । दार्शनिक दृष्टिकोण से थियोसॉफी का आधार पुष्ट नहीं है क्योंकि इसमें विभिन्न धर्ममतों से तथ्य चुनकर एकत्रित किए गए हैं। हॉलाकि भारत में पदार्पण करने और भारत के दर्शन व शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद श्रीमती बेसेण्ट के विचारों मे परिवर्तन दिखाई देता है। सनातन ज्ञान में लिखित ब्रह्म का निरूपण, आत्मा की अमरता, पुर्नजन्म में विश्वास , कर्म सिद्धान्त आदि की व्याख्या उपनिषदो के आधार पर की गयी है। परन्तु थियोसॉफी के आधार के कारण उनकी धर्म की उत्पत्ति सम्बंधी व्याख्या स्वामी विवेकानन्द की व्याख्या से भिन्न है। थियोसॉफी के आधार पर श्रीमती बेसेण्ट सभी धर्मो की उत्पत्ति 'श्वेत संघ' के महात्माओं द्वारा मानती हैं । जबकि विवेकानन्द धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या मानवीय विकास की अवस्थाओं के अनुसार करते हैं। उन्होंने धर्म को मत से अलग मानकर उसकी व्याख्या की। धर्म को 'अनुभूति' से परिभाषित किया। धर्म को सम्पूर्ण मानव में परिव्याप्त माना है। धर्म को शाश्वत आत्मा का शाश्वत् ब्रह्म से शाश्वत् सम्बंध बताया। धर्म के प्रचलित अर्थ के बारे में उनका विचार था कि वैयक्तिक भिन्ना के कारण तथा भिन्न-भिन्न सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार अनेक मतों या सम्प्रदायों का उदय हुआ है लेकिन सभी मतों का उद्देश्य समान है- एकत्व की प्राप्ति। अतः भिन्न

धर्मो के बीच विरोध भाव को त्यागकर सहयोग एव सहिष्णुता की भावना को विकसित किया जाये ऐसा स्वामी विवेकानन्द ने सर्वधर्म सम्मेलन मे अभिभाषित किया था। दूसरी ओर डा0 बेसेण्ट विभिन्न धर्मो के समान तत्वों को एकत्रित कर सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण करती हैं। इसी भिन्नता के कारण शिक्षा में धर्म की शिक्षा सम्बंधी विचारों में भी भिन्नता दिखाई देती है।

स्त्रियों की शिक्षा के सम्बंध मे श्रीमती एनी बेसेण्ट द्वारा विशेष कार्य किए गये। सुदूरवर्ती क्षेत्रों में कन्याओं के लिए विद्यालय खोले जहाँ उनकी आवश्यकता के अनुसार शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए अनेक आन्दोलन चलाए जैसे- समान कार्य के लिए समान वेतन। स्वामी विवेकानन्द स्त्रियों को पुरुषों के समान शिक्षा देने व उनकी उन्नत दशा के हिमायती तो थे परन्तु वे चाहते थे कि इस कार्य में स्वयं स्त्रियाँ आगे आयें। इसीलिए स्त्रीशिक्षा सम्बंधी कार्य उनकी शिष्या भगिनी निवेदिता ने संपादित किए। स्वामी जी सह-शिक्षा के समर्थक नहीं थे जब कि श्रीमती बेसेण्ट सह-शिक्षा की समर्थक थीं।

उपसंहार:

स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनी बेसेण्ट के शिक्षा दर्शन की उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन का दार्शनिक आधार अद्वैत मत की सुदृढ भित्ति पर आधारित है जो भारतीय दर्शन की सर्वोच्च पराकाष्ठा है। इन्होंने अरण्य के सिद्धान्तों का व्यावहारिक प्रयोग कर उसकी सार्वभौमिकता एवं सर्वव्यापकता सिद्ध की। अद्वैतमत के आधार पर 'शिक्षा में समानता' के आधार पर सभी वर्गो की शिक्षा का समर्थन किया। शिक्षा को जीवन के लक्ष्य 'आत्मानुभूति' का साधन मानकर पुष्ट करने पर बल दिया। आत्मानुभूति के लिए शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक एवं सांस्कृतिक विकास को आवश्यक बताया। शिक्षा सभी को सुलभ हो इसके लिए शिक्षित युवाओं तथा संन्यासियों को घर घर जाकर शिक्षा देने

के लिए प्रेरित किया। इनका शिक्षा मे पाठ्यक्रम का आधार स्थिर न होकर गतिशील है। चरित्र गठन इनकी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। इसी कारण वर्तमान समय में इनके द्वारा स्थापित 'रामकृष्ण सघ' अपने उद्देश्यों को बड़ी कुशलतापूर्वक पूरा करने मे कृतसंकल्प हैं। यह संघ वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप विज्ञान व तकनीकी की शिक्षा भी प्रदान करता है।

'यद्यपि विवेकानन्द अतीत भारत की नींव पर दृढ़ और परम्परा के प्रति गौरवान्वित रहे हैं, तो भी जीवन की समस्याओं के प्रति उनकी विचारधारा आधुनिक थी..... अवसाद ग्रस्त तथा हतोत्साह हिन्दू मन के लिए वे एक संजीवनी शक्ति के रूप में आये थे और उसमें उन्होंने आत्मविश्वास तथा अतीत पर श्रद्धा का भाव भी पैदा किया।'

पं0 जवाहर लाल नेहरू द्वारा कहे गये उपरोक्त विचार स्वामी विवेकानन्द के योगदान को प्रदर्शित करते हैं। स्वामी विवेकानन्द के बहुआयामी व्यक्तित्व का आचार्य पक्ष विशेष महत्वपूर्ण है। इन्होंने जो कुछ संकल्प किया उसे आचरित कर दिखाया। गुरू में जिन गुणों का होना आवश्यक है इनका व्यक्तित्व मानों उन गुणों की खान है। इन्हीं गुणों के कारण स्वामी विवेकानन्द आज भी भारतमाता की जागृत आत्मा मे जीवित हैं। योगी अरविन्द की वाणी इनकी जीवंतता को इन शब्दों में व्यक्त करती है-

' हम कहते हैं- देखो! मातृभूमि की जागृत आत्मा में विवेकानन्द आज भी जीवित हैं। भारत माता की संतानों के हृदय में विवेकानन्द आज भी अधिष्ठित हैं।'

श्रीमती बेसेण्ट के शिक्षा-दर्शन का आधार पोख्ता न होते हुए भी सांस्कृतिक जागरण में विशेष रूप से सहायक है। इनके शैक्षिक प्रयत्नों ने अनेक भारतीय नेताओं को प्रभावित किया था। महात्मा गांधी ने कहा था-

'भारत को निद्रा से जगाने का कार्य श्रीमती बेसेण्ट ने किया तथा जब तक भारत जीवित है तब तक उनकी महान सेवाए भी जीवित रहेगी।'

इनके शिक्षा दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण आधार मनोवैज्ञानिक एव वैज्ञानिक है। जिसके आधार पर इन्होंने एक वृहत् राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाकर कार्यान्वित की। इन्होने शिक्षा के विभिन्न स्तरों के उद्देश्य व पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय बालक की विभिन्न क्षमताओ के विकास को ध्यान में रक्खा है। बालक में सेवा भाव के आदर्श के प्रयोग हेतु 'गर्ल गाइड' व 'बॉय स्काउट' तथा 'ब्रदर्स ऑफ सर्विस' जैसी संस्थाएं खोली। भारत की आत्मा धर्म को भारत के पुनरुत्थान का प्रमुख अंग बनाया। प्रत्येक स्तर की शिक्षा में धर्म को स्थान दिया। सबसे महत्वपूर्ण योगदान सांस्कृतिक पुनरुत्थान है। पाश्चात्य की भौतिक संस्कृति के पीछे पलायन करते हुए भारतीयों को उनकी सस्कृति के गौरवमय तत्वों को बताते हुए उसके प्रति श्रद्धा , प्रेम व अनुराग उत्पन्न करने के लिए प्रेरित किया। बनारस का सेंट्रल हिन्दू कॉलेज इसी का प्रतीक है। अत: हम कह सकते है कि शिक्षा जगत् में स्वामी विवेकानन्द एवं डा0 एनी बेसेण्ट का शिक्षा-दर्शन न केवल सांस्कृतिक जागरण के लिए आवश्यक है अपितु सामयिक समस्याओं के निदान तथा भौतिक व आध्यात्मिक ज्ञान के समन्वय हेतु भी आवश्यक है।

अग्रिम अध्ययन हेतु सुझाव:

वर्तमान अध्ययन में स्वामी विवेकानन्द और डा0 एनी बेसेण्ट के शिक्षा-दर्शन की तुलना की गयी है। इसमे दोनों विचारकों के सामाजिक व राजनीतिक पक्ष को सम्मिलित नहीं किया गया है। अत: इस पक्ष का अध्ययन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में किया जा सकता है। डा0 एनी बेसेण्ट के शिष्य जे0 कृष्णमूर्ति के शिक्षा-दर्शन का अध्ययन डा0 एनी बेसेण्ट के साथ करना उपयोगी हो सकता है।

महात्मागांधी के साथ एनी बेसेण्ट के राजनैतिक सम्बंध रहे हैं। इनके 'होम रूल आंदोलन' का प्रारम्भ में तो भारतीय नेताओं ने समर्थन नहीं किया था। परन्तु

बाद मे वे इसके महत्व को समझ गये थे। और श्रीमती एनी बेसेण्ट के साथ आन्दोलन को गति दी। अत महात्मा गांधी और एनी बेसेण्ट, गोखले और एनी बेसेण्ट , महामना मालवीय और डा0 बेसेण्ट, विवेकानन्द और ...वी . आदि विचारकों के अध्ययन शैक्षिक जगत क लिए लाभप्रद हो सकते है। एक अध्ययन गुरूदेव रवीन्द्रनाथ के साथ विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन की तुलना सम्बधी भी उपयोगी हो सकता है।

भारतीय धर्म और संस्कृति मे विश्वास करने वाले योगी अरविन्द ने नवीन शैक्षिक प्रयोग किया था। अत उनके शैक्षिक दर्शन की तुलना स्वामी विवेकानन्द या एनी बेसेण्ट के साथ भी की जा सकती है। भारत में थियोसॉफिकल सोसाइटी की वर्तमान स्थिति की तुलना डॉ0 एनी बेसेण्ट के समय की 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' से करने पर डॉ0 एनी बेसेण्ट के कार्यो का मूल्यांकन भी किया जा सकता है। और इससे वर्तमान समय मे उसमे उपयोगी सुधार की दिशा मिल सकती है।

स्वामी विवेकानन्द ने जिन उद्देश्यो को लेकर 'रामकृष्ण मिशन की संस्थापना की थी उसके सन्दर्भ में 'रामकृष्ण मिशन' के कार्यो का मूल्याकन सम्बंधी अध्ययन प्रासंगिक है।

* * * * *

****

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

****

* अय्यर, सी0पी0 रामास्वामी आधुनिक भारत के निर्माता- एनीबेसेण्ट, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, 1970.
* कबीर, हुमायूँ भारतीय शिक्षा दर्शन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1963
* काणे, डा0 पाण्डुरगवामन धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन, हिन्दी भवन, महात्मा गाधी मार्ग, लखनऊ।
* गभीरानन्द, स्वामी युग नायक विवेकानन्द तीन खण्ड, रामकृष्णमठ, नागपुर, 1994.
* गुप्त, लक्ष्मीनारायण· महान पाश्चात्य एवं भारतीय शिक्षा शास्त्री, कैलाश प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद, 1992.
* चौबे, डा0 सरयू प्रसाद भारतीय और पाश्चात्य शिक्षा शास्त्री, राम प्रसाद एण्ड सन्स, आगरा, 1969.
* दुबे , डा0 शुकदेव· भारतीय संस्कृति के संवाहक, स्मृति प्रकाशन, शहराराबाग, इलाहाबाद।
* पाण्डेय, डा0 राम शकल शिक्षा दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1972
* पाण्डेय, डा0 राम शकल· विश्व के श्रेष्ठ शिक्षा शास्त्री, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1990.
* बेसेण्ट, एनी: मनुष्य तथा उसके कोष, इण्डियन बुक-शॉप, वाराणसी, 1986
* बेसेण्ट, एनी: सनातन ज्ञान, इण्डियन बुक शॉप, थियोसॉफिकल सोसाइटी, भारतीय शाखा, वाराणसी, 1974.
* बेसेण्ट, एनी. मुमुक्षका मार्ग, इण्डियन बुक-शॉप थियोसॉफिकल सोसाइटी, भारतीय शाखा, वाराणसी, 1961

* बेसेण्ट एनी ब्रह्म जिज्ञासु का जीवन, इण्डियन बुक शॉप, थियोसॉफिकल सोसाइटी, कमच्छा, वाराणसी, 1984

* बेसेण्ट, एनी जीवन की पहेली, इण्डियन बुक शॉप, थियोसॉफिकल सोसाइटी, कमच्छा, वाराणसी,

* बेसेण्ट, एनी कर्म-सिद्धान्त एक अध्ययन, इण्डियन बुक शॉप थियोसॉफिकल सोसाइटी, कमच्छा, वाराणसी, 1968

* बेसेण्ट, एनी एवं सी0 डब्ल्यू0 लेडवीटर का भाष्य· आध्यात्मिक जीवन, इण्डियन बुक शॉप , थियोसॉफिकल सोसाइटी, कमच्छा, वाराणसी, 1987

* मजूमदार, सत्येन्द्रनाथ विवेकानन्द चरित्र, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1989.

* मिश्र, डा0 अर्जुन दर्शन की मूल धाराएं, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1989.

* रहबर हंसराज. योद्धा संन्यासी विवेकानन्द, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरीगेट, दिल्ली, 1982.

* रोलां रोमां· विवेकानन्द, लोक भारती, प्रकाशन, 1968.

* विवेकानन्द , स्वामी विवेकानन्द साहित्य, अद्वैत आश्रम, डिही एण्टाली रोड, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, नवम्बर 1989, दस खण्ड।

* विवेकानन्द, स्वामी व्यावहारिक जीवन में वेदान्त, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1988

* विवेकानन्द, स्वामी शिक्षा, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1985

* विवेकानन्द, स्वामी: मेरे गुरूदेव, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1976

* विवेकानन्द जी की कथाएं, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1976

* विवेकानन्द, स्वामी भारत का ऐतिहासिक क्रमविकास एवं अन्य प्रबंध, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1985

* विवेकानन्द, स्वामी· महापुरूषो की जीवन गाथाएं, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1985

* विवेकानन्द स्वामी राजयोग, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1981

* विवेकानन्द स्वामी भक्तियोग, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1983

* विवेकानन्द , स्वामी सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1983

* शर्मा, ओम् प्रकाश स्वामी विवेकानन्द, साहित्य केन्द्र प्रकाशन, कृष्णानगर, दिल्ली, 1959

पत्रिकाएं

* विवेक शिखा: रामकृष्ण निलयम्, जय प्रकाश नगर , छपरा, बिहार 1988 से 1996

* विवेक-ज्योति रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, मध्यप्रदेश, 1970 से 1996

* प्रतियोगिता दर्पण, जुलाई, 1990

BIBLIOGRAPHY

* Arora, Vijay Kumar: The Social and Political philosophy of Swami Vivekanand, Calcutta.

* Avinashilingam; T.S.: The Educational Philosophy of Swami Vivekanand, Shri Ramkrishna Ashram , Madras, 1956.

* Avyaktananda: Swami Vivekananda, The National Builder, Ramkrishna Ashram, Patna, 1929.

* Belant, Annie: Karma, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1986.

* Besant, Annie: The Wisdon of the Upnishads, The theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1986.

* Besant, Annie: An Introduction to Yoga, The Theosophical Publishing House, Yadyar, Madras 1987.

* Besant Annie: Dharma, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1986.

* Besent Annie: The Laws of the Higher Life, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1985

* Besant, Annie: Death - And After? , The theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1991.

* Besant Annie: A Study in Consciousness, The theosophical Publishing House Adyarr Madras, 1987.

* Besant, Annie: Seven Great Religions, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1992.

* Besant Annie: Thought Powder, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras 1990.

* Besant, Annie: Theosophy and the Theosophical Society, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras 1985.

* Besant, Annie: The Universal Law of Life, Two addresses by Annie Besant given at the World Parliament of Religious , September, 1893. The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1993

* Besant Annie: The Necessily for Reincornation, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1984

* Besant, Annie: Beauties of Islam, The Theosophical [illegible] Adyar Madras, 1990.

Besant Annie: The Inner Government of the world. The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1976.

* Besant, Annie: The Masters, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1993.

* Besant, Annie: Occultism, Semi-Occultism and Pseudo-Occultism, The Theosophical Publishing House, Adyar Madras, 1994.

* Besant, Annie: An Autobiography, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1995.

* Besant, Annie: The Doctrine of the Heart, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1988.

* Besant, Annie: A study in Karma, The Thsosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1987.

* Besant, Annie: The Seven Principles of Man, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1994.

* Besant, Annie: Man and His Bodies, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1990

* Besant Annie: The Path of Discripleship, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1989

* Biswas, A.K.: Vivekanand an the Indian Guest for socialism, Firma KLM, Calcutta.

* Bose, Narayan: Social Thinking of Vivekanand, Literacy House, Lucknow, 1963.

* Buch, M.B.: A survey of Research in Education, Four Volumes, Baroda.

* Burke, Marie Louise: Swami Vivekanand in the West, New Discoveries, Advaita Ashram, Mayavati, 1956

* Chaudhary, Sanat Kumar Rai: Swami Vivekananda, The Man and His Mission, Scientific Book Agency, ca

* Das, Gupta, R.K.: Revolutionary Ideas of Swami Vivekananda, Ram Krishna Mission Institute of Culture, Calcutta.

* Das, Gupta, Santwana: Vivekananda, The Prophet of Human Emancipation, Calcutta, 1991.

* Das, Trilochan: Social Philosophy of Swami Vivekanand Cooperative Book, Depot, Calcutta, 1949.

* Dhar, Shailendra Nath: Acomprehensive Biography of Swami Vivekananda, Vivekananda Prakashan Kendra, Madras, 1975.

* Dutta, Bhupendra Nath: Swami Vivekanand, Patroit and Prophet, Navabharat Publishers, Calcutta, 1954.

* Eastern and Western Disciples: The Life of Swami Vivekananda, Advaita Ashram, Mayavati, 1961.

* Eastern and Western Admirers: Reminiscences of Swami Vivekananda. Advaita Ashram, Almora, 1961.

* Bambhirananda, Swami: Complete works of Swami Vivekananda, Ten Volumes, Advaita Ashram, Mayavati, Almora, 1959.

* Good, Carter V: Dictionary of Education, McGrawHill Book Company, New York, 1973.

* Ganguli, Manmohan: Swami Vivekananda, A Study, contemporary Publishers, Raja Rajballabha Street, Calcutta, 1962.

* Jinarajadasa, C.: A short Biography of Annie Besant, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1986.

* Jyotirmayananda, Swamı: Vıvekananda, Hıs Gospel of Man Makıng and a Chronıcal of lıfe and tımes, 'Studı" I.M.V. Naıdu Street Panchavati Chetput; Madras, 1986.

* Mahadevan, T.M.P.: Swamı Vivekananda and the Indıan Renaısance, Ramkrıshna Mıssıon Vidyalaya Teacher's College, P.O. Comibatore, 1967.

* Narayan, Surendra, : Annıe Besant on the Brotherhood of Relıgıons, The Theosophical Publıshıng House, Adyar, Madras, 1993.

* Nıvedita, Sister: The Master as IsawHim, Udbodhan Office, Calcutta, Sixth Edition, 1948.

* Ramkrıshna, R.: Swami Vivekananda, Awakener of Modern India, Ramkrishna Math, Maılapur, Madras, 1967.

* Ranganathananda, Swami: Swami Vivekananda's synthesis of science and Religion, Advaita Ashram, Calcutta.

* Ranganathananda, Swami: Swami Vivekananda and the Future of India, Ramkrishna Institute of Culture, Goal Park, Calcutta- 29, 1965.

* Rolla, Roma: Life of Swami Vivekananda and the Universal Gospel, Advaita Ashram, Mayavati, Almora, 1970.

* Rodriguez, Idarmis: Annie Besant on Right Citizenship, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1995.

* Shankar, Tarini: Patriot Saint Vivekananda, Ramkrishna Mission, Sevashram, Allahabad, 1963.

* Sharma, Venishankar: Swami Vivekananda, A Forgotten chapter of His Life, Oxford Book and Stationary Company, Calcutta, 1963.

* Stead, W.T.: Annie Besant, A character Sketch, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1993.

* Tejasananda , Swami: Swami Vivekananda and His Message, Ramkrishna Mission, Shardapeeth, Belur Math, Hawrah, 1965.

REPORTS AND PERIODICALS

* Challenge of Education: A Policy Perspective, Ministry of Education, Govt. of India, 1985.

* Education and National Development: Report of the Education Commission. New Delhi: Govt. of India, 1966.

* Frontline, August 24 to September 5, 1985.

* Future of Education in India: The publication Division, Govt. of India, 1954.

* Report of the University Education- Commission (Two volumes) New Delhi: Govt. of India: 1949.

* Report of the Secondary Education Commission.

* Purna Kumbha Mela, Prayag Commemorative Souvenir, Ramkrishna Mission Sevashrama, Allahabad, 1989.

* Prabuddha Bharat: A monthly Journal of the Ramkrishna Order, 5, Dehi Entally Road, Calcutta, January 1997 to March 1997.

* Tribute of Swami Vivekananda After A Hundred Year (1893-1993) Volume 1 to 4, Souvenir, Ramkrishna Mission Ashram, Patna.